सत्यानन्दग्रन्थमालायाश्चतुर्थ पुष्पम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीता
तत्तदधिकरणप्रदर्शकमहर्षिवेदव्यासप्रणीत-
ब्रह्मसूत्रैर्विभूषिता



वैयासिकन्यायमाला

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीस्वामि-सत्यानन्द-सरस्वती-कृत-भाषानुवादेन
टिप्पण्या च समलङ्कृता

प्रकाशक
श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम,
वाराणसी १ (भारत)

प्रथमावृत्ति २००० महाशिवरात्रि वि० २०२६

मूल्य ८ रुपये

प्राप्तिस्थान—१ गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी—१ (उ० प्र०)
२ स्वामी सूरतगिरि बङ्गला, कनखल (हरिद्वार)
३ मन्दिर पञ्चवक्त्र जम्मू-तवी (जम्मू-काश्मीर)



मुद्रक
सुधीर कुमार चतुर्वेदी
सुदर्शन मुद्रक
६३/४२ उत्तर बेनिया बाग, वाराणसी

॥ आमुख ॥

मानवधर्म तथा तत्वज्ञानका वेद ही उद्गमस्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिका सही साधन वेदमे ही उपलब्ध होता है। इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहारके अलौकिक उपायोका केन्द्र वेद ही है। प्रत्येक दार्शनिकने स्वमतको प्रमाणित करनेके लिए येन केन प्रकारेण वेदका ही सहारा लिया है। 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' (आप० परि ३१) (वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण) देवताविशेषकी स्तुतिमे प्रयुक्त होनेवाले अर्थस्मारक वाक्यको मन्त्र तथा यज्ञानुष्ठानादिका विस्तारपूर्वक वर्णक ग्रन्थको ब्राह्मण कहते हैं। मन्त्रसमुदायको संहिता भी कहते हैं। ऋक्, साम, यजु और अथर्व भेदसे संहिताएँ चार हैं। यह संहिता विभाग महर्षि वेदव्यासने यज्ञ आदि आवश्यकताओंको दृष्टिमें रखकर किया है। संहिता एवं ब्राह्मणात्मक वेदके अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। जिनमें अध्यात्मविषयक गम्भीर विवेचन है।

विषयकी दृष्टिसे वेदके तीन भाग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकोमे प्रधानतया कर्मादिका प्रतिपादन होनेसे उनका कर्म और उपासनामें अन्तर्भाव है। प्रधानतया ज्ञानका विवेचन करनेके कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीयदर्शनके मूल सिद्धान्त उपनिषदोमें ही प्रतिपादित हैं। कर्मादि प्रधान होनेपर भी संहिता आदिमे विपुल अध्यात्म रहस्य उपलब्ध होता है। उपनिषद् प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत प्रथम प्रस्थानके रूपमे गृहीत किये गये हैं। 'ऋचा मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डं मुण्डं नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरश्छित्वा कुरुते कबन्धम्।' (जो ऋग्वेदकी मूर्धा, यजुर्वेदके उत्तमाङ्ग, सामवेदके सिर और अथर्ववेदके मस्तकरूप उपनिषदोका अध्ययन न कर शेष वेद भागका अध्ययन करता है उसे श्रेष्ठ पुरुष अज्ञानी कहते हैं वह वेदका शिरश्छेदन कर उन्हे बिना सिरका धड़ [कबन्ध] बनाता है) इनमे ११ उपनिषद् बड़े महत्त्वके हैं। इनपर आचार्य शङ्करका भाष्य तथा उनके अनुयायी विद्वानो की व्याख्याएँ हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक तो एक ऐसी रणस्थली हैं जहाँ भाष्यकारकी लोह लेखनीने खुलकर अपनी अजेय शक्तिका परिचय दिया है। भर्तृप्रपञ्च जैसे जरठ वेदान्तियोकी खूब खबर ली है। आचार्य शङ्करके इन दोनो उपनिषदोके भाष्यका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है। तृतीय प्रस्थान महर्षि बादरायण—व्यास प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' है। जिसमे आपाततः विरोधी उपनिषद् वाक्योका समन्वय एकमात्र अद्वितीय ब्रह्ममें दिखलाया गया है तथा अन्य तार्किक युक्तियोका खण्डन किया गया है।

ब्रह्मसूत्रकी रचनाका हेतु—कालान्तरमें औपनिषद सिद्धान्तोंमें आपाततः विरोध प्रतीत होने लगा उसका परिहार करने तथा एकवाक्यता स्थापित करनेके उद्देश्यसे भगवान् बादरायणमुनिने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की। यह स्वल्प कलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त-सिद्धान्तोंका आकर है। समस्त उपनिषदोंका सूत्रोंद्वारा ब्रह्ममें समन्वय होनेसे इस ग्रन्थका नाम ब्रह्मसूत्र है। इसीको वेदान्तदर्शन और शारीरक-मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्तदर्शन भारतीय अध्यात्मदर्शनका मुकुटमणि है। महर्षि पाणिनिने पाराशर्यभिक्षु सूत्रोंके नामसे उसका उल्लेख किया है और 'ब्रह्मसूत्रपदैश्च' (भ० गी० १३।४) यह गीता वचन भी इन ब्रह्मसूत्रोंका ही निर्देश करता है। इससे ब्रह्मसूत्रकी रचना प्राचीन सिद्ध होती है।

ब्रह्मसूत्रके प्रसिद्ध भाष्यकार

नाम	भाष्य-नाम	मत	नाम	भाष्य नाम	मत
१. शङ्कर	शारीरकभाष्य	केवलाद्वैत	६. श्रीकण्ठ	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
२. भास्कर	भास्करभाष्य	भेदाभेद	७. श्रीपति	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
३. रामानुज	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत	८. वल्लभ	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
४. मध्व	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत	९. विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
५. निम्बार्क	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत	१०. बलदेव	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद

इन सभी भाष्योंमें भगवान् आद्य शङ्कराचार्य विरचित भाष्यकी कोई तुलना नहीं कर सकता, विद्वत्ता पूर्ण इस भाष्यरचनासे प्राच्य-प्रतीच्य सभी विद्वान् समानरूपसे प्रभावित हैं और मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं। शाङ्कर मतानुसार सूत्रों और अधिकरणोंकी संख्या क्रमशः ५५५ और १९१ है।

ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। प्रथमाध्यायका नाम समन्वयाध्याय है। जिसमें समग्र वेदान्त-वाक्योंका साक्षात् परम्परासे प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यसे समन्वय दिखलाया गया है। द्वितीयाध्यायका नाम अविरोधाध्याय है। जिसमें स्मृति और तर्कादिसे संभावित विरोधोंका परिहार कर ब्रह्ममें अविरोध दिखलाया गया है। प्रथम दोनों पादोंमें भगवान् बादरायण मुनि और भगवान् आचार्य शङ्करने जिन व्यापक तथा अकाट्य युक्तियोंसे प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्तकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, वह विद्वानोंके आदरका विषय है। तृतीयाध्यायका नाम साधनाध्याय है। जिसमें वेदान्त सम्मत सर्व साधनोंका विचार है। इसमें जीवके परलोक गमन द्वारा वैराग्यका निरूपण, 'तत्, त्वम्' पदार्थ परिशोधन, निर्गुण-ब्रह्ममें भिन्न भिन्न शाखाओंमें पठित पुनरुक्त पदोंका उपसंहार है, प्रसङ्गतः सगुणविद्यामें शाखान्तरीय गुणोंका उपसंहार और अनुपसंहार निरूपित है और निर्गुण ब्रह्मविद्यामें बहिरङ्ग साधन-यज्ञ, दानादि आश्रम कर्म और अन्तरङ्ग साधन—शम-दम, निदिध्यासन

आदिका निरूपण है। चतुर्थाध्याय-फलाध्यायमें सगुण और निर्गुणविद्याके फलविशेषका साङ्गोपाङ्ग निरूपण तथा जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, जीवकी उत्क्रान्ति,पितृयाण, देवयान-मार्ग और सगुण ब्रह्मकी उपासनाके फलोंमें तारतम्यविषयक विचार है।

ब्रह्मसूत्रके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि बादरायण मुनिसे भी पूर्वकालमें अनेक आचार्योंने वेदान्ततत्त्वकी मीमांसा की है। परन्तु उन आचार्योंकी वे कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। जैसे— (१) आत्रेय, इनका नाम एक बार (ब्रह्मसूत्र ३।४।४४) में निर्दिष्ट है। (२) आश्मरथ्य—इनका निर्देश दो बार (ब्रह्मसूत्र १।२।२६, १।४।२०) में मिलता है। इनके मतमें जीवात्मा तथा परमात्मामें भेदाभेद सम्बन्ध है। ये भेदाभेदवादी थे। (३) औडुलोमि—इनका निर्देश तीन बार (ब्रह्मसूत्र १।४।२, ३।४।४५, ४।४।६) में है। इनके मतमें अवस्था भेदसे भेदाभेद है—संसारदशामें जीव और ब्रह्मका भेद और मोक्षदशामें अभेद है। (४) कार्ष्णाजिनि—इनका नाम निर्देश (ब्रह्मसूत्र ३।१।६) में एक बार आया है। ब्रह्मसूत्रमें 'रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत है। (५) काशकृत्स्न—(ब्रह्मसूत्र १।४।२२) इनमें परमेश्वर ही संसारमें जीवरूपसे अवस्थित है। जीव परमात्माका विकार नहीं है। आचार्य शङ्करके शब्दोंमें इनका मत श्रुत्युनुसारी है, अतएव वह मान्य है। (६) जैमिनि—इनका नाम ब्रह्म-सूत्रमें ११ बार आया है। ये बादरायण मुनिके साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। ये मीमांसा दर्शनके रचयिता हैं। (७) बादरि-पराशर—इनका उल्लेख (ब्रह्म-सूत्र १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) में चार बार आया है।

अद्वैतवेदान्तका मूलसिद्धान्त है प्रत्यगभिन्न ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्ता और अनेकात्मक जगत्की मायिकता। आत्मा अनुभूतिस्वरूप होनेसे स्वयंसिद्ध है। इस विषयमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

जीवब्रह्मकी एकता—लोकप्रसिद्ध जीव ब्रह्मका भेद पारमार्थिक नहीं प्रत्युत औपाधिक है। जीवब्रह्मैक्य वेदान्तसिद्धान्त 'अहं ब्रह्मास्मि' 'स आत्मा तत्त्वमसि' 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्यामहम्' (ऋक्० ८।४४।२३) आदि श्रुतिवाक्योंमें प्रति-पादित है। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।४।२) (जीव-रूपसे इनमें अनुप्रवेशकर मैं नाम-रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मका ही जीवरूपसे व्यपदेश है। एकमेवाद्वितीयम्' 'नान्योऽतो-ऽस्ति द्रष्टा' 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पु० सू० २) 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिवाक्य भेदका अपवाद करते हैं। अतः उपाधि रहित जीव ब्रह्म ही है। इसी श्रुति सम्मत सिद्धान्तका ही भगवान्

आद्य शङ्कराचार्यने महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्रोंपर किये अपने भाष्यमें सरल एवं गम्भीररूपसे प्रतिपादन किया है। उसी शाङ्करभाष्यको ही आधार-शिला बनाकर श्री भारतीतीर्थमुनिने 'वैयासिकन्यायमाला' ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ सरल सुबोध संस्कृत भाषामें है। विषयके आधारपर ब्रह्मसूत्र चार अध्याय, १६ पाद और कई अधिकरणोंमें विभाजित हैं। व्यासकृत न्याय-अधिकरणोंकी माला होनेके कारण इस ग्रन्थका नाम 'वैयासिकन्यायमाला' है।

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं संगतिश्च प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः' ॥
विषयः सन्देहः संगतिः पूर्वपक्षः सिद्धान्त इत्येवेकैमधिकरणं पञ्चावयवं ज्ञेयम् ॥

'विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त प्रयोजन और संगति इस प्रकार विद्वान् लोग इसे अधिकरणरूपसे जानते हैं। कोई इसे पञ्चावयव भी कहते हैं।' यह अधिकरणका लक्षण है। प्रत्येक अधिकरणका श्री भारतीतीर्थमुनिने दो-दो श्लोकोंमें सारगर्भित उपरोक्त अर्थका प्रतिपादन किया है, स्वयं ही उन श्लोकोंकी ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यके अनुसार सरल एवं सुबोध संस्कृतभाषामें व्याख्याकर वेदान्त-प्रेमियोंका महान् उपकार किया है। वह व्याख्या संस्कृतमें है, अतः सर्वसाधारणको समझमें आना कठिन है, कोमल-बुद्धिवाले वेदान्त-प्रेमियोंको उसका अनायास बोध हो, इसके लिए 'समादरणीय साहित्याचार्य पं० श्री श्रीकृष्णपन्त अध्यक्ष व सम्पादक अच्युतग्रन्थमाला वाराणसी' के सप्रेम अनुरोधपर इस ग्रन्थरत्नपर राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा टिप्पणीकर इसे सरल व सुबोध किया गया है। आशा ही नहीं विश्वास है कि इससे पाठकगण अधिक लाभ उठायेंगे।

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यपर राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा भाष्यार्थको अतिस्पष्ट करनेके लिए अनेक दर्शनों व टीकाग्रन्थोंके आधारपर 'सत्यानन्दीदीपिका' व्याख्या लिखी गई है। जो विद्वत् प्रिय है, वह छात्र और वेदान्तप्रेमियोंके लिए तो अत्यन्त उपयोगी है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

—स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

वैयासिकन्यायमालाया अधिकरणानुक्रमणिका

समाप्तेयं वैयासिकन्यायमालाधिकरणानुक्रमणिका ।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीता

वैयासिकन्यायमाला

स्वामि-सत्यानन्द-सरस्वती-

कृत-

भाषानुवाद-सहिता ।

अथोपोद्घातः

प्रारिप्सितग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तये प्रचयगमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च विशिष्टेष्टदेवतातत्त्वं गुरुमूर्त्युपाधियुक्तं नमस्कृत्य ग्रन्थं प्रतिजानीते—

प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् ।
वैयासिकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम् ॥ १ ॥

मीमांसयेत्यभिधयोत्तरया प्रसिद्धं श्रीबादरायणमहर्षिविनिर्मितं यत् ।
मोहान्धकारविलयोष्णमभस्तिरूपं विद्योतते तदमलं निगमान्तशास्त्रम् ॥१॥
साक्षादथ क्रमपरम्परया समस्तवेदान्तवाक्यनिवहस्य समन्वितत्वम् ।
प्रत्यग्द्वितीयरहितात्मनि पूर्ववत्यध्याये प्रदर्शितमसंशयतत्परत्वम् ॥२॥
जाते समन्वयविधौ दृशि संगरीणसद्ब्रह्मणि स्मृतिवितर्कविरोधजातम् ।
आशङ्क्य तत्परिहृतिं सृजता द्वितीयाध्याये विरोधरहितत्वमदर्शि पूर्णम् ॥३॥
वैराग्यबोधनमनूद्य च तत्त्वमर्थौ संशोध्य सम्यगविकारिचिदात्मविद्या-
बाह्याङ्गजातमवबोध्य लसत्तृतीयाध्यायेऽन्तरङ्गशममुख्यविधिर्न्यरूपि ॥४॥

प्रारम्भके विषयीभूत ग्रन्थके निर्विघ्न परिसमाप्ति, विस्तार प्राप्ति और शिष्टाचार परिपालनके लिए गुरुमूर्ति उपाधियुक्त विशिष्ट इष्ट देवता स्वरूपको नमस्कारकर इस ग्रन्थके आरम्भकी प्रतिज्ञा की जाती है ।

श्रीविद्यातीर्थरूपी परमात्माको प्रणामकर व्यास उक्त न्यायमालाका श्लोकोंद्वारा स्पष्ट संग्रह किया जाता है ॥ १ ॥

प्रणम्येति—व्यासेनोक्ता वैयासिकी वेदान्तवाक्यार्थनिर्णायकान्यधिकरणानि न्याया, तेषामनुक्रमेण ग्रन्थन माला। यद्यप्येषा सूत्रभाष्यकारादिभि प्रपञ्चिता, तथाऽपि सूत्रादीनामतिप्राज्ञविषयत्वान्मन्दबुद्धयनुग्रहाय श्लोकैरेषा माला स्फुटं संगृह्यते ॥ १ ॥

तत्रैकैकमधिकरण पञ्चावयवम्। विषय संदेह संगतिः पूर्वपक्ष सिद्धान्त श्चेति पञ्चावयवा। तेषा संग्रहप्रकारं दर्शयति—

एको विषयसदेहपूर्वपक्षावभासक ।
श्लोकोऽपरस्तु सिद्धान्तवादी संगतय स्फुटा ॥२॥

तत्रैकैकस्याधिकरणस्य सग्राहको द्वौ द्वौ श्लोकौ तयोराद्यश्लोकस्य पूर्वार्धेन द्वावयवौ सगृह्येते। उत्तरार्धेनैक। द्वितीयश्लोकेन चैक। यद्यपि संगत्याख्य एकोऽवयव शिष्यते, तथाऽपि प्रत्यधिकरण न पृथक्संग्रहीतव्यो भवति। सकृद्व्युत्पन्नस्य पुरुषस्य स्वयमेवोहितु शक्यत्वात् ॥ २ ॥

साक्षाद्विधाय सगुणप्रतिपत्तिवृत्त्यावृत्त्या च निर्गुणचितिं श्रवणादिबीजैः।
पापादिलेपरहिता कथिता चतुर्थेऽध्याये जनस्य शुभजीवितमुक्तिरग्र्या ॥५॥
शारीरकमीमासाधिकरणमालस्य या शुभा विवृति ।
जिज्ञासुप्रमदार्थं रचिता योगीन्द्रभारतीमुनिना ॥६॥
तस्या सुखावबुध्यै भाषामाश्रित्य राष्ट्रसम्मान्याम् ।
व्याख्या तनोति विशदा सत्यानन्द सरस्वती विमलाम् ॥७॥

प्रणम्येति—आचार्य व्यासमे उक्त होनेसे इसका नाम वैयासिकी है, वेदान्त (उपनिषद्) वाक्यार्थ निर्णायक अधिकरणोका नाम न्याय है। उनका क्रमसे ग्रन्थन ही माला है। यद्यपि इसका सूत्र और भाष्यकार आदिके द्वारा विस्तार किया गया है, तो भी सूत्र आदि विशिष्टबुद्धि पुरुषके विषय हैं। अत मन्दबुद्धि पुरुषपर अनुग्रह करनेके लिए श्लोकोद्वारा इस मालाका स्पष्ट सग्रह किया जाता है ॥ १ ॥

इनमे से एक-एक अधिकरण पाच अवयववाला है—यथा विषय, सन्देह सगति पूर्वपक्ष और सिद्धान्त यह पाच अवयव हैं। उनके सग्रह प्रकारको दिखलाते हैं।

प्रत्येक अधिकरणके सग्राहक दो-दो श्लोक हैं। उनमेसे एक श्लोक विषय, सन्देह और पूर्वपक्षका अवभासक है और दूसरा श्लोक तो सिद्धान्तवादी है, शेष सगतियाँ तो स्पष्ट हैं ॥ २ ॥

उस न्यायमालामें एक-एक अधिकरणके सग्राहक दो-दो श्लोक हैं। उनमेसे आद्य श्लोकके पूर्वार्धसे विषय और सन्देह दो अवयव सग्रह किये जाते हैं। उत्तरार्ध श्लोकसे

संगतिं विभज्य व्युत्पादयति—

शास्त्रेऽध्याये तथा पादे न्यायसंगतयस्त्रिधा
शास्त्रादिविषये ज्ञाते तत्तत्संगतिरूह्यताम् ॥३॥

शास्त्रप्रतिपाद्यम्, अध्यायप्रतिपाद्यम्, पादप्रतिपाद्यं चार्थमवगम्य शास्त्रसंगतिरध्यायसंगतिः पादसंगतिश्चेति तिस्रः संगतय ऊहितुं शक्यन्ते ॥ ३ ॥

शास्त्रप्रतिपाद्यम्, अध्यायप्रतिपाद्यं च दर्शयति—

शास्त्रं ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधाः।
समन्वयाविरोधौ द्वौ साधनं च फलं तथा ॥ ४ ॥

सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्येण पर्यवसानं प्रथमेनाध्यायेन प्रतिपाद्यते। द्वितीयेन संभावितविरोधः परिह्रियते। तृतीयेन विद्यासाधननिर्णयः। चतुर्थेन विद्याफलनिर्णयः। इत्येतेऽध्यायानामर्थाः ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम्।
ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ॥ ५ ॥

पूर्वपक्ष एक अवयव, दूसरे श्लोकसे सिद्धान्त एक अवयव। यद्यपि संगति नामक एक अवयव शेष रह जाता है, तो भी प्रत्यधिकरण पृथक् संग्रहीतव्य नहीं होता। एक बार व्युत्पन्न पुरुष स्वयं ही समझ सकता है ॥ २ ॥

संगतिका विभागकर व्युत्पादन करते हैं—

शास्त्रविषयक, अध्यायविषयक तथा पादविषयक न्यायसंगति तीन प्रकारकी हैं। शास्त्र आदि विषय ज्ञात होनेपर तत्, तत् संगतिकी कल्पना करनी चाहिए ॥ ३ ॥

शास्त्रप्रतिपाद्य, अध्यायप्रतिपाद्य तथा पादप्रतिपाद्य अर्थको जानकर शास्त्र-संगति, अध्यायसंगति तथा पादसंगति इस प्रकार तीन संगतियोंकी कल्पना की जा सकती है ॥३॥

शास्त्रप्रतिपाद्य और अध्यायप्रतिपाद्य दिखलाते हैं—

ब्रह्म विचार नामक यह शास्त्र है, जिसमें चार प्रकारके अध्याय हैं। समन्वय-अध्याय, विरोध परिहार अध्याय ये दो, साधन अध्याय और फल अध्याय ये दो इस प्रकार चार अध्याय है ॥ ४ ॥

सब वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें ही तात्पर्यसे पर्यवसान है, यह प्रथम अध्यायसे प्रतिपादन किया जाता है। दूसरे अध्यायसे अन्य मतोंद्वारा संभावित विरोधोंका परिहार किया गया है। तीसरेसे विद्याके साधनोंका निर्णय है और चतुर्थसे विद्याके फलका निर्णय। ये अध्यायोंके प्रतिपाद्य अर्थ (प्रयोजन) हैं ॥ ४ ॥

स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तं वाक्यजातं प्रथमपादे चिन्त्यम्। तद्यथा—"अन्तरस्तद्धर्मोपदेशात्" [ब्र० सू० १।१।२०] इत्यत्र सार्वज्ञ्यसार्वात्म्यसर्वपापविरहादिकं ब्रह्मणोऽसाधारणतया स्पष्टं लिङ्गम्। अस्पष्टब्रह्मलिङ्गत्वे सत्युपास्यविषयवाक्यजातं द्वितीयपादे चिन्त्यम्। तद्यथा-प्रथमाधिकरणविषये शाण्डिल्योपास्तिवाक्ये मनोमयत्वप्राणशरीरत्वादिकं सोपाधिकब्रह्मणो जीवस्य च साधारणत्वादस्पष्टं ब्रह्मलिङ्गम्। तृतीयपादे त्वस्पष्टलिङ्गत्वे सति ज्ञेयब्रह्मविषयं वाक्यजातं चिन्त्यम्। तद्यथा—प्रथमाधिकरणे मुण्डकगतब्रह्मात्मतत्त्ववाक्ये द्युपृथिव्यन्तरिक्षप्रोतत्वं सूत्रात्मनः परब्रह्मणश्च साधारणत्वादस्पष्टं ब्रह्मलिङ्गम्। यद्यपि द्वितीयपादे कठवल्ल्यादिगतब्रह्मतत्त्ववाक्यानि विचारितानि, तृतीयपादे च दहरोपासनवाक्यं विचारितं तथाऽप्यवान्तरसंगतिलोभेन तद्विचारस्य प्रासङ्गिकत्वान्न पादार्थयोः साङ्कर्यापत्तिः। इत्थं पादत्रयेण वाक्यविचारः समापितः। चतुर्थपादेनाव्यक्ताजादिपदं चेत्येवमादि संदिग्धं पदं चिन्त्यम् ॥ ५ ॥

अब प्रथम अध्यायगत अर्थोंका विभाग करते हैं—

समन्वय अध्यायके प्रथम पादमें स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग युक्त वाक्योंका विचार है। अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गके होनेपर भी उपास्यगत वाक्योंका दूसरे पादमें विचार है। तृतीय पादमें अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक वाक्योंका ज्ञेय ब्रह्ममें विचार है। चतुर्थ पादमें अव्यक्त पद अजा पद विषयक विचार है। इस प्रकार चारों पादोंमें अनुक्रमसे विचार किया गया है ॥५॥

स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग युक्त वाक्यसमुदायका प्रथम पादमें विचार है। जैसे—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इसमें सर्वज्ञत्व-सर्वात्मत्व-सर्वपापरहितत्व आदि ब्रह्मका असाधारणरूपसे स्पष्ट लिङ्ग है। अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग होनेपर उपास्यविषयक वाक्यसमुदायका दूसरे पादमें विचार है। जैसे—प्रथमाधिकरणके विषय-शाण्डिल्य उपास्तिवाक्यमें मनोमयत्व, प्राणशरीरत्व आदि सोपाधिक ब्रह्म और जीवके साधारण धर्म होनेसे अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग है। तृतीयपादमें अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग (ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग होनेपर भी) होनेपर ज्ञेय ब्रह्म विषयक वाक्य समुदायका विचार है। जैसे—प्रथमाधिकरणमें 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः' (मुण्ड० २।२।५) इस मुण्डकगत ब्रह्मात्मतत्त्व वाक्यमें सूत्ररूप हिरण्यगर्भ और परब्रह्मका साधारण होनेसे अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग है। यद्यपि द्वितीयपादमें कठवल्लीगत ब्रह्मतत्त्व विषयक वाक्योंका विचार किया गया है, और तृतीयपादमें दहरोपासनवाक्यका विचार किया गया है, तो भी अवान्तरसंगतिके लोभसे उनका विचार प्रासङ्गिक होनेसे पदार्थोंकी

द्वितीयाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता।
भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥ ६ ॥

प्रथमपादे—साङ्ख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च विरोधो वेदान्तसमन्वयस्य परिहृतः। द्वितीयपादे—साङ्ख्यादिमतानां दुष्टत्वं दर्शितम्। तृतीयपादे—पूर्वभागेन पञ्चमहाभूतश्रुतीनां परस्परविरोधः परिहृतः। उत्तरभागेन जीवश्रुतीनाम्। चतुर्थपादे–लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः ॥ ६ ॥

तृतीयाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

तृतीये विरतिस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम्।
गुणोपसंहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥ ७ ॥

प्रथमपादे—जीवस्य परलोकगमनागमने विचार्य वैराग्यं निरूपितम्। द्वितीयपादे—पूर्वभागेन त्वंपदार्थः शोधितः। उत्तरभागेन तत्पदार्थः। तृतीयपादे–सगुणविद्यासु गुणोपसंहारो निरूपितः। निर्गुणे ब्रह्मण्यपुनरुक्तपदोपसंहारश्च।

साकर्य प्राप्त नहीं है। इस प्रकार तीन पादोंमें वाक्योंका विचार समाप्त हो गया। और चतुर्थपादमें *अव्यक्त पद अजा पद इत्यादि संदिग्ध पद भी विचार करने योग्य है ॥५॥*

द्वितीयाध्यायगत पदार्थोंका विभाग करते हैं—

द्वितीयाध्यायमें स्मृति एवं तर्कसे वेदान्त समन्वयपर वादियोंद्वारा किये गये विरोधों का परिहार, अन्य मतोंकी दुष्टता-अप्रामाणिकता और भूतश्रुति, भोक्तृश्रुति एवं लिङ्गश्रुतिका अविरोध प्रतिपादित है ॥ ६ ॥

प्रथमपादमें साङ्ख्य, योग, काणाद स्मृति और साङ्ख्यादिसे प्रयुक्त तर्कोंद्वारा किये गये वेदान्त समन्वयपर विरोधोंका परिहार किया गया है। द्वितीयपादमें साङ्ख्यादि-मत दुष्ट—अप्रामाणिक हैं दिखलाया है। तृतीयपादमें पूर्वभागसे पाँच महाभूत श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया गया है और उत्तरभागसे जीवश्रुति विषयक विरोधका। चतुर्थपादमें लिङ्गश्रुतियोंका विरोध परिहार किया गया है ॥ ६ ॥

तृतीयाध्यायगत पदार्थोंका विभाग करते हैं—

तृतीय साधन अध्यायमें वैराग्य निरूपण 'तत् त्वम्' पदार्थोंका परिशोधन परापर ब्रह्मविद्याके गुणोंका उपसंहार तत्त्वज्ञानमें शमादि अन्तरङ्ग और यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधनोंका विचार है ॥ ७ ॥

प्रथमपादमें जीवके परलोक गमनागमन विषयक विचारकर वैराग्यका निरूपण किया गया है। द्वितीयपादके पूर्वभागसे 'त्वं' पदार्थ और उत्तरभागसे 'तत्'

चतुर्थपादे च—निर्गुणज्ञानस्य बहिरङ्गसाधनभूतान्याश्रमयज्ञादीनि, अन्तरङ्गसाधनभूतशमदमनिदिध्यासनादीनि च निरूपितानि ॥ ७ ॥

चतुर्थाध्यायगतपादार्थान्विभजते—

चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तेर्गतिरुत्तरा।
ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकाविति पादार्थसंग्रहः ॥ ८ ॥

प्रथमपादे—श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यलेपविनाशलक्षणा मुक्तिरभिहिता। द्वितीयपादे—म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारो निरूपितः। तृतीयपादे–सगुणविदो मृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः। चतुर्थपादे—पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरभिहिता। उत्तरभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिर्निरूपिता। एवं पादार्थाः संगृहीताः ॥ ८ ॥

सन्त्वेवं शास्त्राध्यायपादप्रतिपाद्या अर्थाः किं तत इत्यत आह—

ऊहित्वा संगतीरस्तिस्तथाऽवान्तरसंगतीः।
ऊहेदाक्षेपदृष्टान्तप्रत्युदाहरणादिकाः ॥ ९ ॥

पदार्थका शोधन किया गया है। तृतीयपादमें—सगुण विद्याओंमें गुणोंके उपसंहार और निर्गुण ब्रह्ममें अपुनरुक्त पदोंका उपसंहार निरूपित है। और चतुर्थपादमें निर्गुण ब्रह्मज्ञानके बहिरङ्गसाधनभूत यज्ञादि आश्रमकर्म और अन्तरङ्ग साधनभूत शम, दम, निदिध्यासन आदि निरूपित हैं ॥ ७ ॥

चतुर्थाध्यायगत पदार्थोंका विभाग करते हैं—

चतुर्थाध्यायमें ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर जीवितावस्थामें मुक्ति, उपासकका मरणानन्तर उत्तरमार्गसे गमन, निर्गुण ब्रह्मवित्को ब्रह्मप्राप्ति और सगुणोपासककी ब्रह्मलोक प्राप्तिका निरूपण है इस प्रकार पदार्थोंका संग्रह है ॥ ८ ॥

प्रथमपादमें श्रवण आदिकी आवृत्तिसे निर्गुण ब्रह्म व उपासनासे सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार कर जीवितावस्थामें पापपुण्य लेपकी विनाशरूप मुक्ति कही गई है। द्वितीयपादमें म्रियमाणका उत्क्रान्ति प्रकार निरूपित है। तृतीयपादमें मृत सगुणोपासकका उत्तरमार्ग प्रतिपादित है। चतुर्थपादमें—पूर्वभागसे निर्गुण ब्रह्मवित्की विदेह कैवल्य प्राप्ति कही गई है और उत्तरभागसे सगुण ब्रह्मोपासककी ब्रह्मलोकमें स्थिति निरूपित है इस प्रकार पदार्थोंका संग्रह किया गया है ॥ ८ ॥

शास्त्रके अध्याय एवं पादोंसे प्रतिपाद्य अर्थ भले ऐसे हों, किन्तु इससे क्या? इसपर कहते हैं—

तद्यथा—ईक्षत्यधिकरणे—'तदैक्षत' इति वाक्यं प्रधानपरं ब्रह्मपरं वा, इति विचार्यते। तस्य विचारस्य ब्रह्मसंबन्धित्वाद्ब्रह्मविचारशास्त्रसंगतिः। 'वाक्यं ब्रह्मणि तात्पर्यवत्' इति निर्णयात्समन्वयाध्यायसंगतिः। ईक्षणस्य चेतने ब्रह्मण्यसाधारणत्वेन स्पष्टब्रह्मलिङ्गत्वात्प्रथमपादसंगतिः। एवं सर्वेष्वप्यधिकरणेषु यथायथं संगतित्रयमूहनीयम्। अवान्तरसंगतिस्त्वनेकधा भिद्यते—आक्षेपसंगतिर्दृष्टान्तसंगतिः प्रत्युदाहरणसंगतिः प्रासङ्गिकसंगतिरित्येवमादिः ॥९॥

सेयमवान्तरसंगतिर्व्युत्पत्त्यैवोहितुं शक्यते। अतस्तां व्युत्पादयति—

पूर्वन्यायस्य सिद्धान्तयुक्तिं वीक्ष्य परे नये।
पूर्वपक्षस्य युक्तिं च तत्राऽऽक्षेपादि योजयेत् ॥ १० ॥

तद्यथा प्रथमाधिकरणे 'ब्रह्मविचारशास्त्रमारम्भणीयम्' इति सिद्धान्तः। तत्र युक्तिः—'ब्रह्मणः संदिग्धत्वात्' इति। द्वितीयाधिकरणस्य 'जगज्जन्मादि ब्रह्मलक्षणं न भवति' इति पूर्वपक्ष.। तत्र युक्तिः—'जन्मादेर्जगन्निष्ठत्वात्' इति। तदुभयमवलोक्य तयोराक्षेपसंगतिं योजयेत्। 'संदिग्धत्वाद्ब्रह्म विचार्यम्'

मुख्य तीन सगतियोका विचारकर तथा आक्षेप, दृष्टान्त, प्रत्युदाहरण आदि अवान्तर सगतियोका विचार करना चाहिए ॥ ९ ॥

जैसे कि ईक्षति अधिकरणमें 'तदैक्षत' (उस ब्रह्मने ईक्षण किया) यह वाक्य प्रधान परक है या ब्रह्मपरक ? यह विचार किया जाता है। यह विचार ब्रह्म सम्बन्धी होनेसे ब्रह्म विचार शास्त्र सगति है। 'वाक्यं ब्रह्मणि तात्पर्यवत्' (यह वाक्य ब्रह्ममें तात्पर्य वाला है) इस निर्णयसे समन्वयाध्यायकी सगति है। ईक्षण चेतन ब्रह्ममें असाधारण होनेसे स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग है, अतः प्रथम पाद सगति है। इस प्रकार सभी अधिकरणोंमें भी यथायथ तीन सगतियोका विचार करना चाहिए। अवान्तर सगतिका तो अनेक प्रकारका भेद है—आक्षेपसगति, दृष्टान्तसगति, प्रत्युदाहरणसगति इत्यादि। इस अवान्तर सगतिका व्युत्पत्तद्वारा ही विचार किया जा सकता है, अतः उसका व्युत्पादन किया जाता है ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणमें सिद्धान्तयुक्तिको देखकर दूसरे अधिकरणमें पूर्वपक्षकी युक्तिको देख उसमें आक्षेप आदिकी योजना करनी चाहिए ॥ १० ॥

जैसे कि प्रथम अधिकरणमें ब्रह्मविचार रूप शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए। यह सिद्धान्त है उसमें युक्ति दी गई है, ब्रह्म सदिग्ध है। द्वितीय अधिकरणका 'जगजन्मादि' ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता है, यह पूर्वपक्ष है, उसमे युक्ति है—जन्मादि जगत्के हैं, उन दोनोको देखकर उनमें आक्षेप सगतिकी योजना करनी चाहिए। सदिग्ध होनेके कारण ब्रह्मका विचार करना चाहिए। यह युक्त नहीं है। जन्मादि अन्य-जगत्

इत्येतदयुक्तम् । जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेन ब्रह्मणो लक्षणाभावे सति ब्रह्मैव नास्ति । कुतस्तस्य संदिग्धत्वं विचार्यत्वं चेत्याक्षेपसंगतिः । दृष्टान्तप्रत्युदाहरणसंगती चात्र योजयितुं शक्यते । 'यथा संदिग्धत्वेन हेतुना ब्रह्मणो विचार्यत्वम्, तथा जन्माद्यन्यनिष्ठत्वेन हेतुना ब्रह्मणो लक्षणं नास्ति' इति दृष्टान्तसंगतिः । 'यथा विचार्यत्वे हेतुरस्ति, न तथा लक्षणसद्भावे हेतुं पश्यामः' इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । ते एते दृष्टान्तप्रत्युदाहरणसंगती सर्वत्र सुलभे । पूर्वाधिकरणसिद्धान्तवदुत्तराधिकरणपूर्वपक्षे हेतुमत्त्वसाम्यस्य, उत्तराधिकरणसिद्धान्ते हेतुशून्यत्ववैलक्षण्यस्य च मन्देरप्युत्प्रेक्षितुं शक्यत्वात् । आक्षेपसंगतिर्यथायोगमुन्नेया । अथ प्रासङ्गिकसंगतिरुदाह्रियते—देवताधिकरणस्याधिकारविचाररूपत्वात्समन्वयाध्याये ज्ञेयब्रह्मवाक्यविषये तृतीयपादे च संगत्यभावेऽपि बुद्धिस्थावान्तरसंगतिरस्ति । तथा हि—पूर्वाधिकरणे 'अङ्गुष्ठमात्रवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वादङ्गुष्ठमात्रत्वं ब्रह्मणो मनुष्यहृदयापेक्षम्, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य, इत्युक्तम् । तत्प्रसङ्गेन देवताधिकारो बुद्धिस्थः । सेयं प्रासङ्गिकसंगतिः । तदेवं न्यायसंगतिर्निरूपिता ॥ १० ॥

निष्ठ हैं । इसलिए वे ब्रह्मके लक्षण नहीं हो सकते, ऐसी स्थितिमें जब ब्रह्म ही नहीं है, तब उसकी संदिग्धता तथा विचार्यता कैसी ? यह आक्षेप संगति है । दृष्टान्त संगति और प्रत्युदाहरण संगतिकी भी यहाँ योजना हो सकती है । जैसे संदिग्धत्वरूप हेतुसे ब्रह्मका विचार्यत्व है, वैसे जन्मादिके अन्यनिष्ठत्वरूप हेतुसे वे ब्रह्मके लक्षण नहीं हैं । यह दृष्टान्त संगति है । जैसे विचार्यत्वमें हेतु है ? वैसे ब्रह्मलक्षणके अस्तित्वमें हेतुको नहीं देखते हैं, यह प्रत्युदाहरण संगति है । ये दोनों दृष्टान्तसंगति और प्रत्युदाहरणसंगति सर्वत्र सुलभ हैं । पूर्वाधिकरण सिद्धान्तके समान उत्तराधिकरण पूर्वपक्षमें हेतुमत्तारूपके साम्यकी और उत्तराधिकरण सिद्धान्तमें हेतुशून्यतारूप वैलक्षण्यकी मन्दबुद्धि पुरुषों द्वारा भी कल्पना की जा सकती है । आक्षेपसंगतिकी यथायोग कल्पना करनी चाहिए । अब प्रासङ्गिकसंगतिका उदाहरण देते हैं—देवताधिकरणमें देवता अधिकार विचाररूप है अतएव समन्वयाध्यायमें ज्ञेय ब्रह्म वाक्य विषयक तृतीय पादमें संगतिके अभाव होनेपर भी बुद्धिस्थ अवान्तर संगति है, जैसे प्रथमाधिकरणमें अंगुष्ठमात्रवाक्य ब्रह्म विषयक है । मनुष्य हृदयापेक्षा ब्रह्म अंगुष्ठमात्र है, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यका अधिकार है यह बात कही गई है, उसके प्रसङ्गसे देवताधिकरण बुद्धिस्थित है, यह प्रासङ्गिक संगति है । इस प्रकार न्याय संगतिका निरूपण किया गया है ॥ १० ॥

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

[अत्र पादे स्पष्टलिङ्गयुक्तानां वाक्यानां विचारः]

(इस पादमें स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गयुक्त वाक्योंका विचार है)

अथेदानीं प्रत्यधिकरणमवयवचतुष्टयं श्लोकाभ्यां संगृह्यते—

(तत्र (प्रथमे ब्रह्मणो विचार्यत्वाधिकरणे) शास्त्रस्य प्रथमं सूत्रम्)

(१ जिज्ञासा अधिकरण सू० १)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

प्रथमाधिकरणमारचयति—

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् ।
असंदेहाफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥ ११॥
अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम् ।
संदेहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः ॥१२॥

अब प्रत्येक अधिकरणके चार अवयव दो श्लोकों द्वारा संगृहीत किये जाते हैं—

प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

विषय—ब्रह्म विचारात्मक यह शास्त्र ।

सन्देह—ब्रह्म विचारात्मक यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—तम प्रकाशके समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले जड देह आदि और चेतन आत्मामें परस्पर अध्यासका निरूपण नहीं हो सकता, आत्मा ही ब्रह्म है, अपने आपमें किसीको कदापि सन्देह नहीं होता कि मैं हूँ कि नहीं, और अपने आपका सबको निश्चय भी है किन्तु मुक्तिरूपी फल नहीं दिखाई देता, इसलिए सन्देह और फलके न होनेपर यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य नहीं है ।

सिद्धान्त—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'अयमात्मा ब्रह्म' इस प्रकार श्रुतिमें असङ्ग ब्रह्म ही आत्मा कहा गया है । लोकमें लोगोंकी देह आदिमें आत्मबुद्धि देखी जाती है । अतः असङ्ग ब्रह्म आत्मा है अथवा देह आदि आत्मा हैं, ऐसा सन्देह हो सकता है । मोक्षरूप फलमें श्रुति और विद्वानोंका अनुभव प्रमाण है । इस प्रकार सन्देह और फलके विद्यमान होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके लिए वेदान्त वाक्योंके तात्पर्यका निर्णयात्मक यह प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य है अर्थात् मुमुक्षुओंको ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" [बृह० २।४।५] इत्यत्राऽऽत्मदर्शनफलमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन श्रवणं विधीयते॥ श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यना ब्रह्मणि तात्पर्यं निर्णेतुमनुकूलो न्यायविचारः। तदेतद्विचारविधायकं वाक्यं विषयः। न च—अयं विषय श्लोकयोर्न संगृहीत इति शङ्कयम्। संदेहसंग्रहेणैवार्थात्तत्संग्रहप्रतीतेः। 'ब्रह्मविचारात्मकं न्यायनिर्णयात्मकं शास्त्रमनारभ्यम्, आरभ्यं वा' इति संदेहः। पूर्वोत्तरपक्षयुक्तिद्वयं सर्वत्र संदेहबीजमुन्नेयम्। तत्र 'अनारभ्यम्' इति तावत्प्राप्तम्। विषयप्रयोजनयोरभावात्। संदिग्धं हि विचारविषयो भवति। ब्रह्म त्वसंदिग्धम्। तथाहि तत्किं ब्रह्माकारेण संदिह्यते, आत्माकारेण वा। नाऽऽद्यः। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इति वाक्येन ब्रह्माकारस्य निश्चयात्। न द्वितीयः। अहंप्रत्ययेनाऽऽत्माकारस्यापि निश्चयात्। अध्यस्तात्मविषयत्वेन भ्रान्तोऽहंप्रत्यय इति चेत्। न, अध्यासानिरूपणात्। तमःप्रकाशवद्विरुद्ध-

---

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ० (याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, आत्माका श्रवण-मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) ऐसा श्रुतिमें आत्मदर्शनको उद्देश्यकर उसके साधनरूपसे श्रवण (श्रोतव्यः) का विधान किया जाता है। वेदान्त वाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णय करनेके लिए अनुकूल न्याय (अधिकरणों)का विचार श्रवण है। उसके विचारका विधायक वाक्य विषय कहा जाता है। तो यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि यह विषय उक्त दो श्लोकोंद्वारा संगृहीत नहीं किया जा सकता, क्योंकि सन्देहके संग्रहणसे ही अर्थात् विषयके संग्रहकी प्रतीति हो जाती है। ब्रह्म विचारात्मक-न्याय निर्णयात्मक यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य है अथवा नहीं ? यह सन्देह है। पूर्वपक्षकी युक्ति और सिद्धान्त पक्षकी युक्ति इस प्रकार दोनों युक्ति सर्वत्र सन्देहका बीज समझना चाहिए। यहाँपर प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य नहीं है, ऐसा प्राप्त हुआ, क्योंकि उसके आरम्भ करनेके हेतु भूत विषय और प्रयोजन नहीं हैं। संदिग्ध वस्तु ही विचारका विषय होती है। ब्रह्म तो असंदिग्ध है। जैसे—क्या ब्रह्म ब्रह्मरूपसे संदिग्ध है अथवा आत्मरूपसे ? पहला विकल्प तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है) इस वाक्यसे ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय होता है। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, कारण—'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूपका भी निश्चय है। यदि कहो कि आत्मविषयक यह 'अहं' प्रतीति देह आदि अनात्मामें अध्यस्त होनेसे भ्रान्ति है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यासका निरूपण ही नहीं है। अन्धकार और प्रकाशके समान परस्पर विरोधी स्वभाववाले जड़ और चेतन देह और आत्माका शुक्ति और रजतके समान परस्पर तादात्म्याध्यासका

स्वभावयोर्जडाजडयोर्देहात्मनो शुक्तिकारजतवदन्योन्यतादात्म्याध्यासो न निरूपयितुं शक्यते। तस्मादभ्रान्ताभ्यां श्रुत्यहंप्रत्ययाभ्यां निश्चितस्यासंदिग्धत्वाद्विचारस्य न विषयोऽस्ति। नापि प्रयोजनं पश्यामः। उक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मनि निश्चितेऽपि मुक्त्यदर्शनात्। तस्मात्–'ब्रह्म विचारानर्हम्' इति शास्त्रमनारम्भणीयम्, इति पूर्वपक्षः।

अत्रोच्यते–शास्त्रमारम्भणीयम्। कुतः। विषयप्रयोजनसद्भावात्। श्रुत्यहंप्रत्यययोर्विप्रतिपत्त्या संदिग्धं ब्रह्मात्मवस्तु। "अयमात्मा ब्रह्म" [बृह० २।५।१९] इति श्रुतिरसङ्गं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिशति। 'अहं मनुष्यः' इत्याद्यहंबुद्धिर्देहतादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं गृह्णाति। अध्यासस्य च दुर्निरूपणत्वमलंकाराय। तस्मात्संदिग्धं वस्तु विषयः। तन्निश्चयेन मुक्तिलक्षणप्रयोजनं श्रुत्या विद्वदनुभवेन च प्रसिद्धम्। तस्मात्–वेदान्तवाक्यविचारमुखेन ब्रह्मणो विचारार्हत्वाच्छास्त्रमारम्भणीयम्–इति सिद्धान्तः॥ ११-१२॥

निरूपण नही किया जा सकता। इसलिए 'असङ्गो ह्ययं पुरुष.' (यह पुरुष असङ्ग है) 'अयमात्मा ब्रह्म' 'यह आत्मा ब्रह्म है, 'मैं हूँ' इस प्रकार अभ्रान्त श्रुति और अनुभवसे निश्चितका सन्देह नही होता, अतः यह विचारका विषय नही है। प्रयोजन भी नही देखते हैं। उक्त प्रकारसे आत्मा ब्रह्म है ऐसा निश्चित होनेपर भी मोक्षरूप फल दिखाई नही देता है अर्थात् जन्म-मरणात्मक संसारकी निवृत्ति नही होती। इसलिए 'ब्रह्म विचार करनेके योग्य नही है' अर्थात् यह प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य नही है। यह पूर्वपक्ष है।

इसपर कहते है–यह प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य है। किससे ? इससे कि विषय और प्रयोजनका सद्भाव है। श्रुति और 'अहं' प्रत्ययकी विरुद्ध प्रतीतिसे ब्रह्मात्म वस्तु संदिग्ध है। (यह आत्मा ब्रह्म है) यह श्रुति असङ्ग ब्रह्मको आत्मरूपमे उपदेश करती है। 'मै मनुष्य हूँ' इत्यादि 'अहं' बुद्धि देह तादात्म्य अध्याससे आत्माका ग्रहण करती है। अध्यासका दुष्कर निरूपण तो अलंकारके लिए है अर्थात् अध्यासका दुष्कर निरूपण तो भूषण है दूषण नही। इसलिए संदिग्ध वस्तु विषय होती है। संदिग्ध वस्तुके निश्चयसे मोक्षरूप* फल श्रुति तथा विद्वानोंके अनुभवसे प्रसिद्ध है। इसलिए वेदान्तवाक्योंके विचारद्वारा ब्रह्म विचारके योग्य है, अतः यह प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य है। यह सिद्धान्त है॥ ११-१२॥

---

* 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष तो ब्रह्मात्मज्ञानसे ही होता है) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय' (आत्माको ब्रह्मरूपसे जानकर ही मृत्युका

(द्वितीये ब्रह्मणो लक्षणाधिकरणे सूत्रम्)

[२ [1]जन्माद्यधिकरण]

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किंवाऽस्ति नहि विद्यते ।
जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥ १३ ॥
ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्भुजङ्गवत् ।
लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥ १४ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मका लक्षण हो सकता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जन्मादि अन्यके-जगत्के धर्म हैं उनका ब्रह्मके साथ क्या सम्बन्ध है और लोक प्रसिद्ध सत्य आदि भिन्न भिन्न अर्थोके वाचक हैं, उनसे अखण्ड ब्रह्म कैसे सिद्ध होगा, इसलिये अप्रसिद्ध सत्यादि ब्रह्मका लक्षण युक्त नहीं है। अतः ब्रह्मके तटस्थ और स्वरूप दोनों लक्षण नहीं बन सकते ।

सिद्धान्त—यद्यपि जन्मादि जगत्के धर्म हैं, तो भी उनका कारण ब्रह्म है। जो सर्प है वही माला है, इस बाध सामानाधिकरण्यसे ब्रह्मका तटस्थ लक्षण सिद्ध होता है ।

अतिक्रमण करता है, मोक्षके लिए अन्य साधन नहीं है) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मुण्ड० २।२।८) (उस परम पुरुषका साक्षात्कार होनेपर ब्रह्मज्ञानीकी हृदयग्रन्थि (चिद्जडग्रन्थि) खुल जाती है, ब्रह्मात्मविषयक सब सन्देह मिट जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतिसे और 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृह० १।४।१०) (वामदेव—मैं मनु हुआ और सूर्य भी) "तदुक्तमृषिणा गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवाना जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयमिति । गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐ० २।४।५) (गर्भमें रहते हुए ऋषि वामदेवने कहा कि मैं गर्भमें रहता हुआ भी इन सब देवताओंको उत्पत्तिको जानता हूँ और औपनिषद् आत्मज्ञान मुझे प्राप्त हो गया है। ज्ञानोदयके पूर्व लोहनिर्मित सैकड़ो शृंखलाओंसे मैं बन्धा हुआ था। अब जिस प्रकार जालको काटकर बाज-पक्षीविशेष निकल जाता है, उसी प्रकार ज्ञानके प्रभावसे मैं बन्धन मुक्त हुआ हूँ) ।

१. पूर्व अधिकरणसे इसकी आक्षेपिकी संगति है ।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" [तैत्ति० ३ । १ । १] इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २ । १ । १) इति वाक्यद्वयं विषयः। प्रयन्ति म्रियमाणानीत्यर्थः। तत्र 'श्रूयमाणं ब्रह्मलक्षणं न घटते, घटते वा' इति संशयः। न घटते। तथा हि—किं जन्मादिकं तल्लक्षणम्, उत सत्यादिकम्। नाऽद्यः। तस्य जगन्निष्ठत्वेन ब्रह्मसंबन्धाभावात्। द्वितीयेऽपि लोकप्रसिद्धस्य सत्यज्ञानादेः स्वीकारे भिन्नार्थत्वादखण्डं ब्रह्म न सिध्येत्। अप्रसिद्धस्य तु सत्यादेर्लक्षणत्वमयुक्तम्। तस्मात्–तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणं च न विद्यते।

अत्रोच्यते–यल्लक्षणं स्वरूपानन्तर्भूतं सत्पदार्थान्तरव्यवस्थाहेतुः, तत्तटस्थलक्षणम्। जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेऽपि तत्कारणत्वं ब्रह्मणि कल्पनया संबद्धं तटस्थलक्षणं भविष्यति। "यो भुजङ्गः सा स्रक्" इतिवत्। 'यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्म' इति कल्पितेनापि वस्तुनोपलक्षयितुं शक्यत्वात्। भिन्नार्थानामपि पितृसुतभ्रातृ-

---

भिन्न भिन्न अर्थवाची लौकिक सत्यादि भी अखण्ड ब्रह्मका लक्षित करते हैं अर्थात् उनका ब्रह्ममें ही पर्यवसान है। इससे स्वरूप लक्षण सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रतीयमान इस जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण ब्रह्म है ॥ १३-१४ ॥

'यतो वा इमानि भूतानि०' (जिससे ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं, जिसमें मरते हुए–लय होते प्रवेश करते हैं, उसकी जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है) 'सत्यं०' (ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है) ये दो वाक्य इस अधिकरणके विषय हैं। प्रयन्ति–'मरते हुए' यह अर्थ है। यहां सुना हुआ ब्रह्मका लक्षण घट सकता है अथवा नहीं ? यह संशय है।

पूर्वपक्षी—नहीं घटता, जैसा कि क्या जन्मादि ब्रह्मका लक्षण है अथवा सत्यादि ? पहला तो नहीं हो सकता, क्योंकि जन्मादि जगत्के धर्म हैं उनका ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ये भी लोकप्रसिद्ध सत्यादि स्वीकार करनेपर भी भिन्न अर्थवाची हैं, अतः उनसे अखण्ड ब्रह्म सिद्ध नहीं होगा। इसलिये अप्रसिद्ध सत्यादि ब्रह्मका लक्षण युक्त नहीं है। इससे ब्रह्मके तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण नहीं हो सकते।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—जो लक्षण स्वरूपके अन्तर्भूत न होकर अन्य पदार्थोंके व्यावृत्तिका हेतु हो वह तटस्थ लक्षण है। यद्यपि जन्मादि जगत्में रहते हैं तो भी उनका कारण ब्रह्म है, इस कल्पनासे सम्बद्ध तटस्थ लक्षण हो जायगा। जैसे जो सर्प है वह माला है। 'जो जगत्का कारण है वह ब्रह्म है' इस प्रकार कल्पित वस्तुसे भी उपलक्षित हो सकता है। जैसे भिन्न भिन्न अर्थवाची पिता, पुत्र, भ्राता, जामाता

जामात्रादिशब्दानामेव देवदत्तपर्यवसायित्वे यथा न विरोधः, तथा लोकसिद्धभिन्नार्थवाचिसत्यादिशब्दानामखण्डब्रह्मपर्यवसायित्वे स्वरूपलक्षणसिद्धिः। इत्युभयमप्युपपन्नम् ॥ १३ १४ ॥

(तृतीये ब्रह्मणो वेदकर्तृत्ववेदैकमेयताधिकरणे सूत्रम्)।

[३ [1]शास्त्रयोनित्वाधिकरण]

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

तृतीयाधिकरणस्य प्रथमं वर्णकमारचयति—

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किंवा कर्तृ, न कर्तृ तत्।
विरूप नित्यया वाचेत्येवं नित्यत्ववर्णनात् ॥ १५ ॥
कर्तृ निःश्वसिताद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः।
सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत् ॥ १६ ॥

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" [बृह० २।४।१०] इति वाक्यं विषयः। 'यदृग्वेदादिकमस्ति तदेतस्य नित्यसिद्धस्य ब्रह्मणो निःश्वास इवायत्नेन सिद्धम्' इत्यर्थः। ब्रह्म वेदं करोति न करोति वा'

आदि शब्दोंका एक देवदत्तमें पर्यवसान होनेपर कोई विरोध नहीं है, वैसे ही लोकप्रसिद्ध भिन्न अर्थवाची सत्यादि शब्दोंका अखण्ड ब्रह्ममें पर्यवसान होनेसे स्वरूप लक्षणकी सिद्धि होती है। इस प्रकार तटस्थ और स्वरूप दोनों लक्षण युक्त हैं ॥ १३ १४ ॥

तृतीय अधिकरणके प्रथम वर्णककी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्म वेदका कर्ता है कि नहीं ?

पूर्वपक्ष—'वाचा विरूप नित्यया' इस श्रुतिमें वेदके नित्यत्व वर्णन होनेसे ब्रह्म वेदका कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—वेद ब्रह्मका निश्वास है ऐसा वर्णन होनेसे ब्रह्म वेदका कर्ता है। पूर्व कल्पके समान ही प्रकट होनेसे वेदको नित्य कहा गया है। सारे जगत्‌की व्यवस्था आदिको प्रकाशित करनेवाले वेदका कर्ता होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है ॥ १५ १६ ॥

'अस्य महतो०' (इस महान् सत्यस्वरूप ब्रह्मका निश्वास स्थानीय है जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद है) यह वाक्य इस अधिकरणका विषय है। जो ऋग्वेद आदि हैं वह इस नित्य सिद्ध ब्रह्मके निश्वासके समान बिना प्रयासके सिद्ध हैं, यह अर्थ है। ब्रह्म वेदको करता है अथवा नहीं करता ? यह सन्देह है।

---

१ पूर्व अधिकरणसे इसकी एक फलत्व संगति है।

इति संदेह । न करोति । वेदस्य नित्यत्वात् "वाचा विरूप नित्यया" इत्यस्मिन्मन्त्रे 'विरूप' इति देवता संबोध्य 'नित्यया वाचा स्तुतिं प्रेरय' इत्येवं प्रार्थ्यते । नित्या वाग्वेद एव ।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

इति स्मृतेः । न वेदकर्तृ ब्रह्म । इति प्राप्ते,

ब्रूमः—ब्रह्म वेदस्य कर्तृ भवितुमर्हति, कुतः । निःश्वसितन्यायेनाप्रयत्नोत्पत्त्यवगमात् "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इति, सर्वैर्यज्ञैर्हूयमानाद्यज्ञशब्दवाच्याद्ब्रह्मणो विस्पष्टमेव वेदोत्पत्तिश्रवणाच्च । अप्रयत्नोत्पत्त्यैवार्थेषु बुद्ध्या रचिते कालिदासादिवाक्यैर्वैलक्षण्यादपौरुषेयत्वम् । प्रतिसर्गं पूर्वसाम्येनोत्पन्नेः प्रवाहरूपेण नित्यता । सर्वजगद्व्यवस्थावभासिवेदकर्तृत्वनिरूपणेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं निरूपितं भवति ॥ १५-१६ ॥

द्वितीयं वर्णकमाह—

पूर्वपक्षी—ब्रह्म वेदको नहीं करता, क्योंकि वेद नित्य है। "वाचा विरूप नित्यया" इस मन्त्रमें 'विरूप' इससे देवताका सम्बोधनकर अर्थात् यह 'विरूप' शब्द देवताका सम्बोधन है। (नित्य वेदरूपी वाणीसे स्तुतिकर) इस प्रकार प्रार्थनाकी जाती है। नित्य वाणी वेद ही है। 'अनादिनिधना०' (ब्रह्माने प्रथम अनादि और अनन्त नित्य वर्णित वेदरूप दिव्य वाणीकी सृष्टि की जिससे सारा व्यवहार प्रकाशित हुआ) यह स्मृति है। अतः ब्रह्म वेदका कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—ऐसा, प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्म वेदका कर्ता होना चाहिए, किससे ? इससे कि निःश्वसितन्यायसे अप्रयत्नसे उत्पत्तिका अवगम होता है। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत'० (उस सर्वहुत यज्ञरूपी ब्रह्मसे ऋक् और साम उत्पन्न हुए) इस प्रकार सर्व यज्ञोंसे आहूयमान यज्ञ शब्द वाच्य ब्रह्मसे स्पष्टरूपसे वेदोंकी उत्पत्तिका श्रवण होता है। ईश्वरने वेदोंकी बिना प्रयासके उत्पत्ति की, इस कथनसे अर्थोंमें बुद्धि द्वारा रचित कालिदास आदिके वाक्योंसे वैलक्षण्य होनेसे वेदोंमें अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है अर्थात् संसारी पुरुषोंद्वारा रचित वाक्य, पद - पदार्थ ज्ञान पूर्वक होते हैं। परन्तु वेदोंकी रचना पूर्व कल्पके समान ईश्वरद्वारा केवल अभिव्यक्ति मात्र होती है, वह मनुष्य वाक्य रचनाके समान नहीं होती, इसलिए वेदोंको अपौरुषेय कहा गया है। सम्पूर्ण जगत्‌की व्यवस्थाके प्रकाशक वेदके कर्तृत्व निरूपणसे ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व निरूपित होता है ॥ १५-१६ ॥

द्वितीयवर्णक कहते हैं—

अस्त्यन्यमेयताऽप्यस्य किंवा वेदैकमेयता।
घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद्ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥ १७ ॥
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता।
तं त्वौपनिषदित्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥ १८ ॥

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" [बृह० ३।९।२] इति शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्येनोक्तवाक्ये परब्रह्मरूपस्य पुरुषस्योपनिषद्वेद्यत्वं प्रतीयते। तद्वाक्यं विषयः। तत्र—'ब्रह्मणः प्रत्यक्षादिगम्यत्वमस्ति, न वा' इति संशयः। पूर्वपक्षस्तु विस्पष्टः।

रूपरसाद्यभावान्नेन्द्रिययोग्यता। लिङ्गसादृश्यादिराहित्याच्च नानुमानोपमानादियोग्यता। 'उपनिषत्स्वेवाधिगतः' इति व्युत्पत्त्या "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इत्यन्यनिषेधश्रुत्या च वेदैकमेयत्वम्। भाष्यकारैः 'जन्मादि' सूत्रे—'श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्' इत्यन्यमेयत्वमङ्गीकृतम्,

---

संशय—ब्रह्म अन्य प्रमाणोंसे भी जाना जाता है अथवा केवल वेद प्रमाणसे ही अवगत होता है ?

पूर्वपक्ष—घट आदिके समान सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे भी ज्ञात होता है।

सिद्धान्त—रूप, लिङ्ग आदि रहित होनेसे ब्रह्ममें अन्य प्रमाणकी योग्यता नहीं है अर्थात् अन्य प्रमाणका विषय नहीं है, 'तं त्वौपनिषदम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्ममें केवल वेद ही प्रमाण कहा गया है।

तं त्वौपनिषदं०' (उपनिषद् प्रतिपाद्य उस पुरुषको मैं पूछता हूं) इस प्रकार शाकल्यके प्रति याज्ञवल्क्यद्वारा उक्त वाक्यमें परब्रह्मरूप पुरुष उपनिषद् वेद्य प्रतीत होता है। इसका 'तं त्वौ०' यह वाक्य विषय है। उसमें ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य है कि नहीं ? यह संशय है। पूर्वपक्ष तो स्पष्ट ही है।

रूप, रस आदि रहित होनेसे ब्रह्म इन्द्रियोंद्वारा जानने योग्य नहीं है, लिङ्ग, सादृश्य आदि रहित होनेसे उसमें अनुमान, उपमान आदिकी योग्यता नहीं है। 'उपनिषदोंसे ही अधिगत होता है, अतः ब्रह्म औपनिषद है' इस व्युत्पत्तिसे 'नावेदविन्मनुते०' (वेदको न जाननेवाला उस ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता) इस अन्य निषेध श्रुतिसे ब्रह्म केवल वेद प्रमाणक सिद्ध होता है। यदि कहो कि भाष्यकारोंने श्रुति आदि और अनुभव आदि यथा सम्भव ब्रह्ममें प्रमाण हैं, इससे अन्य प्रमाण विषयता अङ्गीकार की है, तो यह ठीक

इति चेत्। बाढम्। प्रथमतः श्रुत्यैव प्रमिते ब्रह्मणि पश्चादनुवादरूपेणानुमानानुभवयोरङ्गीकारात्। अतो वेदैकमेयं ब्रह्म॥ ३॥

(चतुर्थे वेदान्तानां ब्रह्मैकपरत्वाधिकरणे सूत्रम्)

(४ समन्वयाधिकरण[1])

तत्तु समन्वयात्॥ ४॥

चतुर्थाधिकरणस्य प्रथमवर्णकमाह—

वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत।
अनुष्ठानोपयोगित्वात्कर्त्रादिप्रतिपादकाः॥ १९॥
भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः।
सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम्॥ २०॥

स्पष्टौ विषयसंदेहौ जीवप्रकाशकवाक्यानि कर्तृपराणि। ब्रह्मप्रकाशकवाक्यानि देवतापराणि। सृष्टिप्रकाशकवाक्यानि साधनपराणि। तथा सति वेदान्तानामनुष्ठानोपयोगित्वं भविष्यति। ब्रह्मपरत्वे त्वनुष्ठानासंभवान्निष्प्रयोजनत्वं स्यात्। तस्माद् वेदान्ताः कर्तृदेवतासाधनप्रतिपादकाः।

है, क्योंकि पहले तो श्रुतिसे ही ब्रह्म अवगत हुआ पश्चात् अनुवादरूपसे अनुमान और अनुभवको अङ्गीकार किया है। अतः ब्रह्म केवल वेदसे ही जानने योग्य है॥ १७-१८॥

चतुर्थ अधिकरणका प्रथम वर्णक कहते हैं—

सन्देह—वेदान्त कर्ता, देवता आदि परक हैं अर्थात् वेदान्तवाक्य कर्ता, देवता आदिके प्रतिपादनद्वारा कर्मके अङ्गभूत हैं अथवा स्वतन्त्र ब्रह्म प्रतिपादन परक हैं ?

पूर्वपक्ष—वेदान्त स्वर्गादिके साधनभूत यज्ञादि अनुष्ठानमें उपयोगी कर्ता देवता आदि परक हैं, साक्षात् ब्रह्म परक नहीं।

सिद्धान्त—वेदान्त कर्मकाण्डके प्रकरणमें नहीं है, किन्तु उनका प्रकरण भिन्न है और तात्पर्य परिचायक उपक्रमादि षड्विध हेतुओंसे भी वेदान्त साक्षात् ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं। अनर्थ निवृत्तिरूप प्रयोजनके विद्यमान होनेपर ब्रह्मका प्राधान्येन प्रतिपादन निष्फल नहीं है। वेदान्तोंको यज्ञादि अनुष्ठानोंमें उपयोगी कर्ता, देवता आदि द्वारा कर्मोंका अङ्ग क्यों माना जाय।

विषय और संदेह स्पष्ट हैं, जीव प्रकाशक वाक्य कर्तृपरक हैं और ब्रह्म प्रकाशक वाक्य देवता परक हैं। सृष्टिपरक वाक्य साधन परक हैं। ऐसा होनेपर वेदान्त (उपनिषद्-

१. पूर्व सूत्रके द्वितीय वर्णकमें इसकी आक्षेप संगति है, पूर्व अधिकरणसे इस द्वितीय वर्णककी प्रसंग संगति है।

अत्रोच्यते—ब्रह्मपरा वेदान्ताः। कुतः। भिन्नप्रकरणपठितानां तेषां कर्त्रादिप्रतिपादकतया कर्मशेषत्वासंभवात्। तात्पर्यनिश्चयहेतुलिङ्गषट्केन ब्रह्मपरत्वसंभवाच्च। लिङ्गषट्कं पूर्वाचार्यैर्दर्शितम्—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिश्चये॥ इति।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्युपक्रमः। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्युपसंहारः। "तयोर्ब्रह्मविषयत्वेनैकरूप्यमेकं लिङ्गम्। असकृत् "तत्त्वमसि" इत्युक्तिरभ्यासः। मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्। उत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः। एतैर्लिङ्गैर्ब्रह्मपरत्वं निश्चेयम्। न चानु-

---

वाक्य) अनुष्ठानके उपयोगी होंगे। वेदान्त ब्रह्म परक होनेपर अनुष्ठानमें उपयोगके असंभव होनेसे निष्प्रयोजन होंगे। इसलिए वेदान्त कर्ता, देवता और साधन प्रतिपादक हैं।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—वेदान्त ब्रह्म परक हैं। किससे ? इससे कि उनके भिन्न प्रकरणमें पठित होनेसे कर्ता आदि प्रतिपादनद्वारा कर्मके अङ्ग नहीं हो सकते। तात्पर्य निश्चयके हेतु छः लिङ्गोंसे ब्रह्म परक हो संभव हैं। छः लिङ्ग पूर्वाचार्योंद्वारा दिखलाये गये हैं—'उपक्रमौ०' (उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति तात्पर्यके निश्चयमें ये लिङ्ग हैं)

'सदेव०' (हे सोम्य श्वेतकेतु ! उत्पत्तिके पूर्व यह सब सत् ही था) यह उपक्रम है। 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्०' (यह सब आत्मा है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) यह उपसंहार है। ये दोनों ब्रह्म विषयक होनेसे एक रूप हैं, अतः एक लिङ्ग है। 'तत्त्वमसि' का अनेक बार, पुनः पुनः (९ बार) कथन अभ्यास है। ब्रह्म वेदान्त अतिरिक्त प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे अगम्य है यह अपूर्वता है। एकके विज्ञानमें सबका ज्ञान फल है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और नियमन ये पाँच अर्थवाद[1] हैं। मृत्तिका आदि दृष्टान्त [जैसे एक मृत्तिका पिण्डके ज्ञानसे तत् कार्य घटादि सबका ज्ञान होता है, वैसे ही एक ब्रह्मके ज्ञानसे तदभिन्न भोक्ता, योग्य सबका ज्ञान हो जाता है] उपपत्ति-युक्ति हैं। इन लिङ्गोंसे वेदान्त ब्रह्म परक हैं ऐसा हम निश्चय करते हैं,] कर्मानुष्ठानके बिना प्रयोजन (फल) नहीं है, यह कथन युक्त

१. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्ति० ३।१।१) (जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं, जिसमें मरते-लय होते प्रवेश करते हैं) इस श्रुतिमें ब्रह्मसे जगत्की

ष्ठानमन्तरेण प्रयोजनाभावः। 'नायं सर्पः' इत्यादाविव बोधादनर्थनिवृत्तेः संभवात्।

द्वितीयं वर्णकमाह—

प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत।
शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात्॥ २१॥
नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि।
मननादिः पुरा बोधाद्ब्रह्मण्यवसितास्ततः॥ २२॥

एकदेशी मन्यते—ब्रह्मपरत्वेऽपि वेदान्ता न ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्ति। किं तर्हि पारोक्ष्येण ब्रह्मतत्त्वं प्रतिपाद्य पश्चादपरोक्षप्रतिपत्तिं विदधति तथा च सति वेदान्तानां शासनाच्छास्त्रत्वमुपपद्यते। किंच 'श्रोतव्यः' इति श्रवणं

नहीं है, क्योंकि जैसे (यह सर्प नहीं है) इस ज्ञानसे भ्रान्ति जनित भयादिकी निवृत्तिरूप फल देखा जाता है। वैसे ही जीव ब्रह्मैक्य बोधसे यह अज्ञान जनित दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिरूप फल संभव है॥ १९-२०॥

द्वितीय वर्णकको कहते हैं—

सन्देह—वेदान्त वाक्य (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) उपासनाका विधान करते हैं अथवा ब्रह्ममें उनका तात्पर्य है।

पूर्वपक्ष—शासनसे वेदान्त, शास्त्र कहा गया है। 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः' इस प्रकार वेदान्त उपासनाके विधायक है, क्योंकि 'श्रोतव्यः' से श्रवणका विधानकर 'मन्तव्यः' आदिसे मननादिका कथन है। तो इससे सिद्ध होता है कि वेदान्त उपासना परक हैं।

सिद्धान्त—जो कर्ताके अधीन नहीं वह विधि नहीं हो सकती, सिद्ध वस्तुके कथनसे भी शास्त्रत्वकी उपपत्ति होती है। तत्त्वज्ञानके पूर्व मननादिका विधान है, इससे वेदान्त ब्रह्ममें ही तात्पर्यसे पर्यवसित हैं।

एकदेशी मानते हैं—ब्रह्म परक होनेपर भी वेदान्त ब्रह्ममें ही पर्यवसित नहीं होते। किन्तु परोक्षरूपसे ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन कर पश्चात् अपरोक्ष ज्ञानका विधान

उत्पत्ति, स्थिति और लय कहे गये हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्ति० १।६) (इस सबकी रचनाकर उसमें प्रवेश किया) यह ब्रह्मकी प्रवेश श्रुति है। 'यस्य पृथिवी शरीरं यो पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३।७।३) (जिसका पृथिवी शरीर है, जो उसके अन्तर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) यह नियमन श्रुति है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, लय, प्रवेश और नियमन पाँच अर्थवाद हैं

शब्दज्ञानात्मकं विधायाथ "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यनुभवज्ञानात्मकं मननादिकं स्पष्टमेव विधीयते। तस्मात्—प्रतिपत्तिविधातारो वेदान्ताः, इति प्राप्ते—

ब्रूमः—न प्रतिपत्तेर्विधिः संभवति। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यत्वाद-पुरुषतन्त्रत्वात्। शास्त्रत्वं तु नानुष्ठेयशासनादेव नियतम्। सिद्धवस्तुशंसनेनापि तदुपपत्तेः। शाब्दज्ञाने जाते पश्चादनुभवात्मकं मननादिकं विधीयत इति वक्तुं न युक्तम्। 'दशमस्त्वमसि' इतिवच्छब्दस्यैवापरोक्षानुभवजनकत्वेन शाब्दबोधात्पूर्वासंभावनादिनिवृत्तये व्यापाररूपस्य कर्तृतन्त्रस्य मननादेर्विधानात्। तस्मात् "तत्त्वमसि" इत्यादयो वेदान्ता ब्रह्मण्यवसिताः ॥ ४ ॥

(पञ्चमे ब्रह्मण एव सच्छब्दवाच्यताधिकरणे सूत्राणि—)।

[५ ईक्षत्यधिकरण[1] सू० ५-११]

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥ गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ॥ ६ ॥
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥ हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥
स्वाप्ययात् ॥९॥ गतिसामान्यात् ॥१०॥ श्रुतत्वाच्च ॥११॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

तदैक्षतेतिवाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते।
ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्प्रधानं सर्वकारणम् ॥ २३ ॥

करते हैं, ऐसा होनेपर वेदान्तोंको शासनसे शास्त्रत्व उपपन्न है। किञ्च (श्रोतव्यः) इस प्रकार 'श्रवण' शब्द ज्ञानात्मक विधान कर अनन्तर 'मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' (मनन और निदिध्यासन करने चाहिए) इस प्रकार अनुभव ज्ञानात्मक मननादिका स्पष्ट ही विधान किया जाता है। इसलिए वेदान्त उपासनाके विधायक हैं। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—यहां उपासनाकी विधि नहीं हो सकती। विधिके करने न करने अथवा अन्यथा करनेमें पुरुष समर्थ नहीं है, क्योंकि विधि पुरुषके अधीन नहीं है। यह भी कोई नियम नहीं है कि केवल अनुष्ठेयके शासनसे ही शास्त्रत्व है। सिद्ध वस्तुके कथनसे भी शास्त्रत्व उपपन्न हो सकता है। शब्द ज्ञान उत्पन्न होनेपर पश्चात् अनुभवात्मक मननादिका विधान किया जाता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'दशमस्त्वमसि' (दसवां तुम हो) इसके समान शब्दको ही अपरोक्ष अनुभवके जनक होनेसे शाब्दबोधसे पूर्व असंभावना और विपरीतभावनाकी निवृत्तिके लिए कर्ताके अधीन व्यापाररूप मननादिका विधान है। इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त ब्रह्ममें ही तात्पर्यसे पर्यवसित हैं ॥ २१-२२ ॥

---

१. पूर्वोक्त विषयका अनुवादकर आक्षेपरूप अवान्तर संगति कहते हैं।

ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया ।
आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ॥ २४ ॥

छान्दोग्ये षष्ठाध्याये—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति प्रस्तुत्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'तत्तेजोऽसृजत' इति श्रूयते। तत्र सांख्या मन्यन्ते-सच्छब्दवाच्यं सर्वजगत्कारणं प्रधानम्। न तु ब्रह्म, प्रधानस्य सत्त्वगुणयुक्ततया परिणामितया च ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिसंभवात्। निर्गुणस्य कूटस्थस्य ब्रह्मणस्तदसंभवादिति।

अत्रोच्यते-ईक्षितृत्वश्रवणाच्चेतनं ब्रह्म सच्छब्दवाच्यम्। अचेतनस्य प्रधानस्येक्षितृत्वायोगात्। ज्ञानक्रियाशक्ती तु ब्रह्मणि मायया संभविष्यतः किंच 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति नामरूप-

---

पाँचवे 'अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'तदैक्षत' यह वाक्य प्रधानको जगत्का कारण कहता है अथवा ब्रह्मको ?

पूर्वपक्ष—'ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिशाली होनेसे प्रधान ही जगत्का कारण है' निर्गुण कूटस्थ ब्रह्म नही।

सिद्धान्त—श्रुतिमे ईक्षण कर्ता ही जगत्का कारण कहा गया है, इससे चेतन ब्रह्म ही जगत्का कारण है। श्रुति अप्रतिपादित अचेतन प्रधानमें ईक्षणकर्तृत्व सभव नही है। ब्रह्ममे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति मायासे हैं। यदि अचेतन प्रधान जगत्का कारण माना जाय तो जगत् कारणमे आत्मशब्दका प्रयोग और तादात्म्यका उपदेश विरुद्ध हो जायगा।

छान्दोग्यके छठे अध्यायमे 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य श्वेतकेतु। उत्पत्तिके पहले यह सब एक अद्वितीय सत् ही था) ऐसा प्रस्तुतकर 'तदैक्षत०' (उसने ईक्षण किया, बहुत होऊं, उत्पन्न होऊं उसने तेजको उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है। इसपर सांख्य मानते हैं—जगत्का कारण सत् शब्द वाच्य प्रधान है ब्रह्म नही, क्योंकि प्रधान सत्त्व गुण युक्त और परिणामी होनेसे उसमे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका संभव है। निर्गुण कूटस्थ ब्रह्ममे उनका संभव नही है। यह पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्ती—इसपर कहते है—(तदैक्षत) श्रुतिमे ईक्षण कर्तृत्व श्रवणसे चेतन ब्रह्म ही सत् शब्द वाच्य है, क्योंकि अचेतन प्रधानमे ईक्षितृत्व अयुक्त है। *यदि कहो कि निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्ममे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका संभव नहीं है,* तो इसका समाधान यह है—ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ब्रह्ममें मायासे हो जायगी। दूसरी बात—'अनेन जीवना०' (उस परदेवताने विचार किया कि मैं इस जीवरूप

व्याकर्त्री जगत्कारणदेवता स्ववाचकेनाऽऽत्मशब्देन चेतनं जीवं व्यपदिशति। तथा 'तत्त्वमसि' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्जगत्कारणतादात्म्यं गुरुरुपदिशति। तदुभयमप्यचेतनस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे विरुध्यते। तस्मात्–चेतनं ब्रह्म सच्छब्देनोच्यते ॥ ५ ॥

(षष्ठे ब्रह्मण आनन्दमयत्वाधिकरणे सूत्राणि—)

(६ आनन्दमयाधिकरण सू० १२-१९)

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥ विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥ तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥ नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १६ ॥ भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥ कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

षष्ठाधिकरणमेव देशिमतेनाऽऽह—

संसारी ब्रह्म वाऽऽनन्दमयः संसार्ययं भवेत्।
विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः ॥ २५ ॥
अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्माऽऽनन्दमयो भवेत्।
प्राचुर्यार्थो मयट्शब्दः प्रियाद्याः स्युरुपाधिगाः ॥ २६ ॥

अपनी आत्मासे प्रवेश कर नाम और रूपको प्रकट करूँ) इस प्रकार श्रुतिमें नाम रूपको प्रकट करनेवाले जगत्के कारणरूप देवता (ब्रह्म) ने स्व वाचक आत्मशब्दसे चेतन जीवका व्यपदेश (निर्देश) किया है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस श्रुतिमें चेतन श्वेतकेतुको गुरु जगत् कारणके तादात्म्य (अभेद) का उपदेश करते हैं। यदि सांख्य सिद्धान्तानुसार अचेतन प्रधानको जगत्का कारण मानें तो उक्त दोनों बातें विरुद्ध होगी। इसलिए चेतन ब्रह्म ही (सदेव सोम्य) यहाँ सत् शब्दसे कहा जाता है ॥ २३-२४ ॥

छठे अधिकरणको एकदेशी मतसे कहते है—

(प्रथम वर्णक)

सन्देह—आनन्दमय जीव है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—विकारार्थक 'मयट्' प्रत्ययके योगसे तथा प्रिय आदि अवयवोंके कथनसे आनन्दमय जीव है।

सिद्धान्त—अभ्यास, उपक्रम आदि हेतुओंसे आनन्दमय ब्रह्म ही है। यहाँ 'मयट्' प्रत्ययका प्रयोग प्राचुर्य अर्थमें है और प्रिय आदि अवयव आनन्दमयके उपाधिरूप विज्ञानमयके हैं।

तैत्तिरीयके देहप्राणमनोबुद्ध्यानन्दरूपा अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयसंज्ञकाः पञ्च पदार्थाः क्रमेणैकैकस्मादान्तराः पठिताः। तत्र–'सर्वान्तर आनन्दमयः संसारी, परमात्मा वा' इति संदेहः। 'संसारी' इति प्राप्तम्। कुतः ? आनन्दस्य विकार आनन्दमय इति व्युत्पत्ते संसारिणि संभवात्। अविकृते तु परमात्मन्यसौ न संभवति। किंच 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (२।५) इत्यानन्दमयस्य पञ्चावयवा उच्यन्ते। अपेक्षितविषयदर्शनजन्यं सुखं प्रियम्। तल्लाभजन्यो मोद। तद्भोगजन्यः प्रमोदः। सुषुप्त्यादौ भासमानमज्ञानोपहितं सुखसामान्यमानन्दः। निरुपाधिकं सुखं ब्रह्म। प्रियादीनां पञ्चावयवानां शिर आदिरूपत्वं प्रतिपत्तिसौकर्याय कल्प्यते। पक्षित्वेन कल्पितस्याऽऽनन्दमयस्य शिरः पक्षौ च, इत्यवयवत्रयम्। आत्मशब्देन मध्यशरीरं चतुर्थावयवत्वेनोच्यते, पुच्छमपरभागः। प्रतिष्ठा पादौ। अयं पञ्चमोऽवयवः। न च निरंशस्य परमात्मनोऽवयवा युक्ताः। तस्मात्संसार्येवाऽऽनन्दमय इत्येवं प्राप्ते—

ब्रूमः—आनन्दमयः परमात्मा। कुतः ? अभ्यासात्। 'सैषाऽऽनन्दस्य

तैत्तिरीयकमें देह, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्दरूप अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामवाले पाँच पदार्थ (कोश) क्रमसे एक-एकके अन्तर पठित हैं। उन सबके (अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः) आन्तर आनन्दमय जीव है अथवा परमात्मा, ऐसा सन्देह है।

पूर्वपक्षी—आनन्दमय जीव है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे ? इससे कि आनन्दका विकार आनन्दमय है, इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे आनन्दमय संसारी हो सकता है। अविकृत परमात्मामें यह नहीं हो सकता। दूसरी बात—'तस्य प्रियमेव शिरः०' (आनन्दमयका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है) इस प्रकार आनन्दमयके पाँच अवयव कहे जाते हैं। इच्छित विषयके दर्शन जन्य सुख प्रिय है, उसके लाभसे जन्य सुख मोद है, उसके भोगसे जन्य सुख प्रमोद है। सुषुप्ति आदिमें अज्ञानसे आवृत्त भासमान सामान्य सुख आनन्द है। निरुपाधिक सुख ब्रह्म है। प्रिय आदि पाँच अवयवोंमें शिर आदि रूपता ज्ञानकी सुकरताके लिए कल्पना की गई है। पक्षी रूपसे कल्पित आनन्दमयके शिर और दो पक्ष इस प्रकार तीन अवयव। आत्मशब्दसे मध्य शरीर चतुर्थ अवयव कहा जाता है। पुच्छ दूसरा भाग है दोनों पाद प्रतिष्ठा है, यह पाँचवां अवयव है। अंशरहित परमात्माके अवयव युक्त नहीं है। इसलिए जीव ही आनन्दमय है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—कहते हैं—आनन्दमय परमात्मा ही है। किससे ? अभ्याससे। 'सैषा०'

मीमांसा भवति' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इत्यादिनाऽऽनन्दमयोऽभ्यस्यते। अभ्यासश्च तात्पर्यलिङ्गम्। तात्पर्यं च वेदान्तानां ब्रह्मण्येव—इत्यवोचाम। किंच 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति ब्रह्मोपक्रमात्—'इदं सर्वमसृजत' इति सर्वस्रष्टृत्वादिभ्यश्चाऽऽनन्दमयो ब्रह्म। न ब्रह्मणि मयट्शब्दानुपपत्तिः, प्राचुर्यार्थत्वसंभवात्। प्रियाद्यवयवा अपि विषयदर्शनाद्युपाधिकृता भविष्यन्ति। तस्मात्—परमात्माऽऽनन्दमय इत्येकदेशिनां मतम्।

इदानीं स्वमतानुसारेणाधिकरणं रच्यते—

> अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्म पुच्छमिति श्रुतम्।
> स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेऽङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥ २७ ॥
> लाङ्गूलासंभवादत्र पुच्छेनाऽऽधारलक्षणा।
> आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता ॥ २८ ॥

'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति यद्ब्रुतं ब्रह्म, तत्किमानन्दमयस्याङ्गत्वेन निर्दिश्यते,

---

(यह आनन्दकी मीमांसा [पूजित-विचार] होती है) 'एतमानन्दमयमा०' (उस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है) इत्यादिसे आनन्दमयका अभ्यास किया जाता है। अभ्यास तात्पर्यका लिङ्ग है। वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, ऐसा हम कह चुके हैं। किंच 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस तरह ब्रह्मके उपक्रमसे और 'इदं सर्वमसृजत०' (यह सब उत्पन्न किया) इस सर्व स्रष्टृत्वादिके अभ्याससे आनन्दमय ब्रह्म है। और ब्रह्ममें 'मयट्' प्रत्ययकी अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि प्राचुर्य अर्थमें भी 'मयट्' प्रत्ययका प्रयोग संभव है। प्रिय आदि अवयव भी विषय दर्शन आदि उपाधिसे हो जायेंगे। इसलिए आनन्दमय परमात्मा ही है, यह एक देशियोंका मत है। [एक देशीके मतमें सूत्रका यथाश्रुत अर्थ किया गया है, आगे सूत्रका लाक्षणिक अर्थ किया जा रहा है] ॥ २५-२६ ॥

अब अपने सिद्धान्त अनुसार अधिकरणकी रचना करते हैं—

(द्वितीय वर्णक)

सन्देह—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिवाक्यमें उक्त ब्रह्म अन्यके अङ्गरूपसे प्रतिपादित है अथवा स्व प्रधानतासे ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म आनन्दमयका अङ्ग है, क्योंकि लोकमें पुच्छ देहके अङ्गरूपसे प्रसिद्ध है।

सिद्धान्त—ब्रह्म आनन्दमयकी पूंछ नहीं हो सकती है, इसलिए यहाँपर पुच्छ शब्दका लक्षणासे आधार अर्थ है। आनन्दमय जीव ब्रह्मके आश्रित है। अतः ब्रह्म स्वप्रधानरूपसे कहा गया है।

उत स्वयं प्राधान्येन प्रतिपाद्यत इति संशयः। आनन्दमयस्यावयवत्वेन–इति तावत्प्राप्तम्। लोके पुच्छशब्दस्यावयववाचित्वेन प्रसिद्धत्वात्।

उच्यते—न पुच्छशब्दोऽवयववाची, किंतु लाङ्गूलवाची। न चाऽऽनन्दमयस्य लाङ्गूलं संभवति। लाङ्गूलस्य गवादिलक्षणान्नमयावयवत्वादानन्दमयस्यावयवत्वायोगात्। अतः पुच्छशब्देन मुख्यार्थासंभवे सति योग्यतावशादत्राऽऽधारो लक्ष्यते। ब्रह्म आनन्दमयस्य जीवस्याऽऽधारः, तत्कल्पनाधिष्ठानत्वात्। न च आनन्दमयः परमात्मा, प्राचुर्यार्थस्वीकारेऽप्यल्पदुःखसद्भावप्रतीते। तस्मात्–जीवाधारो ब्रह्म प्राधान्येन प्रतिपाद्यते। तथा च—

'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदु (तै० २।६)

इत्यादि ब्रह्माभ्यास. 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१) इति ब्रह्मोपक्रमश्चानुकूलो भवति॥ ६॥

(सप्तमे परमेश्वरस्यैव हिरण्मयपदवाच्यताधिकरणे सूत्रे—)।
(७ अन्तरधिकरण सू० २०-२१)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्॥ २०॥ भेदव्यपदेशाच्चान्य.॥ २१॥

'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमे जो ब्रह्म श्रुत है, क्या वह आनन्दमयके अङ्गरूपसे निर्दिष्ट है अथवा स्वय प्रधानरूपसे प्रतिपादित है ? यह संशय है।

पूर्वपक्षी—ब्रह्म आनन्दमयके अवयवरूपसे निर्दिष्ट है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि पुच्छ शब्द अवयव वाची रूपसे लोकमे प्रसिद्ध है।

सिद्धान्ती—कहते है—यहाँ पुच्छ शब्द अवयववाची नहीं है। किन्तु लांगूल (पूँछ) वाची है। आनन्दमयको पुच्छ नही हो सकता। क्योंकि पुच्छ तो गौ आदि रूप अन्नमयका अवयव है आनन्दमयको अवयवका योग नही है। अत. पुच्छ शब्दसे मुख्यार्थ (पूँछ) के असभव होनेपर योग्यतावश यहाँ लक्षणासे आधार अर्थ है। ब्रह्म आनन्दमय जीवका आधार है और जीव कल्पनाका अधिष्ठान है। इसलिए आनन्दमय परमात्मा नही है। प्राचुर्यार्थ स्वीकार करनेपर भी (प्रचुरके विरोधी) अल्प दुःखके सद्भावकी प्रतीति होगी। इसलिए जीवका आधार ब्रह्म प्रधानरूपसे प्रतिपादित है। जैसे कि—'असन्नेव' (ब्रह्म असत् है, ऐसा यदि जानता है तो वह असत् ही होता है। 'ब्रह्म सत् है' ऐसा यदि जानता है तो उसे सन्त समझें) इत्यादि ब्रह्मका अभ्यास है। (ब्रह्मवित् परम तत्त्वको प्राप्त होता है) यह ब्रह्मका उपक्रम अनुकूल होता है॥ २७ २८॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सप्तमाधिकरणमारचयति—

हिरण्मयो देवतात्मा किंवाऽसौ परमेश्वरः।
मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः॥ २९॥
सार्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः।
मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः॥ ३०॥

छान्दोग्यस्य प्रथमाध्याय उद्गीथोपासनायामुपसर्जनान्युपास्यान्यभिधाय प्रधानमुपास्यमभिधातुमिदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते' इति। तत्र—आदित्यमण्डले विद्याकर्मातिशयवशात्कश्चिज्जीवो देवभावमुपेत्य जगदधिकारं निष्पादयन्नवतिष्ठते। ईश्वरश्च सर्वगतत्वान्मण्डलेऽपि वर्तते। अतस्तयोः संशयः। तत्र 'देवतात्मा' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। मर्यादाधाररूपाणामुच्यमानत्वात्। "ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकाः, तेषां चेष्टे देवकामानां च" इत्यैश्वर्यमर्यादोक्तिः। 'अन्तरादित्ये इत्याधारोक्तिः" 'हिरण्मयः'

सन्देह—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' क्या इस श्रुति वाक्यमें पठित यह हिरण्मय पुरुष देवता है अथवा यह परमेश्वर है?

पूर्वपक्ष—उसके ऐश्वर्यकी सीमा, उसके आधार और रूप कहे गये हैं। इससे हिरण्मय पुरुष देवतात्मा ही है, परमेश्वर नहीं।

सिद्धान्त—श्रुतिमें सर्वात्मक और सर्वपाप रहितत्व कथनसे हिरण्मय पुरुष परमेश्वर ही है। (जीव सर्वात्मक और सर्वपापशून्य नहीं हो सकता) यद्यपि मर्यादा आदि साक्षात् ईश्वरमें नहीं हैं, तो भी उपाधिगत मर्यादा आदि ईश्वरमें उपासनाके लिए होंगे।

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें उद्गीथोपासनामें गौण उपासनाओंका विधानकर प्रधान उपास्यका अभिधान करनेके लिए 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये०' (आदित्यमण्डलके अन्तर्गत जो यह हिरण्मय पुरुष दिखाई देता है) यह श्रुति है। यहाँ आदित्यमण्डलमें विद्या और कर्मके अतिशय वश कोई जीव देवभावको प्राप्त होकर जगत्के अधिकारका निष्पादन करता हुआ रहता है, और सर्वव्यापक होनेसे आदित्यमण्डलमें ईश्वर भी रहता है, अतः दोनोंमें संशय है।

पूर्वपक्षी—'अथ य एषो' इस वाक्यमें उक्त हिरण्मय पुरुष देवतात्मा है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि मर्यादा, आधार और रूप कहे गये हैं। 'ये चामुष्मात्पराञ्चो०' (आदित्यस्थ पुरुष आदित्य लोकसे जो कोई ऊर्ध्व लोक हैं उनका और देव भोगोंका ईश्वर है) यह ऐश्वर्य मर्यादाका कथन है। 'अन्तरादित्ये०' यह आधारकी उक्ति है। 'हिरण्मयः' (ज्योतिर्मय) यह रूपका कथन है। सर्वेश्वर, सर्वाधार, रूपरहित

इति रूपोक्तिः । न हि सर्वेश्वरस्य सर्वाधारस्य नीरूपस्य परमेश्वरस्यैश्वर्यमर्यादाधाररूपाणि संभवन्ति । तस्मात्—देवतात्मा, इति प्राप्ते—

उच्यते—हिरण्मय ईश्वरो भवेत् । कुतः । सर्वात्मत्वश्रवणात् । "सैवर्क्, तत्साम, तदुक्थम्, तद्यजुः, तद्ब्रह्म" इति वाक्ये तच्छब्दैः प्रकृतं हिरण्मयं पुरुषं परामृश्य तस्य ऋक्सामाद्यशेषजगदात्मकत्वमुपदिश्यते । तच्चाद्वितीये परमेश्वरे मुख्यमुपपद्यते । न तु सद्वितीयायां देवतायाम् । तथा—'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति श्रूयमाणं सर्वपापराहित्यं ब्रह्मणोऽसाधारणं लिङ्गम् । यद्यपि देवताया. कर्मण्यनधिकारात्क्रियमाणकरिष्यमाणपापयोरभावः । तथाऽप्यसुरादिजनितदुःखसद्भावात्तद्धेतुभूतं जन्मान्तरसंचितदुरितमनुवर्तत एव । मर्यादाधाररूपाणि तूपाधिधर्मतया सोपाधिके परमात्मन्युपास्ये वर्तितुमर्हन्ति । तस्मात्—ईश्वरो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

(अष्टमे ब्रह्मण एवाऽऽकाशशब्दवाच्यताधिकरणे सूत्रम्) ।

(८ आकाशाधिकरण सू० २२)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वाऽत्र खम् ।
शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥ ३१ ॥

परमेश्वरकी ऐश्वर्यमर्यादा, आधार और रूप नहीं हो सकते । इसलिए 'हिरण्मय पुरुष' देवता ही है । ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—कहते हैं—हिरण्मय ईश्वर होना चाहिए । किससे ? सर्वात्मत्व-श्रवणसे । 'सैवर्क्०' (वही ऋक्, वही साम, वही उक्थ, वही यजु, वही ब्रह्म है) इस श्रुतिवाक्यमें 'तत्' शब्दोंसे प्रकृत हिरण्मय पुरुषका परामर्श कर उसको ऋक्, साम आदि सम्पूर्ण जगदात्मकत्व उपदेश किया जाता है । वह (जगदात्मकत्व) अद्वितीय परमेश्वरमें ही मुख्यरूपसे उपपन्न होता है, द्वैत सहित देवतामें नहीं । तथा 'स एष'० (वह सब पापोंसे मुक्त है) यह श्रूयमाण सर्वपापरहितत्व ब्रह्मका असाधारण लिङ्ग है । यद्यपि देवतामें यज्ञादि कर्ममें अधिकार न होनेसे क्रियमाण (वर्तमान) और भविष्यमें होनेवाले पापोंका अभाव है, तथापि असुर आदि द्वारा उत्पन्न दुःखोंके सद्भावसे उसके हेतुभूत जन्मान्तरमें संचित पाप रहते ही हैं । मर्यादा, आधार और रूप तो उपाधिके धर्म होनेसे सोपाधिक उपास्य परमात्मामें रहने चाहिए । इससे हिरण्मय परमेश्वर है ॥ २९-३० ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

आकाशवाक्यादुत्तरस्मिन्वाक्ये प्रस्तावनाम्नः सामभागस्य देवता प्रस्तोत्रा पृष्टायामुषस्तिरुत्तरं ददौ। तत्रत्यं वाक्यमेतत्—"प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। प्राणमभ्युज्जिहते। सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इति। तत्र 'प्राणशब्दार्थो मुखबिलान्तर्वर्तिवायुः, ब्रह्म वा—इति संदेहः। मुखबिलान्तर्वर्ती वायुर्भवेत्। सर्वभूतलयस्य तत्र सुसंपादत्वात्। सुषुप्तिकाले सर्वभूतसाराणामिन्द्रियाणां प्राणवायौ प्रविलयादिति प्राप्ते—

उच्यते—इन्द्रियमात्रलयपरत्वे व्याख्यायमाने 'सर्वाणि ह वा" इत्यसौ सर्वशब्दः संकुचितः स्यात्। आकाशशब्दवत्प्राणशब्दोऽपि श्रौतरूढ्येवकाराभ्यां ब्रह्मवाचकः। अस्ति हि प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि श्रौतरूढिः। "प्राणस्य प्राणम्" इत्यत्र ब्रह्मविवक्षया द्वितीयप्राणशब्दप्रयोगात्—ईश्वरः प्राणः॥ ९॥

(दशमे—ब्रह्मण एव ज्योतिः शब्दाभिधेयत्वाधिकरणे सूत्राणि)।

(१० ज्योतिश्चरणाधिकरण सू० २४-२७)

पूर्वपक्ष—सुषुप्तिमें सब भूतोंकी सार भूत इन्द्रियाँ प्राणवायुमें लीन होती हैं, अतः यहाँ प्राण वायुविकार है।

सिद्धान्त—यदि यहाँ इन्द्रिय परक लय मानें तो 'सर्वाणि ह वा इमानि' इस सर्व लय श्रुतिका संकोच करना पड़ेगा। अतएव आकाश शब्दके समान प्राण शब्द भी श्रौतरूढिसे ब्रह्मका ही वाचक है।

आकाश वाक्यके अनन्तर वाक्यमें प्रस्ताव नामक सामभागके देवताके प्रस्तोताके द्वारा पूछनेपर उषस्ति (चाक्रायण) ने उत्तर दिया। वहाँपर यह वाक्य है—'प्राण इति होवाच०' (प्राण है ऐसा उषस्तिने कहा) 'सर्वाणि ह वा०' (ये सब भूत प्राणमें ही लय होते हैं, प्राणमें ही उत्पन्न होते हैं, वही देवता प्रस्तावमें अनुगत है) यहाँ प्राण शब्दका अर्थ मुख छिद्रवर्ती वायु है अथवा ब्रह्म ? यह सन्देह है।

पूर्वपक्षी—मुख छिद्रवर्ती वायु है, क्योंकि सब भूतोंका लय उसमें अच्छी तरह संपादन हो सकता है। सुषुप्तिकालमें सब भूतोंके सार भूत इन्द्रियोंका प्राणमें विलय होता है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—कहते हैं-यदि सुषुप्ति अवस्थाको लेकर इन्द्रियमात्र लय परक व्याख्यान करें तो 'सर्वाणि ह वा०' यहाँ यह 'सर्व' पद संकुचित होगा। अतः आकाश शब्दके समान प्राण शब्द भी श्रौतरूढि और 'प्राणमेव' 'एवकार' के द्वारा ब्रह्म वाचक ही है। प्राणशब्दकी ब्रह्ममें श्रौतरूढि है। 'प्राणस्य प्राणम्' (प्राणका प्राण) यहाँ पर ब्रह्म विवक्षासे द्वितीय प्राण शब्दका प्रयोग है। इसलिए प्राण ईश्वर है॥२३-२४॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥ छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥ उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नविरोधात् ॥ २७ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यदः ।
ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तेजोलिङ्गबलादपि ॥ ३५ ॥
चतुष्पात्प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते ।
ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गं तूपाधियोगतः ॥ ३६ ॥

छान्दोग्यस्य तृतीयेऽध्याये गायत्रीविद्यायां हृदयच्छिद्रोपासनमभिधायेदमाम्नायते—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इति । तत्र द्युलोकात्परं दीप्यमानं वस्तु किं कार्यरूपं नेत्रानुग्राहकं तेजः, उत ब्रह्म, इति संशयः । 'कार्यम्' इति तावत्प्राप्तम् । ब्रह्मणोऽसंनिहितत्वेन वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वायोगात् ।

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस श्रुति वाक्यमें उक्त ज्योतिः कार्य ज्योति है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म असंनिहित है, अत 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' इस श्रुतिमें जठराग्निके साथ अभेदरूप तेजोलिङ्गके बलसे श्रुतिमें कार्यज्योति ही कही गई है ।

सिद्धान्त—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि०' इस पूर्व श्रुतिमें चतुष्पाद ब्रह्म ही प्रकृत है । उसीकी यहाँ 'यदतः परो०' में 'यत्' शब्दसे अनुवृत्ति होती है, ज्योतिका अर्थ भासक है, ब्रह्म जगत्का भासक है । तेजो लिङ्गकी तो उपाधिविशिष्ट ब्रह्ममें कल्पना की जाती है, अतः उक्त श्रुतिमें ज्योति ब्रह्म ही है ।

छान्दोग्योपनिषद्के तीसरे अध्यायमें गायत्री विद्याके हृदय छिद्रकी उपासनाको कहकर श्रुति कहती है—'अथ यदतः०' (जो इस द्युलोकसे परे ज्योति दीप्त होती है) । यहाँ-द्युलोकसे परे जो दीप्यमान वस्तु है क्या वह नेत्रोंका सहायक कार्यरूप तेज है अथवा ब्रह्म है ? यह संशय है ।

पूर्वपक्षी—वह कार्यरूप तेज है, ऐसा प्राप्त होता है । क्योंकि ब्रह्म असंनिहित है. इससे 'अथ यदतः परो' यह वाक्य ब्रह्म परक होना युक्त नहीं है । तेजः परक तो उपपन्न होता है । कारण, उसके लिङ्गका सद्भाव है । 'इदं वाव०' (वह यही है जो कि पुरुष

तेजः परत्वं तूपपद्यते । तल्लिङ्गसद्भावात् । "इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" इति श्रूयमाणो जाठराग्न्यभेदस्तेजोलिङ्गम् । अत्रोच्यते—प्रसिद्धोऽसंनिधिः । पूर्वस्मिन्गायत्रीखण्डे—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।' इति चतुष्पदो ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । तस्य चात्र प्रकृतवाचिना यच्छब्देनानुवर्तनात् । 'अस्य ब्रह्मणः सर्वाणि भूतान्येकांशः' पादत्रयोपलक्षितमनन्तस्वरूपं द्योतमानात्मके दिवि स्वस्मिन्नेवावतिष्ठत इत्यर्थः । न च ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्त्यनुपपत्तिः । भासकत्ववाचित्वात् । ब्रह्मणो जगद्भासकत्वात् । तेजोलिङ्गं त्वौपाधिके ब्रह्मण्यवकल्प्यते । तस्मात्—ज्योतिर्ब्रह्म ॥ १० ॥

(एकादशे ब्रह्मण एव प्राणशब्दश्रुत्याद्यस्याधिकरणे सूत्राणि) ।

(११ प्रतर्दनाधिकरण सू० २८-३१)

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥ न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥ शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

(देह) के भीतर ज्योति है अर्थात् जठराग्नि है) यह श्रूयमाण जठराग्निके साथ अभेद तेजोलिङ्ग है ।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—उक्त असंनिधि असिद्ध है, क्योंकि पूर्वगायत्रीखण्डमें—'पादोऽस्य०' (समस्त प्राणी ब्रह्मका एक पाद (एक अंश) है और इसके तीन पाद अर्थात् पादत्रयसे उपलक्षित ब्रह्मका अनन्तस्वरूप प्रकाशमान द्युलोकमें अपनी-महिमामें प्रतिष्ठित है) इस प्रकार चतुष्पाद ब्रह्म प्रकृत है । यहां उसकी प्रकरणवाची 'यत्' शब्दसे अनुवृत्ति है । सम्पूर्ण प्राणी इस ब्रह्मका एक अंश है, पादत्रयसे उपलक्षित अनन्तस्वरूप प्रकाशमान द्युलोकमें स्वमें ही प्रतिष्ठित है) यह मुख्यार्थ है । ब्रह्ममें ज्योति शब्दकी वृत्तिकी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म भासकत्वका वाचक है, ब्रह्म जगत्का भासक है । तेजोलिङ्गकी भी औपाधिक ब्रह्ममें कल्पना की जाती है । इसलिए 'अतःपरो' यहाँ उक्त ज्योति ब्रह्म ही है ॥ २५-२६ ॥

---

१. 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव०' (छा० ३।१३।७) (द्युलोकसे परे विश्वसे-प्राणिवर्गसे ऊपर, सर्वोत्तम उत्कृष्ट लोकोंमें जो ज्योति प्रकाशित होती है वह यही है)

२. 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ० ६।१५) उसके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है) ऐसी श्रुति भी है ।

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः।
चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा।
अन्येषामन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् ॥ ३८ ॥

कौषीतकीनामुपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायां प्रतर्दनं प्रतीन्द्रो वक्ति—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इति। तत्र चतुर्विधलिङ्गवशाच्चतुर्धा संशयः। 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति प्राणवायोर्लिङ्गम्। 'अस्मि' इति वक्तुरिन्द्रस्याहंकारवाद इन्द्रलिङ्गम्। 'वक्तारं विद्यात्' इति वक्तृत्वं जीवलिङ्गम्। 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इति ब्रह्मलिङ्गम्। तत्र प्राबल्यदौर्बल्यविवेकाभावादनिर्णय इति पूर्वपक्षः।

सिद्धान्तस्तु—सन्त्यत्र ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि। तद्यथा—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' (२।१) इति हिततमत्वमेकं लिङ्गम्। 'यो मां

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'प्राणोऽस्मि' इस श्रुतिमें प्राण शब्द वायुका, इन्द्रका, जीवका अथवा ब्रह्मका वाचक है ?

पूर्वपक्ष—उक्त श्रुतिमें चारोंके लिङ्ग विद्यमान होनेसे किसीके विषयमें भी निश्चय नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—यहाँ ब्रह्मके अनेक लिङ्ग हैं वे अन्यथासिद्ध भी नहीं हैं, अतः वे प्रबल हैं। वे प्राण, इन्द्र, जीवके पक्षमें अन्यथासिद्ध हैं अर्थात् समन्वय नहीं हो सकते, इसलिए दुर्बल हैं। परन्तु प्राण, इन्द्र, और जीवके लिङ्गोंका ब्रह्ममें समन्वय हो सकता है। इसलिए यहाँ प्राण शब्दसे ब्रह्म ही व्युत्पाद्य है, प्राणवायु आदि नहीं।

कौषीतकि उपनिषद्में इन्द्र और प्रतर्दन आख्यायिकामें प्रतर्दनके प्रति इन्द्र कहता है—'प्राणोऽस्मि०' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, उस मुझको आयु, अमृतरूपसे उपासना कर) यहाँ चार प्रकारके लिङ्गोंके वशसे चार प्रकारके संशय होते हैं। यथा 'इदं शरीरं' (इस शरीरको पकड़कर उठाता है) यह प्राणवायुका लिङ्ग है। 'अस्मि' (मैं हूँ) वक्ता इन्द्रका 'अहंकार वादमें' इन्द्रका लिङ्ग है। 'वक्तारं विद्यात्०' (वक्ताको जानो) यह वक्तृत्व जीवका लिङ्ग है। यहाँ इन चारों लिङ्गोंमें कौन लिङ्ग प्रबल है और कौन दुर्बल है इस प्राबल्य और दौर्बल्य भेदके न होनेसे निर्णय नहीं हो सकता है कि प्राणशब्दसे किसका ग्रहण करना चाहिए। यह पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्ती—यहाँ ब्रह्मके अनेक लिङ्ग हैं। जैसे कि 'त्वमेव मे०' (तुम ही वह वर

विजानीयात्। नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन। न पितृवधेन' इति ज्ञानमात्रेण महापातकाद्यलेपोऽपरं लिङ्गम्। एवमन्यान्यपि लिङ्गान्युदाहर्तव्यानि। न चैतानि प्राणेन्द्रजीवपक्षेषु कथंचिदप्युपपादयितुं शक्यन्ते। प्राणादिलिङ्गानि तु ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। प्राणादीनां ब्रह्मबोधद्वारत्वात्। तथा सति ब्रह्मलिङ्गानामनेकत्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च प्राबल्यम्। तस्मात्-ब्रह्मैवात्र व्युत्पाद्यम्, न प्राणादीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	११	११
सूत्राणि	३१	३१



दीजिए जिसको तुम मनुष्यके लिए अत्यन्त हितकारक समझते हो) यह हिततमत्व एक लिङ्ग है। 'यो मा विजानीयात्०' (जो मुझको जानेगा, उसका मोक्षरूपी लोक मातृवध, पितृवधरूप किसी कर्मसे नष्ट नहीं होता) इस प्रकार ज्ञानमात्रसे महापातक आदि पापोंसे अलिप्त होना यह दूसरा लिङ्ग है। इस तरह अन्य लिङ्ग भी उदाहरणरूपसे देने चाहिए। ये उक्त लिङ्ग प्राण, इन्द्र और जीव पक्षमें किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकते, किन्तु प्राण आदिके लिङ्ग तो ब्रह्ममें उपपन्न हो सकते हैं। क्योंकि प्राण आदि तो ब्रह्म ज्ञानके द्वार हैं। ऐसा होनेपर ब्रह्मलिङ्ग अनेक और अन्यथासिद्ध न होनेसे प्रबल हैं। इस लिए यहाँ ब्रह्म ही व्युत्पाद्य है, प्राणादि नहीं ? यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

इति श्री भारतीतीर्थ मुनि प्रणीत वैयासिक-न्यायमालाके प्रथमाध्यायके प्रथमपादका

'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ १ ॥



अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

(अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः)

(इस पादमें उपास्य ब्रह्म विषयक अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग युक्त वाक्योंका विचार है)

(प्रथमे ब्रह्मण एव मनोमयत्वाद्यधिकरणे सूत्राणि—)।

(१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरण सू० १-८)

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥
शब्दविशेषात् ॥५॥ स्मृतेश्च ॥६॥ अर्भकौकस्त्वात्तद्व्य-
पदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥
संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

द्वितीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे।
हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥ १ ॥
शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते।
प्राणादियोगश्चिन्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥ २ ॥

छान्दोग्यस्य तृतीयेऽध्याये शाण्डिल्यविद्यायामिदमाम्नायते—'मनोमय प्राणशरीरो भारूपः' (१४।२) इति। तत्र 'जीव ईशो वा' इति संदेहः।

द्वितीय पादके प्रथमाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'मनोमयः प्राणशरीरः' इस श्रुतिवाक्यमें उक्त मनोमय जीव है या परमेश्वर ?

पूर्वपक्ष—प्राण और मनका सम्बन्ध, हृदयमें स्थिति, अतिसूक्ष्मत्व जीवमें रहते हैं, इससे वे जीवमें समन्वय हो सकते हैं, अतः मनोमय जीव ही है।

सिद्धान्त—'मनोमयः' पदगत (मयट्) तद्धित प्राणशरीर पदका बहुव्रीहि समास 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस शम वाक्यमें प्राप्त ब्रह्मकी अपेक्षा करते हैं। ब्रह्ममें मन और प्राणका सम्बन्ध ध्यानके लिए है। सब वेदान्तोंमें उपास्यरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्म ही मनोमयादिरूपसे उपास्य है।

छान्दोग्यके तृतीय अध्यायमें शाण्डिल्यविद्यामें यह श्रुति है—'मनोमयः०' (मनोमय, प्रकाश स्वरूप तथा प्राण शरीरवाला है) यहाँ मनोमय आदि शब्दसे जीवका ग्रहण है अथवा ब्रह्मका ? यह सन्देह है।

इति तावत्प्राप्तम्। मन-संबन्धादीनां जीवे सुसंपादत्वात्। 'मनसो विकारो मनोमय:' इति मनःसंबन्धः। 'प्राणः शरीरमस्य' इति प्राणसंबन्धः। न चेदं द्वयमीश्वरे सुसंपादम्। 'अप्राणो ह्यमना. शुभ्रः' इति निषेधात्। तथा—'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्' इति श्रूयमाणं हृदयेऽवस्थानम्, अणीयस्त्वं च निराधारस्य सर्वगतस्य न कथंचिदुपपद्यते। तस्मात्—जीव इति प्राप्ते—

ब्रूम.—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (१४।१) इत्येतस्मिञ्शमविधिपरे पूर्ववाक्ये श्रूयमाणं यद्ब्रह्म, तदेव 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्येताभ्या तद्धितबहुव्रीहिभ्या विशेष्यत्वेनापेक्ष्यते। शमवाक्यस्यायमर्थं—'यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्म तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च तस्मात्सर्वात्मके ब्रह्मणि रागद्वेषविषयासंभवादुपास्तिकाले शान्तो भवेत्' इति। एतद्वाक्यगते ब्रह्मणि विशेष्यत्वेनान्विते मनोमयवाक्यमपि ब्रह्मपरं भविष्यति। न च ब्रह्मणो मनःप्राणसंबन्धाद्यनुपपत्ति.। निरुपाधिके तदनुपपत्तावपि सोपाधिकस्योपास्यस्य

पूर्वपक्षी—'मनोमयः' आदि शब्दसे जीवका ग्रहण है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि मनके सम्बन्ध प्राणके सम्बन्ध आदिका जीवमें भली-भाँति समन्वय हो सकता है। 'मनका विकार मनोमय है' यह मनका सम्बन्ध है। 'प्राण शरीरवाला' यह प्राण सम्बन्ध है। यह दो ईश्वरमें अच्छी प्रकार समन्वय नहीं हो सकते, क्योंकि 'अप्राणो०' (ईश्वर प्राण रहित, मन रहित और शुद्ध है) इस प्रकार निषेध किया गया है। तथा 'एष मे आत्मा०' (यह मेरा आत्मा मेरे हृदयमें अतिसूक्ष्म है) इस तरह श्रूयमाण हृदयमें अवस्थिति, अणीयस्त्व, निराधार और सर्वगत ब्रह्ममें किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकते। इसलिए जीव ही ग्राह्य है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—'सर्वं खल्विदं०' (निश्चय यह सब ब्रह्म है, क्योंकि यह जगत् उससे उत्पन्न हुआ है। उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है, इसलिए उसकी शान्त मना होकर उपासना करे) इस शम विधि परक पूर्ववाक्यमें श्रूयमाण जो ब्रह्म है, वही 'मनोमय, प्राणशरीरः' इन तद्धित और बहुव्रीहि समास घटित पदोंके द्वारा विशेष्यरूपसे अपेक्षित है। उक्त शम वाक्यका यह अर्थ है, क्योंकि 'यह सब ब्रह्म है, उससे उत्पन्न हुआ है, उसमें लय होता है, उसमें चेष्टा करता है' इसलिए सर्वात्मक ब्रह्ममें राग द्वेष विषयके असम्भव होनेके कारण उपासना कालमें शान्त हो'। इस वाक्यगत ब्रह्ममें विशेष्यरूपसे अन्वित होनेपर मनोमय वाक्य भी ब्रह्म परक हो जायगा। ब्रह्ममें मन और प्राणके सम्बन्ध आदिकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि उपाधिक ब्रह्ममें इनकी अनुपपत्ति है तो भी सोपाधिक उपास्य ब्रह्मके ध्यानार्थ

चिन्तनार्थतया तदुपपत्तेः। तस्मात्—सर्वेष्वपि वेदान्तवाक्येषु यद्ब्रह्मोपास्यत्वेन प्रसिद्धं तदेवात्राप्युपास्यम्। न हि कश्चिदपि वेदान्ते जीवस्योपास्यत्वं प्रसिद्धम्। ततो 'ब्रह्मैव' इति सिद्धान्तः॥ १॥

(द्वितीये ईश्वरस्यैवात्तृत्वाधिकरणे सूत्रे—)

(२ अत्त्रधिकरण सू० ९-१०)

अत्ता चराचरग्रहणात्॥९॥ प्रकरणाच्च॥१०॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम्।
स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाऽग्निरन्नाद इत्यतः॥ ३॥
ब्रह्मक्षत्रादिजगतो भोज्यत्वात्स्यादिहेश्वरः।
ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता॥ ४॥

कठवल्लीषु द्वितीयवल्ल्यवसाने पठ्यते—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ (२५) इति॥

दोनोंका सम्बन्ध हो सकता है। इस लिए सब वेदान्त वाक्योंमें जो ब्रह्म उपास्यरूपसे प्रसिद्ध है वही यहाँ भी उपास्य है। वेदान्तमें कहींपर भी जीव उपास्यरूपसे प्रसिद्ध नहीं हैं। इसलिए यहाँ ब्रह्म ही मनोमय आदि रूपसे उपास्य है। यह सिद्धान्त है॥ १॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इस मन्त्रमें ओदन भक्षणमें प्रतीयमान अत्ता-भक्षक जीव है, अग्नि है अथवा परमेश्वर है?

पूर्वपक्ष—यहाँ जीव भोक्ता है, क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (दोनोंमें एक (जीव) मधुर कर्मफल भोक्ता है) इस श्रुतिमें जीव भोक्ता कहा गया है, अथवा अग्नि भोक्ता है, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' (अग्नि अन्न भक्षक है) इसमें अग्नि अन्न भक्षक कही गई है।

सिद्धान्त—श्रुतिमें 'ब्रह्म-क्षत्र' पद उपलक्षक हैं अर्थात् ब्रह्म क्षत्र आदि सारा जगत् भोज्य होनेसे यहाँपर अत्तारूपसे ईश्वर ही ग्राह्य है। किञ्च उक्त वाक्य ईश्वर विषयक प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है। सारे जगत्का संहार ईश्वर करता है, अतः संहार कर्ता होनेसे भी ईश्वर ही अत्ता है।

कठवल्लीकी दूसरी वल्लीके अन्तमें पढ़ते हैं—

'यस्य ब्रह्म च०' (ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों जिसके ओदन-भात स्थानीय हैं, मृत्यु जिसके भक्ष्यका संस्कार करनेवाला अर्थात् घृत स्थानीय है। वह पुरुष जहाँ

अयमर्थः—'ब्रह्मक्षत्रियजातौ यस्योदनस्थानीये, मृत्युश्चोपसेचनस्थानीयः, स पुरुषो यत्र वर्तते तत्स्थानम्। 'इदमित्थम्' इति को वेद। न कोऽपि जानातीत्यर्थः। अत्र—ओदनोपसेचनशब्दाभ्यां कश्चिद्भक्षकः प्रतीयते। जीवः, अग्निः, ईशो वा, इति त्रेधा संदिह्यते। जीव इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (मु० ३।१) इति जीवस्यात्तृत्वश्रवणात्। अथवा वह्निमेव, "अग्निरन्नादः" इत्यत्तृत्वावगमात्। इति प्राप्ते—

उच्यते—ब्रह्मक्षत्रयोरुपलक्षणत्वेन कृत्स्नं जगदिह भोज्यत्वेनावगम्यते। नहि तादृशस्य भोज्यस्येश्वरादन्योऽत्ता संभवति। किंच—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ (क० २।१४)

इति धर्माधर्मकार्यकारणकालत्रयातीते परमेश्वरे नचिकेतसा पृष्टे सति "यस्य ब्रह्म च" इति वाक्येन यम उत्तरं ददौ। तस्माद्–ईश्वरोऽत्र प्रतिपाद्यः।

रहता है। उसे यथार्थरूपसे कौन जानता है ? अर्थात् मदतिरिक्त कोई भी नहीं जानता है)

यह अर्थ है—'ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति जिसके ओदन स्थानीय है। मृत्यु ओदनके लिए उपसेचन-घृत स्थानीय है, वह पुरुष जहाँ रहता है, उस स्थानको 'इदमित्थम्' यथार्थरूपसे कौन जानता है ? कोई भी नहीं जानता है' ऐसा अर्थ है। यहाँपर ओदन और उपसेचन शब्दोंसे कोई भक्षक प्रतीत होता है। वह जीव है, अग्नि है अथवा ईश्वर है ? इस तरह तीन प्रकारका सन्देह होता है।

पूर्वपक्षी—वह भक्षक जीव है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे ? इससे कि 'तयोरन्यः' (दोनोंमें एक मधुर कर्मफल भोक्ता है) यहाँ जीव भक्षक सुना जाता है अथवा अग्नि हो, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' (अग्नि अन्न भक्षक है) इसमें अग्नि भक्षक अवगत होती है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—कहते हैं—ब्रह्म और क्षत्र पद उपलक्षणरूप होनेसे सम्पूर्ण जगत् यहाँ भोग्यरूपसे अवगत होता है। इस प्रकारके भोज्यका भोक्ता ईश्वरसे भिन्न नहीं हो सक्ता। किंच—

'अन्यत्र धर्माद०' (धर्म और अधर्मसे भिन्न, कार्य कारणसे पृथक्, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे भिन्न जिस वस्तुको आप जानते हैं उसका मेरे लिए उपदेश कीजिए) इस प्रकार धर्म, अधर्म, कार्य, कारण, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे अतीत परमेश्वरके विषयमें नचिकेताद्वारा प्रश्न किये जानेपर 'यस्य ब्रह्म च०' इस वाक्यद्वारा यमने

'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मु० ३।१) इतीश्वरे भोक्तृत्वं निषिध्यत इति चेत्, तर्ह्यत्तृत्वं नाम संहर्तृत्वं भविष्यति। तच्चेश्वरस्य सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धम् ॥ २ ॥

(तृतीये जीवब्रह्मणोरेव गुहाप्रवेशाधिकरणे सूत्रे—)

(३ गुहा प्रविष्टाधिकरणमें सू० ११-१२)

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥ विशेषणाच्च ॥१२॥

तृतीयाधिकरणमाचरयति—

गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितेः।
छायातपाभ्यां दृष्टान्ताद्धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ॥ ५ ॥
पिबन्ताविति चेतन्यं द्वयोर्जीवेश्वरौ ततः।
हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥ ६ ॥

कठवल्लीष्वेव तृतीयवल्ल्यादौ श्रूयते—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।१०।इति।

उत्तर दिया। इससे प्रकृतवाक्यमें भक्षकरूपसे परमेश्वर ही प्रतिपाद्य है। यदि कहो कि 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (उसमें अन्य-ईश्वर न भोक्ता हुआ केवल देखता रहता है) यह श्रुतिवाक्य ईश्वरमें भोक्तृत्वका निषेध करता है। तब तो यहां अत्तृत्वका अर्थ संहार कर्तृत्व होगा। वह तो ईश्वरके लिए सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

तृतीयाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'ऋतं पिबन्तौ०' इस श्रुतिमें प्रविष्ट बुद्धि और जीव हैं अथवा जीव और परमेश्वर हैं ?

पूर्वपक्ष—हृदयमें स्थिति कही गई है और छाया एवं आतपरूप दृष्टान्तसे कहे गये हैं, अतः परस्पर विलक्षण बुद्धि और जीव ही प्रविष्ट हैं।

सिद्धान्त—'पिबन्तौ' इस द्विवचनसे दो चेतन जीव और परमेश्वर ही प्रतीत होते हैं, हृदय स्थान उपासनाके लिए कहा गया है। छाया एवं आतपके समान जीव और परमेश्वरका परस्पर वैलक्षण्य सोपाधिक और निरुपाधिक रूपको ले कर है।

कठवल्लीकी तृतीय वल्ली आदिमें श्रुति है—

'ऋतं पिबन्तौ०' (ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीररूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म स्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो (तत्त्व) हैं। यही बात जिन्होंने तीन वार नाचिकेताग्निका चयन किया है

अयमर्थः—'सुकृतस्य'[1] फलभूतं यद्ब्राह्मणादिशरीरं तत्परस्यार्धं परब्रह्मण उपलब्धिस्थानम्। तच्च परमम्, विद्याधिकारहेतुशमदमाद्युपेतत्वात्। तादृशस्य शरीरस्य मध्ये स्थितं हृदयपुण्डरीकं गुहा तां प्रविष्टौ। यद्वा—ऋतशब्दवाच्यं कर्मफलं पिबन्तौ छायातपवत्परस्परविलक्षणौ वेदविदो वदन्ति, इति। 'तौ द्वौ बुद्धिजीवौ जीवेशौ वा' इति संदेहः। 'बुद्धिजीवौ' इति प्राप्तम्। तयोः परिच्छिन्नयोर्गुहाप्रवेशसंभवात्। जडाजडरूपत्वेन च्छायातपवद्वैलक्षण्याच्च।

अत्रोच्यते—'पिबन्तौ' इति द्विवचनेन द्वयोश्चेतनत्वं प्रतीयते। ततः—चेतनाविह जीवेश्वरौ भवतः। सर्वगतस्यापीश्वरस्य हृदयेऽवस्थानमुपलब्ध्यै वर्ण्यते। द्वयोश्चेतनत्वसाम्येऽपि सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वाभ्यां वैलक्षण्यमुपपद्यते॥ ३॥

(चतुर्थे ब्रह्मण एवाक्षिगतत्वाधिकरणे सूत्राणि—)

(४ अन्तरधिकरण सू० १३-१७)

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥ स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

वे पञ्चाग्नि उपासना करनेवाले भी कहते हैं)। इसका यह अर्थ है—पुण्य कर्मोंका फल-भूत जो ब्राह्मण आदि शरीर हैं वे प्रकृष्ट पर ब्रह्मका उपलब्धि स्थान हैं। ब्रह्म-विद्यामें अधिकारके हेतुरूप शम, दम आदि साधनोंसे युक्त होनेके कारण यह शरीर श्रेष्ठ है। ऐसे शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदयकमल रूप गुहामें प्रविष्ट हैं। अथवा 'ऋतं पिबन्तौ' इस 'ऋत' शब्द वाच्य कर्म फलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञानी तथा कर्मानुष्ठान करनेवाले गृहस्थ कहते हैं। इसमें सन्देह होता है कि वे दो बुद्धि, जीव हैं अथवा जीव और परमेश्वर हैं।

पूर्वपक्षी—गुहामें प्रविष्ट बुद्धि और जीव हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि उन दोनों परिच्छिन्नोंका ही गुहारूप अल्प परिमाणवाले स्थानमें प्रवेश हो सकता है। किंच जड तथा चेतनरूप होनेके कारण छाया और घामके समान बुद्धि और जीव परस्पर विलक्षण भी हैं।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—'पिबन्तौ०' इस द्विवचनसे दो चेतन प्रतीत होते हैं। इससे वे चेतन जीव और ईश्वर हो सकते हैं। यद्यपि सर्व व्यापक ईश्वरका अल्प-स्थान युक्त नहीं है, तो भी उपलब्धिके लिए हृदयमें ईश्वरकी स्थितिका वर्णन किया जाता है। यद्यपि दोनोंमें चेतनत्व समान है तो भी जीव उपाधिसहित और ईश्वर उपाधिरहित है, इस प्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य युक्त है, अतः जीव और ईश्वर ही हृदय-रूपी गुहामें प्रविष्ट हैं॥ ३॥

---

१. कठवल्लीभाष्ये तु—'छत्रिन्यायेन सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मणः' इत्युपलभ्यते।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥ श्रुतोपनिषत्कगत्य-
भिधानाच्च ॥१६॥ अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

छायाजीवौ देवतेशो वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते ।
आधारदृश्यतोक्त्यैशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥ ७ ॥
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राक्तदेवाक्षण्युपास्यते ।
वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसंभवः ॥ ८ ॥

छान्दोग्यस्य—चतुर्थाध्याय उपकोसलविद्यायामुपकोसलं शिष्यं प्रति सत्य-कामो गुरुराह । तत्रत्यं वाक्यमेतत्—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमेतद्ब्रह्म (४।१५।१) इति । तत्र चतुर्धा संशये सति 'अक्षणि सर्वैर्दृश्यमाना छाया' इति तावत्प्राप्तम् । अक्ष्याधारत्वदृश्यत्वयोस्तस्यामपि स्पष्टत्वात् । यद्वा जीवोऽयं भवितुमर्हति । रूपदर्शनवेलाया तस्य चक्षुष्यवस्थि-

---

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिमें प्रतिपादित अक्षिपुरुष छायात्मा है, जीव है, देवता है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्ष—अक्षि पुरुषका नेत्र आधार कहा गया है और वह दृश्य भी कहा गया है । अतः परमेश्वरसे भिन्न छायात्मा आदि तीनोंमें से कोई एक है ।

सिद्धान्त—'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस पूर्व वाक्यमें जो ब्रह्म कहा गया है वही वाम-नीयत्वादि गुणोंसे नेत्रमें उपास्य कहा गया है, क्योंकि छायात्मा आदि तीनोंमें अमृत-त्वादि गुणोंका संभव नहीं है । अतः तीनोंका अक्षि पुरुष वाक्यसे उपदेश नहीं है ।

छान्दोग्यके चतुर्थ अध्यायमें उपकोसलविद्यामें उपकोसल शिष्यके प्रति गुरु सत्यकाम कहते हैं—वहींका यह वाक्य है—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते०' (जो यह नेत्रमें पुरुष दिखाई देता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, ऐसा गुरुने कहा) इसमें वह अक्षिपुरुष छायात्मा है, जीव है, देवतात्मा है अथवा परमेश्वर है ? इस प्रकार चार प्रकारका सन्देह होने पर—

पूर्वपक्षी—वह पुरुष सबके द्वारा आंखसे देखी गई छाया है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि नेत्र आधार और दृश्यत्व दोनों छायात्मामें स्पष्ट प्रत्यक्ष हैं । अथवा वह जीव हो सकता है, क्योंकि नेत्रेन्द्रियद्वारा रूपको देखते समय उनकी चक्षुमें स्थिति होनेसे वह अन्वय-व्यतिरेक द्वारा दृश्य भी हो सकता है । अथवा देवता हो सकता है, क्योंकि 'आदि-त्यश्चक्षुर्भूत्वा०' (आदित्यने चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्र गोलकमें प्रवेश किया) ऐसी श्रुति है ।

तत्त्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृश्यमानत्वात्। अथवा देवता स्यात्। 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणि प्राविशत्' इति दर्शनात्। सर्वथा न परमात्मा। तस्याऽऽधारत्वदृश्यत्वासंभवात्। तस्मात्—छायाजीवदेवेषु यः कोऽप्यस्तु।

इति प्राप्ते ब्रूम —"कं ब्रह्म" "खं ब्रह्म" इति सुखरूपम्। आकाशवत्परिपूर्णं यद्ब्रह्म पूर्ववाक्येनोक्तम्, तदेव 'य एषोऽक्षिणि' इति प्रकृतवाचकेनैतच्छब्देन परामृश्याक्ष्युपास्यत्वेनोपदिश्य वामनीत्वभामनीत्वसंयद्वामत्वादिगुणानुपासन (ना) यापदिशति। वामनीत्वं वामप्रापकत्वम्। भामनीत्वं जगद्भासकत्वम्। संयद्वामत्वं प्राप्तकामत्वम्। एतैर्गुणैरुपास्यब्रह्मणः सोपाधिकत्वादक्ष्याधारत्वं शास्त्रदृष्ट्या दृश्यमानत्वं च न विरुध्यते। छायाजीवदेवतेषु स्वमृतत्वाभयत्वादीनि न संभवन्ति। तस्मात्—ईश्वरोऽत्रोपास्यः॥ ४॥

(पञ्चमे परमेश्वरस्यैवान्तर्यामिताधिकरणे सूत्राणि—)

[५ अन्तर्याम्यधिकरण सू० १८–२०]

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥ १८॥

परमात्मा तो कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें आधारत्व और दृश्यत्व संभव नहीं है अर्थात् उसका कोई आधार नहीं है और वह दृश्य नहीं है। अतः छाया, जीव और देवता इन तीनोंमें से कोई एक है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार सुखरूप आकाशके समान परिपूर्ण जो ब्रह्म पूर्व वाक्यमें कहा गया है। उसीका 'य एषोऽक्षिणि०' इसमें प्रकृत वाचक 'एतत्' शब्दसे परामर्श कर वह चक्षु इन्द्रियमें उपास्य है, ऐसा उपदेश कर वामनीत्व भामनीत्व संयद्वामत्व आदि गुणोंकी उपासनाके लिए गुरु उसका उपदेश करते हैं। वामनीत्व-कामोंका प्रापक, भामनीत्व-प्रकाशक होना, संयद्वामत्व-प्राप्त काम होना, इन गुणोंसे उपास्य ब्रह्ममें सोपाधिक होनेसे अक्षि-आधारत्व और शास्त्रदृष्टिसे दृश्यत्व विरुद्ध नहीं हो सकते अर्थात् सोपाधिक ब्रह्मका अक्षि आधार हो सकता है और वह शास्त्र दृष्टिसे ज्ञेय भी हो सकता है। परन्तु छाया, जीव और देवता इन तीनोंमें श्रुत्युक्त अमृतत्व, अभयत्व आदि धर्म नहीं हो सकते। इसलिए 'अक्षिणि' यहाँपर अक्षिपुरुषसे परमेश्वर ही उपास्य है॥ ४॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यः पृथिवीमन्तरो' इस श्रुतिमें जगत्‌का जो अन्तर्यामी कहा गया है, क्या — प्रधान है, जीव है अथवा ईश्वर है?

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥ शारी-
रश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति ।
कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥ ९ ॥
जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परेश्वरः ।
द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः ॥ १० ॥

बृहदारण्यके तृतीयाध्याये याज्ञवल्क्य उद्दालकं प्रत्याह—'यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (७।६) इति। तत्र—पृथिव्यादिजगत्प्रति योऽन्तर्यामी श्रूयते तस्मिंस्त्रेधा संशये सति 'प्रधानम्' इति प्राप्तम्। तस्य सकलजगदुपादानत्वेन स्वकार्यं प्रति नियामकत्वसंभवात्। अथवा जीवोऽन्तर्यामी। स हि धर्माधर्मरूपं कर्मानुष्ठितवान्। तच्च कर्म स्वफलदानाय फलभोगसाधनं जगदुत्पादयति। अतः कर्मद्वारा जगदुत्पादकत्वाज्जीवोऽन्तर्यामी।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यन्तर्यामिणो जीवतादा-

---

पूर्वपक्ष—सकल जगत्‌का कारण होनेसे प्रधान अन्तर्यामी है अथवा धर्माधर्मरूप कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा जगत्‌का उत्पादक होनेसे जीव अन्तर्यामी है।

सिद्धान्त—'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इस श्रुतिमें जीवमें अभेद तथा अमृतत्व परमेश्वरमें ही उपपन्न होते हैं, अतः अन्तर्यामी, द्रष्टा, श्रोता कहा गया है, अतः अचेतन प्रधान अन्तर्यामी नहीं हो सकता और नियम्य होनेके कारण जीव भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही अन्तर्यामी है।

बृहदारण्यकोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें याज्ञवल्क्य उद्दालकके प्रति कहते हैं—'यः पृथिवीमन्तरो यमयति०' (पृथिवीके अन्दर रहकर जो पुरुष पृथिवीका नियमन करता है, वह तेरा आत्मा है, अन्तर्यामी और अमृत है) यहाँ श्रुतिमें पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत्‌का जो अन्तर्यामी कहा गया है, इसमें तीन प्रकारका संशय होता है, क्या अन्तर्यामी प्रधान है, जीव है अथवा परमेश्वर है?

पूर्वपक्षी—अन्तर्यामी प्रधान है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि वह सारे जगत्‌का उपादान कारण है, इससे वह अपने कार्यके प्रति नियामक हो सकता है। अथवा जीव अन्तर्यामी हो सकता है, क्योंकि वह धर्माधर्मरूप कर्मका अनुष्ठान करनेवाला है। वह कर्म अपने फल देनेके लिए फलोपभोगके साधनभूत जगत्‌को उत्पन्न करता है। अतः कर्मद्वारा जगत्‌के उत्पादक होनेके कारण जीव अन्तर्यामी है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'एष त आत्मा' इस श्रुतिमें अन्तर्यामी

रूप्यममृतत्वं च श्रूयते। तथा पृथिव्यन्तरिक्षादिषु सर्ववस्तुष्वन्तर्यामित्वोपदेशेन सर्वव्यापित्वं प्रतीयते। तेभ्यो हेतुभ्योऽन्तर्यामी परमेश्वरः। न च प्रधानस्यान्तर्यामित्वं संभवति। 'अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता' इति द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्यवगमादचेतनस्य प्रधानस्य तदसंभवात्। नापि जीवोऽन्तर्यामी। 'य आत्मानमन्तरो यमयति' इति जीवस्य नियम्यत्वश्रवणात्। तस्मात्-अन्तर्यामी परमेश्वरः ॥५॥

(षष्ठे परमेश्वरस्यैव भूतयोनित्वाधिकरणे सूत्राणि)

[६ अदृश्यत्वाधिकरण सू० २१—२३]

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥ रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥ प्रकरणत्वात्[1] ॥ २४ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः।
आद्यो पक्षावुपादाननिमित्तत्वाभिधानतः ॥ ११ ॥

से जीवसे अभेद और अमृतत्व कहा गया है और पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि सब पदार्थोंमें अन्तर्यामीका उपदेश है, इससे सर्वव्यापक प्रतीत होता है, इन हेतुओंसे परमेश्वर ही अन्तर्यामी है। प्रधान अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि 'अदृष्टो०' (वह दृष्ट नहीं है किन्तु द्रष्टा है, वह श्रुत नहीं है किन्तु श्रोता है) इस प्रकार अन्तर्यामी द्रष्टा, श्रोता आदि कहा गया है, अतः वह अचेतन प्रधानमें संभव नहीं है। इस प्रकार जीव भी अन्तर्यामी नहीं है। क्योंकि 'य आत्मानम०' (अन्दर रहकर जो आत्मा-जीवका नियमन करता है) इस तरह श्रुतिमें जीव नियम्य कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही अन्तर्यामी है ॥ ५ ॥

छठे अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' इस श्रुतिमें उक्त भूतयोनि प्रधान है, जीव है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्ष—योनि शब्दके अर्थ हैं—उपादानकारण और निमित्तकारण। अतः जगद्रूपसे परिणत होनेवाला प्रधान जगत्का उपादान कारण होनेसे भूतयोनि है। अथवा धर्माधर्मरूप कर्मके द्वारा जगत्का निमित्त उत्पादक होनेसे जीव भूतयोनि है। इस लिए उपादान और निमित्तकारणके अभिधानसे प्रधान अथवा जीव भूतयोनि है।

१. अस्य सूत्रत्वं केवलं रङ्गनाथेन वृत्तिकृताऽङ्गीकृतम्। भाष्यतोऽपि प्रतीयते। भामतीकारादयो भाष्यव्याख्यातारोऽन्ये वृत्तिकृतश्चास्य भाष्यग्रन्थत्वमेवाङ्गीकुर्वन्तीति ध्येयम्।

ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात् ।
दिव्यायुक्तेन जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ॥ १२ ॥

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—"तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (१।६) इति । तत्र त्रेधा संशये सति प्रधानं जीवो वा, इति पक्षद्वयं तावत्प्राप्तम् । योनिशब्दस्योपादाननिमित्तलक्षणार्थद्वयवाचित्वात् । प्रधानस्य विश्वाकारेण परिणममानस्योपादानत्वात् । जीवस्य च धर्माधर्मद्वारेण निमित्तत्वात् ।

अत्रोच्यते— यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः' (१।९) इति सामान्याकारेण सर्वज्ञत्वम् । विशेषाकारेण सर्ववित्त्वम् । पर्यालोचनात्मकं तपश्च । इत्येतादृशस्य ब्रह्मलिङ्गस्य कीर्तनाद्भूतयोनिः परमेश्वरः । न च जीवस्य भूतयोनित्वं युक्तम् । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' ।२-२। इति बाह्याभ्यन्तरव्यापित्वजन्मराहित्ययोः श्रुतत्वात्परिच्छिन्नस्य जन्मादिमतो जीवस्य तदसंभवात् । नापि प्रधानस्य भूतयोनित्वं युक्तम् । "अक्षरा-

---

सिद्धान्त—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' आदि श्रुतिमें ब्रह्मके धर्म सर्वज्ञत्व आदिके कथनसे परमेश्वर ही भूतयोनि है । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इस प्रकार भूतयोनिमें दिव्यत्व आदिके कथनसे परिच्छिन्न तथा जन्ममरण युक्त जीव भूतयोनि नहीं है । तथा 'अक्षरात्परतःपरः' इस भेदके कथनसे प्रधान भी भूतयोनि नहीं है ।

मुण्डकोपनिषद्में—'तदव्ययं तद्भूतयोनिं०' (जिस भूतयोनिको विद्वान् लोग जानते हैं वह अव्यय है) यह श्रुति है, यहाँपर तीन प्रकारका संशय होता है कि क्या भूतयोनि प्रधान है, जीव है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्षी—प्रधान अथवा जीव भूतयोनि है, इस प्रकार दो पक्ष प्राप्त होते हैं, क्योंकि 'योनि शब्द उपादानकारण और निमित्तकारण रूप दो अर्थोंका वाचक है। सम्पूर्ण विश्वाकारसे परिणत प्रधान उपादानकारण है और जीव धर्माधर्मरूप कर्मद्वारा जगत्का निमित्त कारण है ।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—'यः सर्वज्ञः०' (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है जिसका तप केवल ज्ञानरूप ही है) 'सब पदार्थोंको जो सामान्यरूपसे जाननेके कारण सर्वज्ञ और विशेषरूपसे जाननेके कारण सर्ववित् है । ज्ञानात्मक ही तप है ।' इस प्रकारके सर्ववेतृत्व भूतयोनि परमेश्वर ही है । जीव भूतयोनि होना युक्त नहीं है। 'दिव्यो ह्यमूर्तः' (वह स्वप्रकाश पूर्ण प्रत्यगात्मा, सर्वव्यापक एवं जन्म रहित है) इस प्रकार भूतयोनिमें सर्वव्यापकत्व जन्मरहितत्व कहे गये हैं, वे परिच्छिन्न जन्मादि युक्त जीवमें संभव नहीं

त्परतः परः" इत्यक्षरशब्दवाच्यात्प्रधानाद्भेदेन भूतयोनेः परत्वाभिधानात्। तस्मादीश्वरो भूतयोनिः ॥ ६ ॥

(सप्तमे परमेश्वरस्यैव वैश्वानरत्वाधिकरणे सूत्राणि—) ।

[७ वैश्वानराधिकरण सू० २५–३३]

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २५ ॥ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २६ ॥ शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २७ ॥ अत एव न देवता भूतं च ॥ २८ ॥ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २९ ॥ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ ३० ॥ अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३१ ॥ संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३२ ॥ आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३३ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः ।
वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ॥ १३ ॥
द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते ।
वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥ १४ ॥

है, प्रधान भी भूतयोनि नहीं हो सकता, क्योंकि 'अक्षरात्परतः परः' इस तरह जो अक्षर शब्द वाच्य प्रधानसे भिन्न भूतयोनि पर-उत्कृष्ट कहा गया है। इससे परमेश्वर ही भूतयोनि है ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इस श्रुतिमें उक्त वैश्वानर जठराग्नि है, भूताग्नि है, देवता है, जीव है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्ष—वैश्वानर शब्द जठराग्निमें, भूताग्निमें एवं देवतामें रूढ है और आत्मशब्द जीवका वाचक है, अतः ईश्वरसे भिन्न इन चारोंमें ही कोई एक वैश्वानर शब्दसे कहा गया है।

सिद्धान्त—'वैश्वानरस्य मूर्धैव' (वैश्वानरका द्युलोक मस्तक है) इत्यादिसे वैश्वानरके अवयवोंका वर्णन है और 'को न आत्मा' 'किं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्म शब्द ईश्वरमें इष्ट है। इस तरह योगवृत्तिसे वैश्वानर शब्द और मुख्यवृत्तिसे आत्मशब्द ये दोनों ईश्वरके वाचक हैं।

छान्दोग्यस्य पञ्चमाध्याये वैश्वानरविद्यायामाम्नायते 'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (१२।२) इति। किमयं वैश्वानरः कुक्षिस्थितोऽग्निः किंवा भूताग्निः, आहोस्वित् आदित्यदेवता किंवा जीवात्मा, अथवा परमात्मा, इति संशयः। तत्र वैश्वानरशब्दवशादाद्यं पक्षत्रयं प्राप्तम्। 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे (येनेदमन्नं पच्यते)' (बृ० ५।९) इति श्रुतौ वैश्वानरशब्दो जाठराग्नौ प्रयुक्तः। 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरम्' (ऋ० कृ० सं० १०।६८।१८) इति बाह्येऽग्नौ प्रयुक्तः। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम्" इति देवतायां प्रयुक्तः। अतः पक्षत्रयमुपपद्यते। आत्मशब्दस्य जीवे रूढत्वाज्जीवो वा वैश्वानरः स्यात्। न त्वीश्वरः, तद्गमकाभावात्। इति प्राप्ते।

ब्रूमः—वैश्वानरो ब्रह्म भवितुमर्हति। द्युमूर्धत्वादिश्रवणात्। 'तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' (१८।२) इत्यादिना द्युलोकाद्यशेषजगतो वैश्वानरावयवत्वं श्रूयते। न चैतदीश्वरादन्यत्र संभवति। किंच "को न आत्मा, किं ब्रह्म" इति ब्रह्मशब्दस्येश्वरे मुख्यः। वैश्वानरशब्दस्तु

छान्दोग्योपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें वैश्वानरविद्यामें यह श्रुति है—'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (जो वैश्वानरकी आत्मरूपसे उपासना करते हैं) यहां संशय होता है कि क्या यह उक्त वैश्वानर शब्द उदरस्थ जठराग्नि है, भूताग्नि है, आदित्य देवता है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ?

पूर्वपक्षी—यहां वैश्वानर शब्दके प्रयोगसे प्रथम तीन वैश्वानर हैं, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि 'अयमग्निर्वैश्वानरो'० (यह अग्नि वैश्वानर है जो यह शरीरके भीतर है, जिससे यह खाया हुआ अन्न पचता है) इस प्रकार श्रुतिमें उक्त वैश्वानर शब्द जठराग्निमें प्रयुक्त है। 'विश्वस्मा' (देवताओंने सब भुवनोंके लिये वैश्वानर अग्निको दिवसोंका चिह्न बनाया अर्थात् सूर्य बनाया) इस श्रुतिमें वैश्वानर शब्द बाह्य-लौकिक अग्निमें प्रयुक्त है। 'वैश्वानरस्य' (वैश्वानरकी सुमतिमें हम लोग रहें अर्थात् हम लोगोंके प्रति वैश्वानरकी अच्छी बुद्धि हो) इस श्रुतिमें वैश्वानर शब्द देवतामें प्रयुक्त है। अतः पहलेके तीन पक्ष उपपन्न होते हैं। अथवा जीव वैश्वानर हो सकता है, क्योंकि आत्मशब्द रूढ है। परन्तु ईश्वर तो वैश्वानर नहीं हो सकता, कारण, उसका बोधक कोई शब्द नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—वैश्वानर ब्रह्म ही होना चाहिए, क्योंकि द्युलोक मूर्धा है, इत्यादि श्रुति है। 'तस्य ह वा'० (उस वैश्वानर आत्माका मस्तक अति तेजस्वी है) इत्यादिसे द्युलोक आदि सम्पूर्ण जगत् वैश्वानरका अवयवरूपसे सुना जाता है। वह

योगवृत्त्या ब्रह्मणि वर्तते। विश्वश्चासौ नरश्च विश्वानरः। सर्वात्मकपुरुष इत्यर्थः। विश्वानर एव वैश्वानरः। आत्मशब्दश्च जीववद्ब्रह्मण्यपि वर्तते। तस्मात्-वैश्वानरः परमेश्वरः ॥ ४ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	७	१८
सूत्राणि	३२	६५

ईश्वरसे भिन्नमें सम्भव नहीं है। किञ्च 'को न आत्मा' 'किं ब्रह्म' (हमारी आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ?) इस प्रकार ब्रह्म शब्द ईश्वरमें मुख्य है, वैश्वानर शब्द तो योगवृत्तिसे ब्रह्ममें है। 'विश्व ही यह नर वैश्वानर है, अर्थात् सर्वात्मक पुरुष' यह अर्थ है' विश्वानर ही वैश्वानर है और आत्मशब्द जीवके समान ब्रह्ममें भी प्रयुक्त है। इससे वैश्वानर परमेश्वर ही है ॥ ७ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीत वैयासिकन्यायमालाके प्रथमाध्यायके तृतीयपादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ३ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गाना प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः]

(इस पादमें ज्ञेय ब्रह्म विषयक अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्गोंका प्रायः विचार है)।

(प्रथमे ब्रह्मण एव द्युभ्वाद्यायतनत्वाधिकरणे सूत्राणि—)।

(१ द्युभ्वाद्यधिकरण सू० १-७)

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥ नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥ प्राणभृच्च ॥ ४ ॥ भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥ प्रकरणात् ॥ ६ ॥ स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

प्रथमाधिकरणमारचयति—

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत्।
श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः ॥ १ ॥

नाऽऽद्यो पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः ।
ब्रह्मप्रकरणाद्दोशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥(२।२।५) इति।

'द्युलोकभूलोकाद्यशेषं जगद्यस्मिन्नाधारे आश्रितम्, तमाधारमेकमेवाऽऽत्मानं जानीथ, न त्वाश्रितं द्युपृथिव्यादि। इतोऽतिरिक्ता अनात्मप्रतिपादिकास्तर्कशास्त्रादिवाचो विमुञ्चथ, अपुरुषार्थत्वात्, इत्यर्थः। अत्र (संशयः)- किं द्युभ्वाद्यायतनं सूत्रात्मा, किंवा प्रधानम्, अथवा भोक्ता, आहोस्विदीश्वरः, इति संदेहः। सूत्रात्मा स्यात्। "वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' (बृह० ३।७।२) इति श्रुति-

---

प्रथमाधिकरणकी रचना करते है—

सन्देह—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी' इत्यादि श्रुतिमें उक्त द्युलोक आदिका आधार सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) है, प्रधान है, जीव है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्ष—श्रुति-प्रसिद्धि, स्मृति-प्रसिद्धि और आत्मशब्दसे ज्ञात होता है कि ईश्वरसे भिन्न सूत्रात्मा, प्रधान अथवा जीव द्यु-भू आदिका आधार है ।

सिद्धान्त—श्रुतिमें आत्मशब्द होनेके कारण सूत्रात्मा और प्रधान द्यु-भू आदिका आधार नहीं हो सकते, जीव भी आधार नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त आधार मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य कहा गया है। ब्रह्मका प्रकरण होनेसे ब्रह्म आधार है तथा सर्वज्ञत्व आदि धर्म ब्रह्ममें ही युक्त हैं। अतः द्यु, भू आदिका आधार ब्रह्म ही है।

मुण्डकोपनिषद्में 'यस्मिन्द्यौः०' (जिसके द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष मन सहित सब इन्द्रियाँ आश्रित हैं उस एक आधारको ही आत्मा जानो, आश्रित द्यु, पृथिवी आदिको नहीं, अनात्म प्रतिपादक तर्कशास्त्र आदि वाणियोंको छोड़ो, यही मोक्षका हेतु (आधार है) यह श्रुति है। 'द्युलोक, भूलोक आदि सारा जगत् जिस आधारके आश्रित है। उस एक आधारको ही आत्मा जानो, आश्रित द्यु भू आदि को नहीं, इससे भिन्न अनात्म प्रतिपादक तर्कशास्त्र आदि वाणियोंको छोड़ो, क्योंकि वे पुरुषार्थ नहीं हैं।' यही अर्थ है।

इसमें संशय होता है कि क्या द्यु, भू आदिका आयतन सूत्रात्मा है, अथवा प्रधान है, जीव है वा ब्रह्म है ? ऐसा सन्देह है।

पूर्वपक्षी—सबका आधार सूत्रात्मा है। क्योंकि 'वायुना वै०' (हे गौतम ! सूत्रात्मावायुसे यह लोक, परलोक, सब भूत गूंथे हुए हैं) इस श्रुति प्रसिद्धिसे सूत्रात्मा वायु

प्रसिद्धया वायोः सूत्रात्मनो द्युम्वाद्यायतनत्वावगमात्। प्रधानं वा स्यात्, तस्य साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धया सर्वाधारत्वावगमात्। भोक्ता वा स्यात्, तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्' इत्यात्मशब्दात्। इति प्राप्ते—

ब्रूमः—न तावदाद्यौ पक्षौ सम्भवतः, उक्तस्याऽऽत्मशब्दस्य तयोरसंभवात्। नापि भोक्ता।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परं साम्यमुपैति ॥ (मु० ३।३)

इति द्युम्वाद्यायतनस्य मुक्तपुरुषप्राप्यत्वश्रवणाद्भोक्तुर्जीवस्य तत्प्राप्यत्वासंभवात्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्रान्तम्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्युपसंहृतम्। ततो ब्रह्मप्रकरणाद्भूतयोन्यधिकरणोक्तसर्वज्ञत्वादियुक्तेरपि ब्रह्मैव द्युम्वाद्यायतनम् ॥ १ ॥

(द्वितीये परमात्मन एव भूमत्वाधिकरणे सूत्रे)

(२ भूमाधिकरण सू० ८-९)

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥ धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

द्यु, भू आदिका आयतन अवगत होता है। अथवा प्रधान आयतन हो सकता है, क्योंकि वह साङ्ख्यस्मृतिकी प्रसिद्धिसे सबका आधार अवगत होता है। अथवा जीव हो सकता है, क्योंकि 'तमेवैकं०' (उसी एकको आत्मा जानो) इसमें आत्मशब्द है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रथम दो पक्ष वायु और प्रधान आधार नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंमें आत्मशब्दका संभव नहीं है। जीव भी आधार नहीं हो सकता, क्योंकि 'यदा पश्य०' (जब साधक कर्ता ब्रह्मयोनि नियन्ता ज्योतिःस्वरूप पुरुषको देखता है, तब ब्रह्मवित् पुण्य पापसे मुक्त होकर मायातीत परम ब्रह्मको प्राप्त होता है) इस प्रकार द्यु, भू आदिका आधार मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य सुना गया है, परन्तु भोक्ता जीव तो मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य नहीं हो सकता। 'कस्मिन्नु०' (हे भगवन्! किससे ज्ञात होनेपर यह सब विज्ञात हो सकता है) इस प्रकार एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानका उपक्रम है। 'ब्रह्मवेद'० (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है) इस तरह उपसंहार किया गया है। अतः ब्रह्मका प्रकरण है और भूतयोनि अधिकरणमें उक्त सर्वज्ञत्वादि ब्रह्ममें संगत हैं, इसलिए द्यु, भू आदिका आधार ब्रह्म ही है ॥ १ ॥

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात्।
अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेरस्त्वसुरेव सः ॥ ३ ॥
विच्छिद्यैष त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा।
महोपक्रम आरम्भोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् ॥ ४ ॥

छान्दोग्ये सप्तमाध्याये नारदं प्रति सनत्कुमारो नामादीन्युत्तरोत्तरभूयांसि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्यान्ते निरतिशयं भूमानमुपदिशति—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (७।२३।२४) इति। तत्रभूमशब्दवाच्ये द्विधा संदिग्धे सति 'प्राणः' इति तावत्प्राप्तम्। प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात्। पूर्वेषु नामादितत्त्वेषु 'अस्ति भगवो भूयः' इति नारदः पदे पदे पृच्छति। सनत्कुमारश्च 'अस्ति' इति प्रतिवक्ति। एवं च प्रश्नप्रतिवचनपूर्वकतया नामादीनि प्राणान्तानि तत्त्वान्युपदिश्य प्राणस्योपरि विनैव प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां भूमानमवतारयति। अतः प्राणभूम्नोर्मध्ये विच्छेदकस्याभावात्प्राण एव भूमा।

द्वितीयाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें प्रतीयमान भूमा प्राण है अथवा परमात्मा ?

पूर्वपक्ष—प्राणके उपदेशके अनन्तर उससे आधिक्यका प्रश्न और उत्तर नहीं है और अतिवादित्वकी अनुवृत्ति कर भूमाका उपदेश है, इस कारण वह भूमा प्राण है।

सिद्धान्त—'एष तु वा अतिवदति' इसमें इस 'तु' शब्दसे प्रकरणका विच्छेदकर 'यः सत्येनातिवदति' इसमें सत्यशब्दसे अग्रिम अवान्तर प्रकरणका आरम्भ है, तथा महोपक्रममें आरम्भशब्द है, एवं 'यत्र नान्यत्पश्यति' इससे द्वैतका निषेध किया गया है, अतः यह श्रुत्युक्त भूमा परमात्मा ही है।

छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें नारदके प्रति सनत्कुमारने नाम आदिसे उत्तरोत्तर अधिक बहुत तत्त्वोंका उपदेश कर अन्तमें 'यत्र नान्यत्पश्यति०' (जहाँ अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता वह भूमा है) निरतिशय भूमाका उपदेश किया है।

यहाँपर भूमा शब्द वाच्य प्राण और परमात्माके विषयमें सन्देह होने पर—

पूर्वपक्षी—प्राण भूमा है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि इससे आगे प्रश्न और उत्तर नहीं हैं ? पूर्व प्रतिपादित नाम आदि तत्त्वोंमें नारदने पद-पद पर पूछा है कि (हे भगवन् ! इससे भी बड़ा है ?) सनत्कुमारने उत्तर दिया कि 'अस्ति' है। इस प्रकार प्रश्न और प्रतिवचन पूर्वक नाम आदिसे लेकर प्राण पर्यन्त तत्त्वोंका उपदेश कर प्राणके ऊपर प्रश्न और उत्तरके विना ही भूमाका अवतरण किया है। अतः प्राण

किंच प्राणतत्त्वमुपदिश्य प्राणोपासकस्यातिवादित्वनामकमुत्कर्षमभिधाय प्रकरणविच्छेदशंकानिवृत्तये तदेवातिवादित्वमनुवर्त्य भूमानमुपदिशन्प्राण-भूम्नोरभेदं गमयति। तस्मात्प्राणो भूमा।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अयं भूमा परमेश्वरः। कुतः। 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' (७।१६।१) इत्यत्रातिवादित्वहेतुं प्राणोपासनं तुशब्देन व्यावर्त्य मुख्यातिवादित्वहेतोर्ब्रह्मणः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात्। तथा परमोपक्रमे 'तरति शोकमात्मवित्' (७।१।३) इति वेद्यतया परमात्मोच्यते। तथा 'यत्र नान्यत्पश्यति' इति द्वैतनिषेधेन भूम्नो लक्षणमभिधीयते। तस्मात्-अद्वैतः परमात्मैव भूमा ॥ २ ॥

(तृतीये ब्रह्मण एवाक्षरताधिकरणे सूत्राणि)

[३ अक्षराधिकरण सू० १०-१२]

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥ सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

अक्षरं प्रणवः किंवा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा।
वर्णे प्रसिद्धा तेनात्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥ ५ ॥

और भूमाके बीचमें प्रकरणका विच्छेद नहीं है, इससे प्राण भूमा है। किञ्च प्राण तत्त्वका उपदेश कर प्राणोपासकमें अतिवादित्व नामक उत्कर्ष कह कर प्रकरण विच्छेद की शङ्काकी निवृत्तिके लिए उसी अतिवादित्वकी अनुवृत्ति कर भूमाका उपदेश करते हुए प्राण और भूमामें अभेद बोध कराया है। इससे प्राण ही भूमा है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह श्रुत्युक्त भूमा परमेश्वर है, क्योंकि 'एष तु वा०' (परन्तु वही अतिवादी है जो सत्यसे अतिवादी है) इसमें अति-वादित्वके हेतुभूत प्राणोपासनाकी 'तु' शब्दसे व्यावृत्ति कर मुख्य अतिवादित्वके हेतु भूत ब्रह्मका सत्यशब्दसे उपक्रम किया है। इसी प्रकार परमोपक्रममें 'तरति शोकमा-त्मवित्०' (आत्मवेत्ता शोकसे मुक्त हो जाता है) यहाँ परमात्मा ही वेद्यरूपसे कहा गया है। तथा 'जहाँ अन्यको नहीं देखता' यहाँ द्वैतके निषेधसे भूमाका लक्षण कहा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अद्वितीय परमात्मा ही भूमा है ॥ २ ॥

तृतीयाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'एतद्वैतदक्षरं गार्गि' इत्यादि श्रुतिमें पठित 'अक्षर' ओंकार है अथवा ब्रह्म है ?

अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः ।
शासनाद्द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते ॥ ६ ॥

बृहदारण्यके तृतीयाध्याये गार्गीं प्रति याज्ञवल्क्य आह—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (३।८।८) इति । अत्र अक्षर-शब्देन प्रणवो ब्रह्म वाऽभिधीयते' इति संदेहे 'प्रणव.' इति प्राप्तम् । कुतः । लोके 'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य' इत्यादौ वर्णेऽक्षरशब्दप्रसिद्धेः । प्रणवा-क्षरस्योपास्यतया वक्तव्यत्वात् । इति प्राप्ते—

ब्रूमः—ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम् । कुतः । 'एतस्मिन्नखल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (३।८।७) इत्याकाशशब्दवाच्यमव्याकृतं प्रत्यक्षरस्याऽऽ-धारत्वोक्तेः । प्रणवस्य तदसंभवात् । किंच 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यक्षरे सर्वसंसारधर्मा निषिध्यन्ते । तथा 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (३।८।९) इति तस्यैवाक्षरस्य जगच्छासि-तृत्वमुच्यते । तथा 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ' (३।८।११)

पूर्वपक्ष—लोकमें 'अक्षर' पद वर्ण-ओंकारमें प्रसिद्ध है । इससे यहाँ 'अक्षर' से ओङ्कार ही उपास्यरूपसे कहा गया है ।

सिद्धान्त—'अक्षर' अव्याकृत आकाशका आधार सब धर्मोंसे अतीत सम्पूर्ण जगत्का शासक एवं द्रष्टा कहा गया है, इससे अक्षर ब्रह्म ही कहा जाता है ।

बृहदारण्यके तृतीय अध्यायमें गार्गीके प्रति याज्ञवल्क्यने कहा—(हे गार्गी ! यह वही अक्षर है जिसे ब्राह्मण न स्थूल कहते हैं न सूक्ष्म और न ह्रस्व) ।

यहाँ 'अक्षर' शब्दसे ओंकारको कहा जाता है अथवा ब्रह्मको ? ऐसा सन्देह होने पर—

पूर्वपक्षी—यहाँ 'अक्षर' शब्दसे ओंकारका ही अभिधान है, ऐसा प्राप्त होता है ? क्योंकि लोकमें 'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य' इत्यादि स्थलोंमें अक्षर शब्दकी वर्णमें प्रसिद्धि है और यहाँपर प्रणवाक्षर उपास्यरूपसे कहा गया है । ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—ब्रह्म ही अक्षर शब्द वाच्य है, किससे ? इससे कि 'एतस्मिन्नखल्वक्षरे०' (हे गार्गी ! इस अक्षरमें आकाश-अव्याकृत ओत प्रोत है) इस श्रुतिमें 'अक्षर' आकाश शब्द वाच्य अव्याकृतका आधार कहा गया है । वर्णरूप ओंकारमें यह संभव नहीं है । किञ्च—'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्०' (स्थूल नहीं अणु, नहीं, ह्रस्व नहीं है) इस श्रुतिसे अक्षरमें संसारके सब धर्मोंका निषेध किया गया है । तथा 'एतस्यैवाक्षरस्य०' (हे गार्गी ! सूर्य और चन्द्रमा उसी अक्षरके शासन-प्रशासमें अवधृत होकर रहते हैं) इससे अक्षर सारे जगत्का शासिता कहा जाता है । एवं 'तद्वाएतदक्षरं०'

इत्यादिना द्रष्टृत्वादिकं प्रमाणाविषयत्वं चाऽऽम्नातम्। तदेतत्सर्वं न प्रणवपक्षेऽवकल्प्यते। तस्माद्—ब्रह्मैवाक्षरम् ॥ ३ ॥

(चतुर्थे परब्रह्मण ईक्षतिकर्मता (ध्येयता) धिकरणे सूत्रम्)

[४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण सू० १३]

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम्।
ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्मगम्यते ॥ ७ ॥
ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया।
भवेद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति ॥ ८ ॥

प्रश्नोपनिषदि श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (५।५) इति। तत्र ध्येयं वस्तु हिरण्यगर्भाख्यमपरं ब्रह्म, उत परं ब्रह्म' इति संशये सति 'अपरम्' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। 'स

(हे गार्गि ! वह अक्षर द्रष्टा है किन्तु अदृष्ट—उसे कोई देख नहीं पाता वह श्रोता है, परन्तु उसे कोई सुन नहीं पाता) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्म द्रष्टा, श्रोता और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अविषय कहा गया है। परन्तु यह सब प्रणव-ओंकार पक्षमें नहीं हो सकता, इससे ब्रह्म ही अक्षर है ॥ ३ ॥

चतुर्थाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यः पुनरेतं०' इस श्रुतिके तीन मात्रावाले प्रणवमें पर ब्रह्म ध्येय है अथवा अपर ब्रह्म अर्थात् ओंकारका अपरब्रह्म रूपसे ध्यान करना चाहिए अथवा परब्रह्मरूपसे ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मलोक गमन रूप सीमित फलके कथनसे ज्ञात होता है कि यहाँ अपर ब्रह्म ही ध्येय है।

सिद्धान्त—वाक्यके अन्तमें सर्वोत्कृष्ट विराट हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट-साक्षात्करणीय कहा गया है। पर और पुरुष शब्दोंसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा होती है। ब्रह्म ध्यानका ब्रह्मलोक प्राप्तिमात्र फल नहीं है किन्तु अन्तमें मुक्ति है अर्थात् क्रमसे मुक्तिरूप फल है। अतः परब्रह्म ही ध्येय है।

प्रश्नोपनिषद्में 'यः पुनरेतं' (जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरद्वारा इस पर पुरुषका ध्यान (उपासना) करता है) ऐसी श्रुति है। यहाँपर ध्येय वस्तु हिरण्यगर्भ संज्ञक अपर ब्रह्म है अथवा परब्रह्म ? ऐसा संशय होनेपर

पूर्वपक्षी—कहते हैं कि उक्त वाक्यमें अपर ब्रह्म ही ध्येय रूपसे कहा गया है' ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि 'स सामभि०' (वह उपासक सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँ-

सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' (प्र० ५।५) इति कमलासनलोकप्राप्तिफल-श्रवणात्। परब्रह्मध्यानस्य परमपुरुषार्थस्य तावन्मात्रफलत्वानुपपत्तेः। 'परं पुरुषम्' इति परशब्दविशेषणमपरस्मिन्नपि ब्रह्मण्युपपद्यते। तस्यापीतरापेक्षया परत्वात्। इति प्राप्ते—

ब्रूम—परमेव ब्रह्माभिध्येयम्। कुतः। ईक्षितव्यस्य परस्य ध्येयत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५।५) इति वाक्यशेषे श्रूयते। तस्यायमर्थः—य उपासनया ब्रह्मलोकं प्राप्तः स एतस्मात्सर्वजीवसमष्टिरूपादुत्कृष्टाद्धिरण्यगर्भादप्युत्कृष्टं सर्वप्राणिहृदये शयानं परमात्मानं पश्यति, इति। तत्रेक्षितव्यो यः परमात्मा स एव वाक्योपक्रमे ध्यानविषयत्वेनाभिप्रेत इत्यवगम्यते। परपुरुषशब्दाभ्यां तस्य प्रत्यभिज्ञानात्। न च ब्राह्मलोकप्राप्तिमात्रं फलम्, क्रममुक्तिसम्भवात्। तस्माद्—ब्रह्मैव ध्येयम् ॥ ४ ॥

(पञ्चमे ब्रह्मण एव दहराकाशत्वाधिकरणे सूत्राणि—)

(५ दहराधिकरण सू० १४-१८)

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

जाया जाता है) इस श्रुतिमें उपासकके लिए ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप फल कहा गया है। परब्रह्मका ध्यान परम पुरुषार्थ है उसका फल केवल ब्रह्मलोक प्राप्ति संभव नहीं है। 'परं पुरुषम्, इस श्रुतिमें 'पर' पद विशेषण भी अपर ब्रह्म में उपपन्न होता है, क्योंकि वह भी अन्योंकी अपेक्षा पर ही है। ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—यहाँपर परब्रह्म ही ध्येय है। क्योंकि ईक्षितव्य परकी ध्येयरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है। 'स एतस्माज्जीवघनात्०' (वह उपासक इस जीवघन स्वरूप हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट सब शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परमात्माको देखता है) ऐसा वाक्यशेषमें सुना जाता है। उसका यह अर्थ है—जो उपासक उपासनाद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचता है, वह इस सर्व जीव समष्टिरूप उत्कृष्ट हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट सब प्राणियोंके हृदयमें वास करनेवाले परमात्माको देखता है। यहाँ पर ऐसा ज्ञात होता है कि साक्षात्कार करने योग्य जो परमात्मा कह गया है वही वाक्यके उपक्रममें ध्येय-रूपसे अभिप्रेत है, कारण कि 'पर' और 'पुरुष' शब्दोंसे उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। केवल ब्रह्मलोक प्राप्तिमात्र ही उसका फल नहीं है, क्योंकि उसके अनन्तर क्रम मुक्तिकी संभावना है। इससे यहाँ ब्रह्म ही ध्येय है ॥ ४ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥ इतरपरामर्शात्स इति चेन्ना-
संभवात् ॥ १८ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः ।
वियत्स्यादथवाऽल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥ ९ ॥
बाह्याकाशोपमाने न द्युभूम्यादिसमाहितेः ।
आत्माऽपहतपाप्मत्वासेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥ १० ॥

छान्दोग्यस्याष्टमाध्याये श्रूयते—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन्यदन्तः, तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (८।१।१) ब्रह्मण उपलब्धिस्थानत्वेन शरीरं ब्रह्मपुरम्। तत्राल्पं हृदयपुण्डरीकं वेश्म यद्वर्तते, तस्मिन्वेश्मन्यल्प आकाशो वर्तत इत्यर्थः। तत्राऽऽकाशस्य त्रेधा संशये सति 'वियत्' इति तावत्प्राप्तम्। आकाशशब्दस्य वियति रूढत्वात्। यद्वा दहरशब्देनाल्पत्वोक्तेः परिच्छिन्नो जीवो भविष्यति न तु ब्रह्म।

पंचमाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं' इस श्रुतिमें उक्त दहर भूताकाश है, जीव है अथवा ब्रह्म है।

पूर्वपक्ष—दहर भूताकाश हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें आकाश शब्द कहा गया है, आकाश शब्द भूताकाशमें प्रसिद्ध है। अथवा जीव दहर होगा, क्योंकि श्रुतिमें वह अल्प कहा गया है।

सिद्धान्त—बाह्य आकाशके साथ उपमा देने, द्यु, भू आदिका आधार होने, अत्यन्त पाप राहित्य आदि धर्मोंसे एवं लोकमर्यादाओंका संस्थापक होनेसे दहर परमेश्वर ही है।

छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायमें श्रुति है—'अथ यदिदमस्मिन्०' (इस ब्रह्मपुरमें जो छोटा सा हृदय कमल रूप है, उसमें छोटा-सा आकाश है, उसके अन्तर जो है वह अन्वेषण योग्य और विशेषरूपसे जिज्ञासितव्य है) 'ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान होनेसे शरीर ब्रह्मपुर है, उसमें हृदयकमल रूप छोटा-सा गृह है, उस गृहमें छोटा-सा आकाश है, यह श्रुत्यर्थ है। यहांपर आकाशमें सन्देह होता है कि वह भूताकाश है जीव है अथवा ब्रह्म है, इस तरह तीन प्रकारका सन्देह होने पर—

पूर्वपक्षी—कहता है कि वह भूताकाश ही है, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशमें

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवाऽऽकाशशब्दवाच्यम् । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (८।१।३) इति प्रसिद्धेन वियतोपमितत्वात् । न हि वियतो वियदुपमानं संभवति । नाप्यल्पपरिमाणो जीवो वियत्परिमाणेनोपमातुं शक्यः । लौकिकरूढिस्तु श्रौतरूढ्या परिहृता । किंच 'उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (८।१।३) इत्यादिना द्यावापृथिव्याद्यशेषजगदाधारत्वं दहराकाशस्य श्रूयते । 'अथैष आत्माऽपहतपाप्मा' (८।१।५) इत्यात्मत्वमपहतपाप्मत्वं च । 'य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इति जगन्मर्यादानामसांकर्याय विधारकत्वलक्षणसेतुत्वं च, तस्मादेतेभ्यो हेतुभ्यः परमात्मा ॥ ५ ॥

(षष्ठ'[1] ईश्वरस्यैवाक्षिपुरुषत्वाधिकरणे सूत्राणि)

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥ अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

रूढ है । अथवा दहर शब्दसे अल्पत्वके कथनसे परिच्छिन्न जीव हो सकता है, ब्रह्म तो कदापि नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्म ही आकाश शब्द वाच्य है, क्योंकि 'यावान्वा अयमकाशः०' (जितना बडा यह बाह्य आकाश है उतना ही बडा यह भीतरका आकाश है) इस श्रुतिमे प्रसिद्ध बाह्य आकाशसे उसकी उपमा की गई है । आकाशसे ही आकाशकी उपमा देना सम्भव नही है । अल्प परिमाण वाले जीवकी विशालतम परिमाणवाले आकाशके साथ उपमा नहीं दी जा सकती । जो यह कहा गया है कि आकाशशब्द भूताकाशमे प्रसिद्ध है, इस उक्त लौकिक रूढिका श्रुति प्रसिद्धसे परिहार किया गया है । किंच (जिसके अन्तर द्यु और पृथिवी दोनो स्थित हैं) इत्यादि श्रुतिसे दहराकाश द्यु, पृथिवी आदि सकल जगत्का आधार कहा गया है । 'अथैष०' (यह आत्मा पाप रहित है) इसमे आत्मत्व और पाप रहितत्व धर्म कहे गये हैं । 'य आत्मा०' (यह आत्मा जगत्की मर्यादाओंको नष्ट न होने देनेके लिए धारणकर्ता सेतु है) इस श्रुति वाक्यमे जगत्की मर्यादाओंके असंकरके लिए विधारकत्वरूप सेतु कहा गया है । इसलिए इन उक्त हेतुओंसे दहराकाश परमात्मा ही है ॥ ५ ॥

छठे अधिकरणकी रचना करते हैं—

---

१. भास्करके मतमे यह पृथक् अधिकरण नहीं है, उनके मतमे १४ से २१ सूत्र तक एक ही अधिकरण है।

य प्रजापतिविद्याया स किं जीवोऽथवेश्वरः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तोक्तेस्तद्वाञ्जीव इवोचित ॥ ११ ॥
आत्माऽपहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तम ।
पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥ १२ ॥

दहरविद्याया उपरि प्रजापतिविद्यायामिन्द्र विरोचनप्रजापतिसंवादे श्रूयते— 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।७।४) इति। तत्र—'जीवात्मा' इति प्राप्तम्। कुत । अवस्थात्रयोपन्यासात्। 'अक्षिणि पुरुष' इति जागरणोपन्यास ।

'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति स्वप्नोपन्यास । 'सुप्तः समस्तः संप्रसन्न स्वप्नं न विजानाति' (छा० ८।११।१) इति सुषुप्तोपन्यासः। एवमवस्थात्रय उपन्यस्ते तत्यवस्थावाञ्जीवो ग्रहीतुमुचित ईश्वरस्यावस्था-राहित्यात्।

सन्देह—प्रजापति विद्यामें जो पुरुष कहा गया है क्या वह जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ कही गई हैं, अत. उन अवस्थाओं वाला जीव ही उक्त विद्यामें प्रतिपादित है।

सिद्धान्त—श्रुतिमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ऐसे ब्रह्मका उपक्रम कर 'स उत्तम पुरुष' इस प्रकार उपसहारमें भी परमेश्वर ही कहा गया है। जाग्रत आदि अवस्थाओंका उपदेश परमेश्वरके बोधके लिए है। अत दहराकाश परमेश्वर है।

दहर विद्याके अनन्तर प्रजापति विद्यामें इन्द्र, विरोचन और प्रजापतिके संवादमें 'य एषोऽक्षिणि०' (जो यह चक्षुमें पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है, ऐसा प्रजापतिने कहा) उक्त श्रुतिमें प्रतिपादित पुरुष जीव है अथवा परमेश्वर ? यह सन्देह होनेपर—

पूर्वपक्षी—यह उक्त पुरुष जीवात्मा है, क्योंकि तीन अवस्थाओंका उपन्यास है। 'अक्षिणि पुरुष' इस प्रकार जाग्रत् अवस्थाका 'य एष स्वप्ने महियमानश्चरति०' (यह जो स्वप्नमें वासनामय विषयोंसे पूज्यमान विचरता है) इस तरह स्वप्नावस्थाका 'सुप्त समस्त सम्प्रसन्न स्वप्न न विजानाति०' (जब पुरुष गाढ निद्रामें सोता है उसकी सब इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार त्याग देती हैं, प्रसन्न रहता है, स्वप्नको नहीं देखता) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थाका उपन्यास है। इस प्रकार तीन अवस्थाओंका उपन्यास होनेपर यहाँ अवस्थाओंवाले जीवका ही ग्रहण युक्त है। ईश्वरका नहीं, क्योंकि वह तीन अवस्थाओंसे रहित है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ईश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः। कुतः। 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८।७।१) इति परमात्मानमुपक्रम्य 'स उत्तमः पुरुषः' इत्यनेन परमात्मन एवोपसंहारात्। न चैवं सति जागरणाद्युपन्यासवैयर्थ्यम्। शाखाचन्द्रन्यायेन परमात्मबोधोपयुक्तत्वात्, तस्मादीश्वरोऽक्षिपुरुषः॥ ६॥

(सप्तमे चैतन्यस्य सर्वजगद्भासकत्वाधिकरणे सूत्रे)

(७ अनुकृत्यधिकरण सू० २२-२३)

अनुकृतेस्तस्य च॥ २२॥ अपि च स्मर्यते॥ २३॥

सप्तमाधिकरणमारचयति।

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोन्तरमुतात्र चित्।
तेजोभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत्॥ १३॥
चित्स्यात्सूर्याद्यभास्यत्वात्तादृक्तेजो प्रसिद्धितः।
सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्यभासनात्॥ १४॥

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहाँ ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'य आत्मा०' (यह आत्मा पापरहित, जरा रहित, मृत्यु रहित है) इस प्रकार परमात्माका उपक्रमकर 'स उत्तमः पुरुषः०' इससे परमात्माका ही उपसंहार किया गया है। ऐसा होनेपर भी जाग्रत् आदि अवस्थाओंका उपन्यास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि शाखाचन्द्रन्यायसे उनका कथन परमात्माके बोधके लिए उपयुक्त है। इसलिए अक्षिपुरुष परमेश्वर ही है॥ ६॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'न तत्र सूर्यो भाति०' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादित जगद्भासक सूर्यादिसे अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर तेजस्वी पदार्थ है अथवा चेतन ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—सूर्य आदि तेजका अभिभावक होनेके कारण यह सूर्यादिसे अतिरिक्त कोई विपुल तेज हो सकता है।

सिद्धान्त—सूर्य आदिसे भास्य न होने, सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाले किसी अन्य तेजके अप्रसिद्ध होने, सबसे पहले भान होने एवं अपनी भासे अन्य सबको भासित करनेके कारण उक्त श्रुतिमें कथित जगद्भासक चिद्रूप ब्रह्म ही है।

मुण्डकोपनिषद्में श्रुति है—'न तत्र सूर्यो भाति०' (वहाँ उस आत्मस्वरूप ब्रह्ममें न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारा, न विद्युत् प्रकाशित होती है। इस लौकिक

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (२।१०) इति।

अयमर्थः—'तत्र पूर्वप्रकृते ज्योतिषा ज्योतिषि चन्द्रसूर्यादयो न भान्ति, किंतु तमेव ज्योतिषा भासकं पुरतो भासमानं पदार्थमनु सर्वं जगद्भाति। भासनदशाया न स्वतन्त्रेण भानेन जगद्भाति। किं तर्हि तस्य भासकपदार्थस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। 'अस्मिन्वाक्ये श्रूयमाणं जगद्भासकं किं सूर्यादिसदृशं चाक्षुषं तेजोन्तरम्, उत चैतन्यम्' इति संशये 'तेजोन्तरम्' इति प्राप्तम्। कुतः सूर्यादितेजोभिभावकत्वात्। महतस्तेजसः संनिधौ स्वल्पं तेजोऽभिभूयते। यथा सूर्यसंनिधौ दीपः। तथा च सूर्यादीनां यदभिभावकं तत्सूर्यादिभ्योऽप्याधिकं तेजोन्तरमेव।

इति प्राप्त उच्यते—सूर्यादिभिरभास्यतया श्रूयमाणं वस्तु चैतन्यम्। कुतः। सूर्याद्यभिभावकस्य महतस्तेजोन्तरस्याप्रसिद्धत्वात्। किंच 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति सर्वस्मात्पुरोभासमानत्वं चैतन्यधर्मः। तथा 'तस्य भासा

अग्निके विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। उस ब्रह्मके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसीके प्रकाशसे प्रकाशमान है) इस मन्त्रका यह अर्थ है—'पूर्व प्रकृत सब ज्योतियोंकी ज्योतिको लोक प्रसिद्ध सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योति प्रकाशित नहीं कर सकती, किन्तु सूर्य आदि सब ज्योतियोंके भासक उसी अलौकिक पदार्थके पहले भासित होनेपर ही सारा जगत् प्रकाशित होता है। जगत् अपनी प्रकाशन दशामें अपने स्वतन्त्र प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता, किन्तु उस सर्वभासक पदार्थके भाससे ही यह सब प्रकाशित होता है' यहांपर इस श्रुति वाक्यमें श्रूयमाण जगद्भासक क्या सूर्यादिके समान प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला कोई अतिरिक्त तेज है अथवा चैतन्य ब्रह्म है, ऐसा संशय होनेपर—

पूर्वपक्षी—यह अन्य तेज ही है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि वह सूर्य आदि तेजोंको अभिभूत करनेवाला है। महान् तेजके संनिधिमें स्वल्प तेज अभिभूत होता है, जैसे सूर्यके सामने दीपक। इससे सूर्यादिको अभिभूत करनेवाला सूर्य आदिसे भी अधिक कोई अतिरिक्त तेज है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—सूर्य आदिसे भी अभास्य होनेसे श्रूयमाण वस्तु चैतन्य ब्रह्म ही है। किससे? इससे कि सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाला कोई अन्य महा तेज प्रसिद्ध नहीं है। किंच (उसीके प्रकाशित होनेसे सब प्रकाशित होता है) इससे सबसे पहले भासना चैतन्य ब्रह्मका ही धर्म है। तथा-'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है' इस प्रकार प्रकाश और अप्रकाशरूप सारे जगत्का भासक चैतन्य

सर्वमिदं विभाति' इति प्रकाशाप्रकाशरूपसर्वजगद्भासकत्वं चैतन्यधर्म एव। तस्माच्चैतन्यं वाक्यप्रतिपाद्यम् ॥ ७ ॥

(अष्टमे परमेश्वरस्याङ्गुष्ठमात्रत्वाधिकरणे सूत्रे)

(८ प्रमिताधिकरण सू० २४-२५)

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥ हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारात् ॥ २५ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

अंगुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः।
देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ॥ १५ ॥
भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः।
स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृदयस्योपलब्धितः ॥ १६ ॥

कठवल्लीषु चतुर्थवल्ल्यामाम्नायते—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ (२।१।१२) इति।

तत्रांगुष्ठमात्रो जीवः। कुतः। 'अंगुष्ठमात्र:' इत्यल्पप्रमाणत्वात्। 'मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति देहमध्यदेशावस्थानाच्च।

का ही धर्म है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्यमे चैतन्य ब्रह्म ही कहा गया है ॥७॥

अष्टमाधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति०' इस श्रुतिमे उक्त अंगुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा परमेश्वर ?

पूर्वपक्ष—अंगुष्ठके समान अल्प परिमाण होने और देहके मध्यमे रहनेके कारण उक्त पुरुष जीव ही हो सकता है।

सिद्धान्त—जीव भूत एवं भविष्यत्का शासक नहीं हो सकता अतः वह ईश्वर है, हृदयमें ईश्वरकी उपलब्धि होती है, इससे हृदयमे स्थिति और अंगुष्ठके समान परिमाण ईश्वरमें भी संभव हैं, इसलिए उक्त वाक्यमे अगुष्ठमात्र पुरुष परमेश्वर ही है।

कठोपनिषद्की चतुर्थ वल्लीमें—'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो०' (अंगुष्ठमात्र पुरुष देहके मध्यमें रहता है, वह भूत और भविष्यत्का स्वामी है। ऐसा ज्ञात होनेपर जीव अपना रक्षण नहीं चाहता) यह श्रुति है।

सन्देह—यहाँ उक्त पुरुष जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्षी—यहाँ उक्त अंगुष्ठमात्र पुरुष जीव है, क्योंकि 'अंगुष्ठमात्रः' इस प्रकार अल्प परिमाण और 'मध्य आत्मनि तिष्ठति'देहके मध्यदेशमें स्थिति कही गई है।

इति प्राप्ते ब्रूम.—परमात्माऽङ्गुष्ठमात्रः। कुतः। 'ईशानो भूतभव्यस्य' इत्यतीतानागतजगदीशितृत्वश्रवणात्। नचेशितृत्वं जीवेऽस्ति, जीवस्येशितव्यत्वात्। अल्पप्रमाणत्वं देहमध्येऽवस्थानं चेश्वरस्यापि संभवतः। हृदयपुण्डरीके ब्रह्मण उपलम्भात्तदपेक्षया तदुभयसंवीर्तनात्। तस्मादङ्गुष्ठमात्रः परमेश्वर.॥ ८॥

(नवमे देवादीनामप्यधिकारित्वाधिकरणे सूत्राणि)

(९ देवताधिकरण सू० २६–३३)

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥२६॥ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७॥ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८॥ अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९॥ समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३०॥ मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनि. ॥ ३१॥ ज्योतिषि भावाच ॥ ३२॥ भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३॥

नवमाधिकरणमारचयति—

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवा. किंवाऽधिकारिणः।
विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥ १७॥
अविरुद्धज्ञातवादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वत ।
अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद्देवाद्या अधिकारिणः ॥ १८॥

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अगुष्ठमात्र परमात्मा ही है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य०' (वह भूत और भविष्यत्‌का शासिता है) यह श्रुति उसे अतीत और भविष्यत् जगत्‌का शासिता कहती है। जीव शासिता नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव स्वय शास्य है। अल्पपरिमाण एवं देहके मध्यमें स्थिति ईश्वरमें भी संभव है। ब्रह्मकी हृदयकमलमें उपलब्धि होती है, इसलिए हृदयकी अपेक्षा ईश्वरमें दोनोंका कथन किया गया है। अत अगुष्ठमात्र पुरुष परमेश्वर ही है॥ ८॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मविद्यामें देवता अधिकारी हैं अथवा अधिकारी नहीं हैं ?

पूर्वपक्ष—शरीर और सामर्थ्यके न होनेसे उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है।

सिद्धान्त—प्रमाणान्तरसे अविरुद्ध अर्थवाद आदि एवं मन्त्रादिसे ज्ञात होता कि देवता शरीरवाले हैं, अत उनमें अर्थित्वादि सुलभ हैं, इससे देवादि ब्रह्म विद्यामें अधिकारी हैं।

बृहदारण्यके प्रथमाध्याये श्रूयते—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्' (बृह० १।४।१०) इति। 'देवानां मध्ये यो ब्रह्म बुबुधे स एव ब्रह्माभवत्' इत्यर्थः। तत्र देवर्षयो विद्याया नाधिक्रियन्त इति प्राप्तम्। कुतः। 'अर्थी समर्थो विद्वाञ्शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिक्रियते' इत्युक्तानामधिकारहेतूनामशरीरेषु देवेष्वसंभवात्। न च मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवाना विग्रहवत्त्वम्। विध्येकवाक्यतापन्नानां मन्त्रादीना स्वार्थे तात्पर्याभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—त्रिविधो ह्यर्थवादः। गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति। तथा चाऽऽहु—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥ इति।

बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रथम अध्यायमें 'तद्यो यो०' (देवताओमे से तथा ऋषियोमे से जिस जिसने ब्रह्मको जाना वह ब्रह्म ही हो गया) यह श्रुति है। 'देवताओके मध्यमें जिसने ब्रह्मको जाना वही ब्रह्म हुआ, यह अर्थ है। यहाँपर—

पूर्वपक्षी—कहता है कि देवता और ऋषियोका ब्रह्मविद्यामे अधिकार नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योकि अर्थी, समर्थ, विद्वान्, शास्त्रसे अनिषिद्ध ही अधिकृत होता है। इन उक्त अधिकारके हेतुओका शरीर रहित देवताओमे संभव नही है। मन्त्र एवं अर्थवाद आदिसे भी देवताओका शरीरवत्त्व जाना नहीं जा सकता है। क्योकि विधिके साथ एक वाक्यताको प्राप्त हुए मन्त्रादिका स्वार्थमे तात्पर्य नही हो सकता।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते है—अर्थवाद तीन प्रकारका है–गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। अब इन्हे इस प्रकार कहते हैं—'विरोधे गुणवादः०' (प्रत्यक्षादिके विरोधमे गुणवाद, प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे निश्चित अर्थमे अनुवाद, जहाँपर दोनो न हों वहाँ भूतार्थवाद, इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकारका है) यथा–'आदित्यो यूपः' (आदित्य यज्ञस्तम्भ है) ('यजमानः प्रस्तरः'–कुशमुष्टि है) इत्यादि अर्थवादोमे प्रत्यक्ष विरोध है, क्योकि आदित्य यज्ञस्तम्भ, यजमान कुशमुष्टि नही हो सकता। अतः आदित्यादि शब्दोंसे आदित्य आदिके समान यागका निर्वाहक गुण लक्षित होता है। यह गुणवाद[1]

---

१. जिस वाक्यका अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे विरुद्ध हो वहाँ विरोध परिहारार्थ गौणी वृत्ति मानकर समाधान किया जाता है। यथा 'आदित्यो यूपः' इस स्थलमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे यूप और आदित्य दोनोका भेद प्रतीत होता है, इससे दोनोमे अभेद विरुद्ध है। यूपमें जो आदित्यका तेजस्वित्व गुण है। उस गुणसे यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है, तो यहाँ 'आदित्यो यूपः' का 'आदित्य सदृशो यूपः' यह अर्थ है, इन

'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिषु प्रत्यक्षविरोधे सत्यादित्यादिवद्यागनिर्वाहकत्वगुण आदित्यादिशब्दैरुपलक्ष्यत इति गुणवादः। 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिषु मानान्तरसिद्धार्थानुवादित्वादनुवादत्वम्। तयोरुभयोः स्वार्थे तात्पर्यं मा भूत्। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादिष्वविरुद्धेष्वननुवादेषु च भूतार्थवादेषु स्वतः प्रामाण्यवादे स्वार्थे तात्पर्यस्य निवारयितुमशक्यत्वात्पदैकवाक्यतया स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्यं प्रतिपाद्य पश्चाद्वाक्यैकवाक्यतया विधिषु महातात्पर्यं भूतार्थवादाः प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रेष्वप्ययं न्यायो योज्यः। तथा च मन्त्रार्थवादादिबलाद्देवादीनां विग्रहवत्त्वे सति श्रवणादिषु सामर्थ्यं सुलभम्। अर्थित्वं चैश्वर्यस्य क्षयित्वसातिशयत्वदर्शनान्मोक्षसाधनब्रह्मविद्याविषयमुपपद्यते। विद्वत्ता चोपनयनाध्ययनरहितानामपि स्वयंभातवेदत्वात्सुलभैव। तस्माद्देवानां विद्याधिकारो न निवारयितुं शक्यः। यद्यप्यादित्यादिदेवतानामादित्यादिध्यानमिश्रासु सगुणब्रह्मविद्यासु ध्येयानामन्येषामादित्यादीनामसंभवात्, आदित्यत्वादिप्राप्तिलक्षणस्य विद्याफलस्य सिद्धत्वाच्च माऽस्त्वधिकारः, तथाऽपि निर्गुणविद्यायामधिकारे को दोषः। तस्मादस्त्येवाधिकारः।६।

है। 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाडेको औषधि है) 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्र गामी देवता है) इत्यादि अर्थवाद स्थलोंमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध अर्थका अनुवादादि होनेसे यह अनुवाद है। जहाँ गुणवाद और अनुवाद इन दोनोंका स्वार्थमें तात्पर्य न हो 'इन्द्रो वृत्राय०' (इन्द्रने वृत्रासुरको वज्रसे मारा) इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविरुद्ध एवं प्रत्यक्ष आदिमें ज्ञायमान अर्थका अनुवाद न करनेवाले भूतार्थवादोंके स्वतः प्रामाण्यवाद और स्वार्थमें तात्पर्यका निवारण नहीं किया जा सकता। भूतार्थवाद पदैकवाक्यतासे स्वार्थमें अवान्तर तात्पर्यका प्रतिपादन कर पश्चात् वाक्यैकवाक्यतासे विधियोंमें महातात्पर्यको प्राप्त करते हैं। मन्त्रोंमें भी इसी न्याय की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार मन्त्र और अर्थवादोंके बलसे देवतादिका शरीर है यह सिद्ध होनेपर वेदान्त श्रवण आदिमें उनकी सामर्थ्य सुलभ है, ऐश्वर्य नश्वर और सातिशय है, यह ज्ञान होनेके कारण मोक्ष एवं उसके साधन भूत ब्रह्मविद्या विषयक उनका अर्थित्व युक्त है। उनके उपनयन, वेदाध्ययन आदि न होनेपर भी वेदका स्वतः भान होनेके कारण उनमें विद्वत्ता भी सुलभ ही है। इसलिए ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार किसीसे भी निवारण नहीं किया जा सकता। यद्यपि अन्य ध्येय आदित्यादिके न होने एवं आदित्यत्वादि प्राप्ति रूप विद्याफलके सिद्ध होनेके कारण आदित्यादि देवताओंका आदित्यादि

तीनों वादोंका स्पष्टीकरण ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यपर की गई 'सत्यानन्दी-दीपिका' पृष्ट २६४ में द्रष्टव्य है।

(दशमे शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकाराधिकरणे सूत्राणि)

(१० * अपशूद्राधिकरण सू० ३४–३८)

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥ क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥ संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ।
अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥ १९ ॥
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते ॥ २० ॥

छान्दोग्यस्य चतुर्थाध्याये संवर्गविद्यायामाम्नायते 'आजहारेमाः शूद्र,[1] अनेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा.' (१।५) इति । जानश्रुतिर्नाम कश्चिच्छिष्यो गोसहस्र

ध्यान मिश्रित सगुणोपासनाओंमें भले अधिकार न हो तो भी निर्गुण ब्रह्मविद्यामें उनके अधिकार माननेमें कौन दोष है ? इससे ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार है ॥ ९ ॥

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जैसे त्रैवर्णिकेतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंसे भिन्न देवताओंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, वैसे ही शूद्र भी वेदविद्यामें अधिकारी हो सकता है ।

सिद्धान्त—देवता स्वतः वेद ज्ञानवाले होते हैं, शूद्रके लिए वेदाध्ययनका निषेध है । अतः शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है, किन्तु स्मार्त ज्ञानमें उसके अधिकारका निषेध नहीं किया जाता ।

छान्दोग्योपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें संवर्गविद्यामें 'आजहारेमाः शूद्र०' (हे शूद्र ! सहस्र गायें आदि जो तुम उपायन लाये हो, इसी कन्यारूप उपायनद्वारा मेरे चित्तको प्रसन्न-

---

* पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी प्रासङ्गिक संगति है ।

१. तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तं हाभ्युवाद । रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति । तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे (छा० ४।२।१-२) यह वहाँका प्रकरण है ।

दुहितरं मुक्ताहारं रथं कांश्चिद्ग्रामांश्चोपायनत्वेनाऽऽनीय रैक्वनामानं गुरुमुपससाद। तत्र रैक्ववचनमेतत्—'हे शूद्र जानश्रुते, इमा गोसहस्राद्या आहृतवानसि, अनेनैव दुहित्राद्युपायनमुखेन मच्चित्तं प्रसाद्योपदेशयिष्यसि' इति। तत्र 'शूद्रोऽपि वेदविद्यायामधिकारवान्' इति प्राप्तम्। अत्रैवर्णिकदेवदृष्टान्ताच्छूद्रस्याप्यत्रैवर्णिकस्य तत्संभवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम्। उपनयनाध्ययनाभावेऽपि स्वयंभातवेदा देवाः। तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्। शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयंभातवेदः। नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनाभवात्। अतो विद्वत्तारूपस्याधिकारहेतोरभावान्न श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी। कथं तर्हि—उदाहृते वाक्ये जानश्रुतिविषयः शूद्रशब्दः, यौगिकोऽयं न रूढ इति ब्रूमः। 'विद्याराहित्यजनितया शुचा गुरुं दुद्राव' इति शूद्रः। न च रूढ्या योगापहारः। रूढेरत्रासंभवात्। अस्मिन्नुपाख्याने क्षत्तृप्रेरणाद्यैश्वर्योपन्यासेन जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगमात्। ननु 'शूद्रस्य वेदविद्यायामनधिकारे सति

कर उपदेश कराओगे) यह श्रुति है। जानश्रुति नामक कोई शिष्य सहस्र गायें, कन्या, मोतियोंका हार, रथ, कुछ ग्राम उपहाररूपसे लेकर रैक्व नामक गुरुके समीप गया। वहांपर रैक्वका वचन यह है—'हे शूद्र जानश्रुति! सहस्र गौ आदि जो तुम उपायन लाये हो। इसी कन्या आदि उपहार द्वारा मेरे चित्तको प्रसन्नकर उपदेश कराओगे।'

पूर्वपक्षी—यहां शूद्र भी वेदविद्यामें अधिकारी है, ऐसा प्राप्त होता है। जैसे त्रिवर्ण रहित देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, वैसे ही अत्रैवर्णिक शूद्रका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार संभव है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—देवता और शूद्रमें वैषम्य है। उपनयन, अध्ययनके न होनेपर भी देवता इस प्रकारके पूर्वजन्म उपार्जित सुकृतसे स्वतः वेदोंके ज्ञानवाले होते हैं। शूद्र तो उस प्रकारके सुकृतसे रहित है, अतः उसे स्वयं वेद ज्ञान नहीं होता। उपनयनके न होनेसे उसके लिए वेदाध्ययन भी नहीं है। इसलिए विद्वत्तारूप अधिकार हेतुके अभाव होनेसे शूद्र श्रौतविद्यामें अधिकारी नहीं है। तो फिर उदाहृत वाक्यमें जानश्रुतिके लिए शूद्र शब्दका प्रयोग कैसे किया गया? इसपर हम कहते हैं—यह शूद्र शब्द यौगिक है रूढ नहीं। 'विद्या न होनेसे उत्पन्न शोकसे गुरुके पास गया' इससे शूद्र शब्द कहा गया। और रूढिसे यौगिक अर्थका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि रूढिका यहां संभव नहीं है। इस उपाख्यानमें सारथि भेजना आदि ऐश्वर्यके कथनसे प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय थे। शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार न होनेसे

मुमुक्षायां सत्यामपि मुक्तिर्न सिध्येत' इति चेत्, न। स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योदये सति मुक्तिसिद्धेः। तस्मान्न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते ॥१०॥

(एकादश ईश्वरस्यैव कम्पनहेतुताधिकरणे सूत्रम्)

[११ कम्पनाधिकरण सू० ३९]

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः ।
भयानिभंयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥ २१ ॥
वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः ।
भयहेतुश्चालनं तु सर्वशक्तियुतत्वतः ॥ २२ ॥

कठवल्लीषु षष्ठवल्ल्यामाम्नायते—

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (६।२) इति ॥

अयमर्थः—'निःसृतमुत्पन्नं यदिदं जगत्सर्वं प्राणे निमित्तभूते सति कम्पते। तच्च प्राणशब्दवाच्यं वस्तूद्यतं वज्रमिव महाभयहेतुः। एतत्प्राणशब्दवाच्यं ये

मोक्षकी इच्छा होनेपर उसकी मुक्ति सिद्ध नहीं होगी। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि स्मृति, पुराण आदि द्वारा ब्रह्मविद्याके उदय होनेपर मुक्ति सिद्ध है। इससे शूद्र वेदविद्यामें अधिकारी नहीं है ॥ १० ॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यदिदं किंच जगत्सर्वम्०' इस श्रुतिमें जगत्को कम्पित करनेवाला प्राण वज्र है, वायु है अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—भय जनक होनेके कारण प्राण वज्र है अथवा देहका संचालक होनेसे वायु हो सकता है।

सिद्धान्त—उक्त प्राणके ज्ञानसे मोक्ष प्राप्ति कही गई है, इससे वह ईश्वर ही है। वह अन्तर्यामी रूपसे भयका हेतु है और सर्वशक्ति सम्पन्न होनेसे देहादिका संचालक भी हो सकता है।

कठोपनिषद्की छठी वल्लीमें श्रुति है—'यदिदं किंच०' (उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् निमित्त भूत प्राणके रहते चेष्टा करता है, वह महान् भयरूप और हाथमें उठाए हुए वज्रके समान है जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं) 'उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् निमित भूत प्राणके रहते ही चेष्टा करता है। वह वस्तु जो प्राण शब्द वाच्य कही गई

विदुः, ते मरणरहिता भवन्ति' इति। तत्र जगत्कम्पनकारिणि प्राणे त्रेधा संदिग्धे सति 'अशनिः' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः? 'महद्भयम्' इति भयहेतुत्वश्रवणात्। वायुर्वा भविष्यति। 'प्राण एजति' इति प्राणशब्दवाच्यस्य देहादिचालनकर्तृत्वावगमात्।

इति प्राप्ते ब्रूम —ईश्वरः प्राणशब्दवाच्यो भवितुमर्हति 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इति तद्वेदनादमृतत्वोक्तेः। भयहेतुताऽप्यन्तर्यामिरूपेणेश्वरस्य भविष्यति। 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' (तै० २।८।१) इति श्रुत्यन्तरात्। देहादिकम्पनत्वं च सर्वशक्तित्वादीश्वरस्योपपद्यते। तस्मात्—ईश्वरः प्राणशब्दवाच्यः ॥ ११ ॥

(द्वादशे ब्रह्मण एव ज्योतिष्ट्वाधिकरणे सूत्रम्)

[१२ ज्योतिरधिकरण सू० ४०]

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत्।
समुत्थायोपसंपद्योर्युक्तया स्याद्रविमण्डलम् ॥ २३ ॥

है प्रहार करनेके लिए हाथमें उठाए हुए वज्रके समान महान् भयका हेतु है प्राण शब्द-वाच्य उस पदार्थको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं' यह अर्थ है। जगत्‌की चेष्टाके कारणभूत प्राणमें तीन प्रकारका सन्देह होता है—वह अशनि (वज्र) है, वायु है अथवा ईश्वर है।

पूर्वपक्षी—वह वज्र है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'महद्भयम०' इस प्रकार भय-का हेतु सुना गया है। अथवा वायु हो सकता है, क्योंकि 'प्राण एजति' इससे प्राणशब्द वाच्य देहादिका संचालन कर्ता अवगत होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ईश्वर ही प्राणशब्द वाच्य हो सकता है, क्योंकि 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति०' (जो उसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं) इस तरह उसके ज्ञानसे अमृतत्व कहा गया है। भय हेतु भी ईश्वरमें अन्तर्यामीरूपसे हो सकता है, कारण—'भीषाऽस्माद्वातः पवते०' (इसके भयसे वायु चलता है) यह अन्य श्रुति है। देहादिका कम्पन भी सर्वशक्ति सम्पन्न होनेके कारण ईश्वरमें उपपन्न होता है। इससे प्राणशब्द वाच्य ईश्वर ही है ॥ ११ ॥

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'एष सम्प्रसादो०' इस श्रुतिवाक्यमें पठित 'परज्योति' पद सूर्यमण्डलका वाचक है अथवा ब्रह्मका ?

समुत्थानं त्वंपदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् ।
संपत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादस्य साक्षितः ॥ २४ ॥

छान्दोग्येऽष्टमाध्याये प्रजापतिविद्यायामाम्नायते—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (८।१२।३) इति । अस्यायमर्थः—सम्यक्प्रसीदत्यस्यामवस्थायाम्, इति संप्रसादः सुषुप्तिः । तस्यामवस्थाया तद्वाञ्जीव उपलक्ष्यते । 'एष जीवोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इति । शेषं सुगमम् । तत्र ज्योतिःशब्दवाच्ये द्वेधा संदिग्धे सति 'रविमण्डलम्' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? 'शरीरात्समुत्थाय ज्योतिरुपसंपद्य' इति 'देहान्निर्गत्य ज्योतिः प्राप्नोति' इत्युच्यमानत्वात् । ब्रह्मप्राप्तौ निर्गमाभावात्प्राप्तृप्राप्तव्यभेदानुपपत्तेश्च ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म स्यात् । कुतः ? 'स उत्तमः पुरुषः' इत्युत्तमपुरुषकीर्तनाद्रविमण्डलस्य तदयोगात् । 'यो वेद—इदं जि-

---

पूर्वपक्ष—'इस शरीरसे निकलकर और पर ज्योतिको प्राप्तकर' इस कथनसे प्रतीत होता है कि परं ज्योति सूर्यमण्डल है ।

सिद्धान्त—यहाँपर समुत्थानका अर्थ निर्गमन और सम्पत्तिका अर्थ प्राप्ति नहीं है, किन्तु 'त्वं' पदार्थ—जीवका शोधन-स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे विवेक समुत्थान है और शोधित 'त्वं' जीवका ब्रह्मरूपसे ज्ञान सम्पत्ति है । श्रुतिमें 'उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार उत्तमताके कथनसे एवं सर्वसाक्षी होनेसे पर ज्योति ब्रह्म ही है ।

छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें प्रजापतिविद्यामें श्रुति है—'एष सम्प्रसादो०' (यह जीव इस शरीरसे समुत्थानकर पर ज्योतिको प्राप्तकर अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है वह उत्तम पुरुष है) इसका यह अर्थ है—'जिस अवस्थामें जीव अच्छी तरह प्रसन्न होता है वह संप्रसाद-सुषुप्ति अवस्था है । उस अवस्थामें उस अवस्थावाला जीव संप्रसाद शब्दसे लक्षित होता है' 'यह जीव इस शरीरसे समुत्थानकर' शेष सुगम है । यहाँ ज्योति शब्द वाच्यार्थमें दो प्रकारका सन्देह होता है कि वह सूर्यमण्डल है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्षी—यहाँ ज्योति शब्द वाच्य सूर्यमण्डल है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'शरीरात्समुत्थाय ज्योतिरुपसंपद्य०' 'शरीरसे निकलकर ज्योतिको प्राप्त होता है' ऐसा कहा गया है । ब्रह्म प्राप्तिमें निर्गमन नहीं होता, कारण—प्राप्तिकर्ता और प्राप्तव्यमें भेद नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ज्योतिशब्द वाच्य ब्रह्म ही है, क्योंकि 'स उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार श्रुतिमें 'उत्तम पुरुष' का कथन है, उसका सूर्यमण्डलसे

प्राणि—इति, स आत्मा। यो वेद—इदं शृण्वानि—इति, स आत्मा' इत्यादिना घ्रातृ-घ्राण-घ्रेय, श्रोतृ-श्रवण-श्रोतव्यादिसाक्षित्वमात्मनः श्रूयते। तदेकवाक्यतया ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म। यदुक्तम् 'शरीरात्समुत्थाय ज्योतीरूपं संपद्य' इत्येतद्द्वयं ब्रह्मपक्षे न संभवति—इति। तदसत्। न ह्यत्र समुत्थानं निर्गमनम्। किं तर्हि? त्वंपदार्थस्य जीवस्य शरीरत्रयाद्विवेकः। नाप्युपसंपत्तिः प्राप्तिः। किं तर्हि? तस्य शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मत्वेनावबोधनम्। तस्मात्—ज्योतिर्ब्रह्म॥ १२॥

(त्रयोदशे ब्रह्मण एव नामरूपनिर्वाहकत्वाधिकरणे सूत्रम्)

(१३ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण सू० ४१)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्॥ ४१॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति

विमद्या ब्रह्म वाऽऽकाशो वै नामेति श्रुतं, वियत्।
अवकाशप्रदानेन　सर्वनिर्वाहकत्वतः॥ २५॥
निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः।
ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः॥ २६॥

सम्बन्ध ही नहीं घटता। 'जो जानता है कि मैं इसे सूँघता हूँ 'वह आत्मा है'। 'जो जानता है कि मैं इसे सुनता हूँ वह आत्मा है' इत्यादिसे आत्मा घ्राता घ्राण घ्रेय, श्रोता, श्रवण, श्रोतव्य आदिका साक्षी सुना जाता है। श्रुतिके साथ एकवाक्यता करनेसे ज्योति शब्द वाच्य ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जो यह कहा गया है कि 'शरीरात्समुत्थाय ज्योतिरुपसंपद्य' ये दोनों ब्रह्मपक्षमें संभव नहीं हैं। वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ समुत्थानका अर्थ निर्गमन नहीं है, किन्तु 'त्वं' पदार्थ जीवका स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंसे विवेक है और उपसंपत्तिका अर्थ प्राप्ति भी नहीं है, किन्तु उस शोधित 'त्व' पदार्थ जीवका ब्रह्मरूपसे ज्ञान। इससे सिद्ध हुआ कि यहां ज्योति शब्द ब्रह्मका ही वाचक है॥ १२॥

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'आकाशो वै नाम०' इस श्रुतिमें पठित आकाश भूताकाश है अथवा ब्रह्म?

पूर्वपक्ष—अवकाश प्रदानद्वारा सबका निर्वाहक होनेसे श्रुतिमें उक्त आकाश भूताकाश ही है।

सिद्धान्त—यहां निर्वाहकत्वका अर्थ नियन्तृत्व है वह परमार्थतः चैतन्य ब्रह्ममें ही है। वाक्यशेषमें ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्द हैं, अतः श्रुत्युक्त आकाश ब्रह्म ही है।

छान्दोग्यस्याष्टमाध्यायस्यान्ते श्रूयते—'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म, तदमृतं स आत्मा' (८।१४।१) इति। अस्यायमर्थः—आकाशाख्यः कश्चित्पदार्थः स च जगद्रूपयोर्नामरूपयोर्निर्वहिता निर्वाहकः। ते च नामरूपे यस्मादाकाशाद्भिन्ने। अथवा—यस्याऽऽकाशस्यान्तराले वर्तेते। तदाकाशं मरणरहितं ब्रह्म, तदेव 'प्रत्यगात्मा' इति। तत्र 'आकाशो ह वै नाम, इति यच्छ्रुतं, तद्वियत्स्यात्। 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्युक्तस्य निर्वाहकत्वस्यावकाशप्रदातरि वियति संभवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अत्र निर्वाहकत्वं नाम नावकाशप्रदानमात्रम्। किंतु नियामकत्वम्। सर्वप्रकारनिर्वाहकत्वस्य नियन्तृत्वान्तर्भावात्। तच्च नियन्तृत्वं चेतनस्य ब्रह्मणो युज्यते। श्रुत्यन्तरे च श्रूयते—'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति न हि वियतोऽचेतनस्य नियम्यविशेषानजानतो नियन्तृत्वं संभवति। तत् आकाशं ब्रह्म स्यात्। किंच वाक्यशेषे "तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इति ब्रह्मत्वामृतत्वात्मत्वानि श्रूयन्ते। ततोऽपि ब्रह्मैवाऽऽकाशम् ॥ १३ ॥

छान्दोग्योपनिषद्के अष्टम अध्यायके अन्तमें श्रुति है—'आकाशो ह वै०' (निश्चय आकाश नामक कोई पदार्थ नाम और रूपका निर्वाहक है, वे नाम-रूप जिसके अन्तर हैं अथवा उससे भिन्न हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है वह आत्मा है) इसका यह अर्थ है—'आकाश नामक कोई पदार्थ है वह जगद्रूप नाम-रूपका निर्वहिता-निर्वाहक है। वे नाम-रूप जिस आकाशसे भिन्न हैं अथवा जिस आकाशके भीतर रहते हैं, वह आकाश मरणरहित ब्रह्म है, वही प्रत्यगात्मा है।'

पूर्वपक्षी—यहांपर 'आकाशो ह वै नाम०' इस श्रुतिमें जो आकाश कहा गया है वह भूताकाश है, क्योंकि 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इससे कथित निर्वाहकत्व अवकाश देनेवाले भूताकाशमें सम्भव है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहांपर निर्वाहकत्व अवकाश प्रदानमात्र नहीं है, किन्तु नियामकत्व है। क्योंकि सब प्रकारका निर्वाहकत्व-नियन्तृत्वके अन्तर्भूत होता है। वह नियन्तृत्व चेतन ब्रह्ममें ही युक्त है। कारण कि 'अनेन जीवेना०' (इस जीवरूपसे प्रवेशकर नाम-रूपको व्यक्त करूंगा) ऐसी अन्य श्रुति है। नियम्य पदार्थोंको न जाननेवाला अचेतन भूताकाश नियन्ता नहीं हो सकता। इससे श्रुत्युक्त आकाश ब्रह्म ही है। किंच 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इस प्रकार वाक्यशेषमें ब्रह्मत्व, अमृतत्व आत्मत्व धर्म कहे गये हैं। इससे भी उक्त आकाश ब्रह्म ही है ॥ १३ ॥

(चतुर्दशे ब्रह्मण एव विज्ञानमय वाचित्वरणे सूत्र)

(१४ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण सू० ४२ ४३)

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥ पत्यादिशब्देभ्य ॥ ४३ ॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते ।
आदिमध्यावसानेषु ससारप्रतिपादनात् ॥ २७ ॥
विविच्य लोकसिद्ध जीव प्राणाद्युपाधित ।
ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्त बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥ २८ ॥

बृहदारण्यके चतुर्थध्याये श्रूयते—'योऽय विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुष समान सन्नुभौ लोकावनुसचरति, (बृह० ४।३।७) इति । अस्यायमर्थ — विज्ञानमयो लिङ्गशरीरमय तेन स्थूलदेहव्यतिरेक सिद्ध । प्राणेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु प्राणादिवायुषु च । हृद्यन्त करणे सप्तमीविभक्त्याधारत्वनिर्देशादाधेयस्य पुरुषस्येन्द्रियवायुमनोतिरिक्तत्व सिद्धम् । अन्त शब्देन धीवृत्तिभ्य कामसकल्पादिभ्यो व्यतिरेक सिद्ध । बुद्धिपरिणामरूपाणा तासा वृत्तीना बहिर्भावात् । एव च सति स्थूलदेहेन्द्रियेभ्य प्राणवायुभ्योऽन्त करणत्तद्वृत्तिभ्यश्च व्यतिरिक्त, तेषा साक्षित्वेन विज्ज्योति स्वरूप पुरुष इत्युक्त भवति । स च पुरुषो लिङ्गश

चतुर्दश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह— योऽय विज्ञानमय प्राणेषु यह श्रुत्युक्त विज्ञानमय जीव है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—आदि मध्य एव अन्तमें जीवका प्रतिपादन है अत विज्ञानमय जीव इष्ट है।

सिद्धान्त—श्रुति लोक सिद्ध जीवको प्राण आदि उपाधियोंसे पृथककर उसमें ब्रह्मका बोध कराती है। अन्य प्रमाणसे अज्ञात ब्रह्मका ही बोध होता है जीवका नहीं।

बृहदारण्यकके चतुर्थ अध्यायमें योऽय विज्ञानमय०' (यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंका साक्षीभूत हृदयके अन्तर्गत विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है वह लिङ्ग शरीरके समान होकर इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सचार करता है) यह श्रुति है। इसका यह अर्थ है— विज्ञानमयका अर्थ लिङ्ग शरीरमय है इससे स्थूल देहसे भिन्न सिद्ध होता है। प्राण चक्षु आदि इन्द्रिय प्राण आदि वायु अन्त करणमें यहाँ सप्तमी विभक्तिका अर्थ आधार कहा गया है अत आधार पुरुष स्थूल शरीर इन्द्रिय वायु मनसे भिन्न सिद्ध होता है। अन्त करण शब्दसे काम सकल्पादि बुद्धि वृत्तियोंसे भिन्न सिद्ध होना है। बुद्धिके परिणामरूप वे वृत्तियाँ उससे बाहर हैं। ऐसा होनेपर स्थूल देह इन्द्रिय, प्राण वायु

---

१ काम: सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव'

रीरतादात्म्याध्यासेन लिङ्गशरीरेण समानः सन्निहलोकपरलोकावनुसंचरति, इति, तत्र विज्ञानमयो जीवो भवितुमर्हति । ज्योतिर्ब्राह्मणशरीरब्राह्मणयोरादिमध्यावसानेषु संसारस्यैव प्रपञ्च्यमानत्वात् । आदो तावत् "उभौ लोकावनुसंचरित" इति संसारोक्तिः स्पष्टा । मध्ये च संप्रसादस्वप्नान्तबुद्धान्तकण्डिकाभिरवस्थात्रयं प्रपञ्च्यते । अन्तेऽपि "स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः" इत्यादिना सोपाधिकस्वरूपवर्णनेन संसार एवोच्यते । तस्मात्—जीवः ।

इति प्राप्ते ब्रूम.—न तावज्जीवोऽत्र प्रतिपाद्य', लौकिकादहंप्रत्ययादेव सिद्धत्वात् । किमर्थं तर्हि जीवाद्यभिधानमिति चेत् । प्राणाद्युपाधिभ्यो विवेक्तुमादावभिधानम् । मध्येऽप्यवस्थात्रयसञ्चराहित्यं दर्शयितुमभिधीयते । अन्ते सूक्तजीवस्वरूपमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते । ब्रह्मत्वस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वात् । तस्मात्—ब्रह्मात्र प्रतिपाद्यम्, न तु जीव इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

अन्त.करण और अन्तःकरणकी काम आदि वृत्तियोसे भिन्न एवं उनके साक्षीरूपसे चेतन ज्योतिःस्वरूप पुरुष है, यह अभिप्राय है। वह पुरुष लिङ्गशरीरमे तादात्म्याध्यासद्वे लिङ्गशरीरके समान होकर इस लोक और परलोकमे सचार करता है ।

पूर्वपक्षी—यहाँ विज्ञानमय जीव होना चाहिए, क्योकि ज्योति ब्राह्मण और शरीरब्राह्मणके आदि-उपक्रम, मध्य और अन्तमे जीवका ही विस्तारसे कथन है। आदिमे—(दोनो लोकोमे संचार करता है) इस प्रकार जीवका कथन स्पष्ट है। मध्यमे सुषुप्ति स्वप्न और जाग्रत् कण्डिकाओसे तीन अवस्थाओंका विस्तार है। अन्तमे 'स वा अयमात्मा' (यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय-मनोमय एवं प्राणमय है) इत्यादिसे उपाधि सहित स्वरूपके वर्णनसे संसारी ही कहा जाता है, इससे विज्ञानमय जीव है,

सिद्धान्त—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—विज्ञानमय शब्दसे यहाँ जीव प्रतिपाद्य नहीं है, क्योकि वह तो लौकिक 'अहं' प्रत्ययसे पूर्व ही सिद्ध है। तो किस लिए जीवादिका कथन है ? यदि ऐसा कहो तो प्राण आदि उपाधियोसे भिन्न समझानेके लिए आदिमे कथन है। मध्यमे तीनो अवस्थाओंसे सम्बन्ध रहित दिखलानेके लिए अभिधान किया गया है। अन्तमे तो जीवस्वरूपका अनुवाद कर उसमें ब्रह्मत्व प्रतिपादन किया जाता है। ब्रह्मत्व तो अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ यहाँ विज्ञानमय शब्दसे ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है जीव नहीं ॥ १४ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	१४	३२
सूत्राणि	४३	१०७

(अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः) ।

(अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम्)

[प्रधानविषयक हैं ऐसे सन्देहसे युक्त अव्यक्त अजा आदि पदोंका इस पादमें विचार है)

(प्रथमे कारणशरीरस्यैवाव्यक्तशब्दवाच्यताधिकरणे सूत्राणि)

[१ आनुमानिकाधिकरण सू० १-७]

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥ तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥ ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥ महद्वच्च ॥ ७ ॥

चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः ।
प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥ १ ॥

इति श्री भारतीतीर्थ मुनि-प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके प्रथमाध्यायके तृतीय पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ३ ॥

चतुर्थपादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'महतः परमव्यक्तम्, इस श्रुतिमें पठित 'अव्यक्त' शब्द प्रधानका वाचक है अथवा शरीरका?

पूर्वपक्ष—सांख्य शास्त्रमें पठित महत्, अव्यक्त और पुरुषकी क्रमशः प्रत्यभिज्ञा होनेसे ज्ञात होता है कि अव्यक्त शब्द प्रधानका प्रतिपादक है।

श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः ।
सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥ २ ॥

कठवल्लीषु तृतीयवल्लयामाम्नायते

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" (३।११) इति ।

अत्र—अव्यक्तशब्देन सांख्याभिमतं प्रधानमभिधीयते । कुतः ? प्रत्यभिज्ञानात् । महदव्यक्तपुरुषाः सांख्याशास्त्रे परापरभावेन यथा प्रसिद्धाः, तथैव श्रुतौ प्रत्यभिज्ञायन्ते । तस्मात्—अव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधानम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अव्यक्तशब्दवाच्यं वपुर्भवितुमर्हति । पूर्ववाक्योक्तशरीरस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात् । पूर्वस्मिन्वाक्ये शरीरादीनि रथादित्वेनोक्तानि—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ॥ (३।३।४) ॥ इति

तानि पूर्ववाक्योक्तानि वस्तून्यस्मिन्वाक्ये प्रत्यभिज्ञायन्ते ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

सिद्धान्त—श्रुत्यर्थकी प्रत्यभिज्ञासे और परिशेषसे भी यह शरीर ही अव्यक्त शब्द वाच्य है । कारणावस्थामें विद्यमान यह शरीर सूक्ष्म होनेसे अव्यक्त संज्ञक होना चाहिए ।

कठवल्लीकी तृतीय वल्लीमें 'महतः परमव्यक्तम्०' (महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है) यह श्रुति है । यहाँपर सन्देह होता है कि अव्यक्त शब्द प्रधानका वाचक है अथवा शरीरका ?

पूर्वपक्षी—अव्यक्त शब्दसे सांख्याभिमत प्रधानको कहा जाता है, क्योंकि उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है । सांख्याशास्त्रमें जैसे महत्, अव्यक्त और पुरुष पर और अपरभावसे प्रसिद्ध हैं, वैसे ही श्रुतिमें उनकी प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिए अव्यक्त शब्दवाच्य प्रधान ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—शरीर ही अव्यक्तशब्द वाच्य होना चाहिए, क्योंकि पूर्व श्रुतिवाक्यमें उक्त शरीरकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है । पूर्ववाक्यमें शरीर आदि रथ आदि रूपसे कहे गये हैं—

'आत्मानं रथिनं विद्धि०' (आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो एवं इन्द्रियोंको अश्व और विषयोंको उनके मार्ग कहते हैं) इन पूर्व वाक्योक्त पदार्थोंकी इस वाक्यमें प्रत्यभिज्ञा होती है—

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महत. परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः॥ (३।३।१०) इति

स्मार्तप्रत्यभिज्ञानादपि श्रौतं प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यासन्नत्वात्प्रबलम्। नन्वेवमपि बहूना प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छरीरमेवाव्यक्तशब्दवाच्यम्, इति कुतो विनिगमः 'परिशेषात्' इति ब्रूम.। तथा हि—पूर्वस्मिन्वाक्य इन्द्रियार्थमनोबुद्धिशब्दैर्निर्दिष्टा. पदार्था उत्तरस्मिन्वाक्ये तैरेव शब्दैर्निर्दिश्यन्ते पूर्वत्राऽऽत्मशब्देन निर्दिष्टं वस्तूत्तरत्र पुरुषशब्देनोपदिष्टम्। उत्तरवाक्ये महच्छब्देन यदुक्तम् तत्पूर्ववाक्ये बुद्धिशब्देन संगृहीतम्, बुद्धिर्हि द्विधा—अस्मदादीनां बुद्धिरेका, तत्कारणभूता हिरण्यगर्भबुद्धिरपरा महच्छब्दवाच्या। तयो पूर्वत्रैकत्वेन निर्दिष्टयोरुत्तरत्र भेदेन निर्देश। एवं सति पूर्ववाक्ये शरीरमेकं परिशिष्टम्। उत्तरवाक्ये चाव्यक्तशब्द परिशिष्यते। न च—एवं परिशेषेऽपि शरीरस्य स्पष्टत्वादव्यक्तशब्दवाच्यत्वमनुपपन्नमिति शङ्कनीयम्। कारणावस्थापन्नस्य शरीरस्य सूक्ष्मत्वेनास्पष्टतयाऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तस्मादव्यक्तशब्दवाच्यं वपु ॥ १ ॥

'इन्द्रियेभ्यः परा०' (इन्द्रियोंसे विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है, बुद्धिसे महान् आत्मा पर है, महत्‌से अव्यक्त पर है, अव्यक्तसे पुरुष पर है) सांख्यस्मृति प्रत्यभिज्ञानसे सन्निहित होनेके कारण श्रौत प्रत्यभिज्ञान प्रबल है।

सिद्धान्ती—यदि कहो कि श्रौत प्रत्यभिज्ञान प्रबल होनेपर भी बहुतोंके प्रत्यभिज्ञान होनेपर केवल शरीर ही अव्यक्त शब्दवाच्य है, इसमें कौन निर्णायक है ? 'परिशेषसे' ऐसा हम कहते हैं। जैसे कि पूर्व वाक्यमें इन्द्रिय, अर्थ, मन एवं बुद्धि शब्दोंसे निर्दिष्ट पदार्थ, उत्तर वाक्यमें उन्हीं शब्दोंसे निर्दिष्ट किये गये हैं। पूर्ववाक्यमें आत्मशब्दसे निर्दिष्ट वस्तु उत्तर वाक्यमें पुरुष शब्दसे उपदिष्ट है। उत्तर वाक्यमें जो 'महत्' शब्दसे उक्त है, वह पूर्ववाक्यमें बुद्धि 'शब्दसे संगृहीत है। बुद्धि दो प्रकारकी है—एक हम लोगोंकी बुद्धि और दूसरी उसकी कारणभूत हिरण्यगर्भकी बुद्धि जो महत् शब्द वाच्य है। इन दोनों बुद्धियोंका पूर्ववाक्यमें एकत्वेन निर्देश है, उत्तर वाक्यमें भेदसे निर्देश है। ऐसा होनेपर पूर्ववाक्यमें केवल एक शरीर शेष रह जाता है, उत्तर वाक्यमें अव्यक्त शब्द शेष रह जाता है। ऐसा परिशेष होनेपर भी शरीर स्पष्ट व्यक्त होनेके कारण अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं हो सकता ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कारणावस्थापन्न शरीर सूक्ष्म होनेके कारण अस्पष्ट है, अतः वह अव्यक्त शब्दके योग्य है, इससे यह सिद्ध हुआ कि अव्यक्त शब्द वाच्य शरीर ही है ॥ १ ॥

(द्वितीये तेजोबन्नात्मकप्रकृतेरेवाजात्वाधिकरणे सूत्राणि)

(२ चमसाधिकरण सू० ८-१०)

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥ ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥ कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

अजेह सांख्यप्रकृतिस्तेजोबन्नात्मिकाऽथवा ।
रज आदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ सांख्यशास्त्रगा ॥ ३ ॥
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोबन्नादिलक्षणाम् ।
प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥ ४ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थाध्याये श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (४।५) इति । अत्र अजाशब्देन सांख्यशास्त्रोक्ता प्रधानशब्दवाच्या प्रकृतिर्विवक्षिता, अथवा छान्दोग्यश्रुतावुक्ता तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिः, इति संदेहे 'प्रधानम्' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः ? सत्त्वरजस्तमोगुणात्मत्वप्रतीतेः । यद्यपि लोहितशुक्लकृष्णवर्णा एव श्रूयन्ते, न तु गुणाः, तथाऽपि लोहितादिशब्दैर्गुणा

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस श्रुतिमें उक्त अजाशब्द सांख्याभिमत प्रकृतिका वाचक है अथवा तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिका ?

पूर्वपक्ष—लोहित शुक्ल एवं कृष्ण शब्दोंसे रज, सत्त्व और तमोगुण लक्षित होते हैं, अतः सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति अजा है ।

सिद्धान्त—छान्दोग्य श्रुतिमें लोहित शुक्ल एवं कृष्णकी जो प्रत्यभिज्ञा है वह क्रमशः तेज, जल और अन्नरूप है । अतः वह तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिका ही प्रकृत श्रुतिमें अजा शब्दसे बोध कराती है । अतः प्रकृतिमें अजात्वकी कल्पना आदित्यमें मधुत्वकी कल्पनाके समान है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (लोहित, शुक्ल एवं कृष्णरूप एक अजा) यह श्रुति है । यहाँपर अजाशब्दसे सांख्यशास्त्रोक्त प्रधानशब्द वाच्य प्रकृति विवक्षित है अथवा छान्दोग्य श्रुत्युक्त तेज, जल एवं अन्नात्मिका प्रकृति ? ऐसा संदेह होनेपर ।

पूर्वपक्षी—यहाँ अजाशब्दसे प्रधान विवक्षित है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि सत्त्व, रज एवं तमोगुणरूप प्रतीति होती है । यद्यपि लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण ही

लक्ष्यन्ते । तत्र लोहितशब्देन रञ्जकत्वसाम्याद्रजोगुण उपलक्षितः । शुक्लशब्देन स्वच्छत्वसाम्यात्सत्त्वगुणः । कृष्णशब्देनाऽऽवरकत्वसाम्यात्तमोगुणः । एवं सति शास्त्रान्तरप्रतीतिनुगृहीता भवति । तस्मात्प्रधानम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य, (छा० ६।४।१) इति छान्दोग्ये तेजोबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि श्रुतान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्र श्रौतप्रत्यभिज्ञाया प्राबल्यात्, लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसंभवाच्च तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिरजेति गम्यते । यद्यपि अजाशब्दश्छागवाचित्वान्नोक्तप्रकृतौ रूढः, नापि 'न जायते' इति योगः संभवति, तेजोबन्नानां ब्रह्मणो जातत्वात्तथापि च्छागत्वमुक्तप्रकृतौ सुखावबोधाय परिकल्प्यते । यथाऽऽदित्यस्यामधुनो मधुत्वम् । 'असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यादिवाक्येन परिकल्पितं तद्वत् । तस्मात्तेजोबन्नात्मिका प्रकृतिरजा, न सांख्योपसंग्रहादपि ॥ २ ॥

(तृतीये प्राणादीनामेव पञ्चजनत्वाधिकरणे सूत्राणि)

(३ संख्योपसंग्रहाधिकरण सू० ११-१३)

सुने जाते हैं गुण नहीं, तो भी लोहितादि शब्दोंसे गुण ही लक्षित होते हैं। रागोत्पादकत्वरूप साहश्यसे लोहित शब्दसे रजोगुण लक्षित होता है। स्वच्छत्वरूप साहश्यसे शुक्ल शब्दसे सत्त्वगुण और आवरकत्व साहश्यसे कृष्णशब्दसे तमोगुण लक्षित होता है, ऐसा होनेसे शास्त्रान्तर-शास्त्रान्तर प्रतीति अनुगृहीत होती है। इसलिए यहाँ अजाशब्दसे प्रधान अभिप्रेत है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अग्निका जो रोहित-रक्तरूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्लरूप है वह जलका, जो कृष्णरूप है वह अन्नका है, छान्दोग्यमें तेज, जल एवं अन्नात्मिका प्रकृतिके लोहित शुक्ल कृष्णरूप सुने गये ही यहाँ श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञात होते हैं। यहाँ श्रौत प्रत्यभिज्ञा प्रबल है। लोहित आदि शब्दोंका मुख्यार्थ संभव होनेसे तेज, जल एवं अन्नात्मिका प्रकृति ही यहाँ अजाशब्दसे ज्ञात होती है। यद्यपि अजाशब्द बकरीका वाचक होनेसे उक्त प्रकृतिमें रूढ नहीं है। और 'न जायते' 'अजा' (नहीं उत्पन्न होती) इस व्युत्पत्तिसे यौगिक भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तेज, जल और अन्न तो ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। तो भी उक्त प्रकृतिका अनायास बोध होनेके लिए उसमें छागत्वकी कल्पना होती है। जैसे 'असौ वा आदित्यो देवमधु०' (यह आदित्य देवमधु है) इत्यादि वाक्यसे अमधु आदित्यमें मधुत्वकी कल्पना की गई है। इससे तेज, जल एवं अन्नात्मिका प्रकृति ही अजा है। सांख्यके उपसंग्रहसे प्रकृति अजा शब्द वाच्य नहीं है ॥ २ ॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥
प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥ ज्योतिषैकेषाम-
सत्यन्ने ॥ १३ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति

पञ्च पञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः ।
प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥ ५ ॥
न पंचविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः ।
संज्ञा पंचजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः ॥ ६ ॥

बृहदारण्यके चतुर्थाध्याये श्रूयते—

यस्मिन्पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ (४।४।१७)

अस्यायमर्थः—'पंच पंचजना आकाशश्च यस्मिन्नाश्रिताः' तमेवाऽऽश्रयभूतमात्मानममृतं ब्रह्म मन्ये । 'इत्थं विद्वानहममृतो भवामि' इति । तत्र 'पंचपंचजनाः' इति प्रोक्ताः पदार्थाः किं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानि, अहोस्विच्छ्रुतिप्रोक्ताः प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोऽन्नसंज्ञका इति संदेहे, सांख्यतत्त्वानि इति तावत्प्राप्तम् ।

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इस श्रुतिमें सांख्याभिमत तत्त्व कहे गये है अथवा प्राण आदि पाँच कहे गये हैं ।

पूर्वपक्ष—उक्त श्रुतिमें पञ्चविंशति (२५) संख्याका भान होता है, इसलिए सांख्योक्त तत्त्व कहे गये हैं ।

सिद्धान्त—उक्त श्रुतिमें केवल पच्चीस संख्याका भान नहीं होता, क्योंकि आत्मा और आकाश अतिरिक्त-अधिक कहे गये हैं । 'पञ्चजन' यह संज्ञा है, प्राणादि संज्ञीनामी हैं, इस लिए श्रुतिमें प्राणादि कहे गये हैं ।

बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें श्रुति है—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना०' (पाँच पञ्चजन और आकाश जिसके आश्रित हैं उसी आश्रयभूत आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ) इसका यह अर्थ है—'पाँच पञ्चजन और आकाश जिसके आश्रित हैं, उसी आश्रयभूत आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ, यहाँ पर 'पञ्च पञ्चजनाः' इस प्रकार उक्त पदार्थ क्या सांख्य शास्त्रोक्त तत्त्व हैं अथवा श्रुत्युक्त प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्नसंज्ञक हैं । यह सन्देह होनेपर ।

कुतः ? पंचविंशतिसंख्यायाः सांख्यशास्त्रप्रसिद्धाया अत्रावभासनात्। तथा हि— 'पंच पंच' इति शब्दद्वयं श्रूयते। तत्रैकेन पंचशब्देन तत्त्वगता पंचसंख्या विवक्षिता। द्वितीयेन पंचसंख्याविषयाऽपरा पंचसंख्या विवक्षिता। तथा च 'पंचसंख्याविशिष्टानि तत्त्वपंचकानि' इत्युक्तं भवति। ततश्च पंचभिः पंचकैः पंचविंशत्यवभासनात्।

सांख्यतत्त्वानां प्राप्तौ ब्रूमः—यद्यपि पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, तथाऽपि न पञ्चविंशतिरियं भवितुं शक्नोति। पञ्चविंशतिसंख्यानां तत्त्वानामाश्रयत्वेनाऽऽत्मावभासनात्। नह्ययमात्मा पञ्चविंशत्यन्तःपाती। तथा च सति 'एकस्यैवाऽऽधेयत्वमाधारत्वं च' इति विरोधप्रसङ्गात्। आकाशोऽप्यपरः श्रूयते। न च तस्यापि पञ्चविंशत्यन्तःपातित्वम्। 'आकाशश्च' इति पृथङ्निर्देशसमुच्चययोर्विधानात्। तत आत्माकाशाभ्यां सह सप्तविंशतिसंपत्तेर्न सांख्यतत्त्वानामत्रावकाशः। यस्तर्हि वाक्यार्थः ? उच्यते—पञ्चजनशब्दोऽयं समस्तः संज्ञावाची। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति समासविधानात्। ततः पञ्चजनसंज्ञकाः पदार्थाः पञ्चसंख्याका इत्युक्तं भवति।

पूर्वपक्षी—सांख्य शास्त्रोक्त तत्त्व हैं, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि सांख्यशास्त्र प्रसिद्ध पञ्चविंशति संख्या यहाँ अवभासित होती है। जैसे कि 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार दो शब्द सुने जाते हैं। उनमेंसे एक 'पञ्च' शब्दसे सांख्य तत्त्वगत पञ्चसंख्या विवक्षित है, दूसरे 'पञ्च' शब्दसे पञ्चसंख्या विषयक दूसरी पंच संख्या विवक्षित है। इसमें पंचसंख्या विशिष्ट तत्त्वपंचक ऐसा अर्थ होता है। इससे पाँच पंचकोंसे पंचविंशति (पचीस) संख्या अवभासित होती है।

सिद्धान्ती—सांख्य-तत्त्वोंके प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि पञ्च संख्या विषयक दूसरी पञ्चसंख्या सुनी जाती है, तो भी यह पञ्चविंशतिसंख्या नहीं हो सकती, क्योंकि पञ्चविंशति संख्यावाले तत्त्वोंका आश्रयरूपसे आत्माका भान होता है। यह आत्मा पञ्चविंशति संख्याके अन्तर्भूत नहीं है। यदि अन्तर्भूत मानें तो एकमें ही आधार-आधेय-भाव होनेसे विरोध प्रसङ्ग होगा। और इससे पृथक् दूसरा आकाश भी सुना जाता है। वह भी पञ्चविंशति संख्याके अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि 'आकाशश्च' इस प्रकार पृथक् निर्देश और समुच्चयका विधान है। इससे आत्मा और आकाशके साथ सप्तविंशति (२७) का ज्ञान होनेसे सांख्यशास्त्रगत पञ्चविंशति तत्त्वोंका यहाँ अवकाश नहीं है। तब वाक्यका अर्थ क्या है ? कहते हैं—यह समस्त पञ्चजन शब्द संज्ञा वाचक है। क्योंकि 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (दिशा और संख्या वाचक शब्दोंका संज्ञार्थमें सुबन्त उत्तर पदके साथ समास होता है) इस प्रकार समासका विधान है। इससे पञ्चजन संज्ञावाले

ऽङ्गिनस्तु वाक्यशेषात्प्राणादयोऽवगन्तव्याः। 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' (बृह० ४।४।१७) इति वाक्यशेषः। प्राणादीनां पञ्चानां साक्षी चिदात्मा द्वितीयैः प्राणादिशब्दैरभिधीयते। तस्माद्वाक्यशेषात्प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः ॥ ३ ॥

(चतुर्थे जगद्योनौ ब्रह्मण्येव वेदान्तवाक्यसमन्वयाधिकरणे सूत्रे)

(४ कारणत्वाधिकरण सू० १४-१५)

कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा।
न युक्तो वेदवाक्येषु परस्परविरोधतः ॥ ७ ॥
सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते।
अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तोऽसौ कारणे ततः ॥ ८ ॥

योऽयं वेदान्तसमन्वयो जगत्कारणविषयः सार्धैस्त्रिभिः पादैः प्रतिपादितस्तमाक्षिप्य समाधातुमयमारम्भः। न युक्तोऽयं समन्वय इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। वेदान्तेषु बहुशो विरोधप्रतीतेः प्रामाण्यस्यैव दुःसंपादत्वात्। तथा हि—

पदार्थ पाञ्च संख्यक है, ऐसा अर्थ होता है। साक्षी तो वाक्यशेषसे प्राण आदि समझने चाहिए। 'प्राणस्य प्राणम्०' (प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न और मनका मन ऐसा जो जानते हैं) यह वाक्यशेष है। प्राण आदि पाँचोंका साक्षी चिदात्मा द्वितीय प्राणादि शब्दोंसे अभिहित है। इसलिए वाक्यशेषसे प्राण आदि पाँच पञ्चजन होंगे ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जगत्के कारणमें वेदान्तोंका समन्वय युक्त है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्योंमें परस्पर विरोध होनेसे समन्वय युक्त नहीं है।

सिद्धान्त—सृष्टिके क्रममें विवाद रहनेपर भी स्रष्टामें विवाद नहीं है। 'असत्' शब्दका अर्थ अव्याकृत कहा गया है, इसलिए जगत्कारणमें वेदान्त-वाक्योंका समन्वय युक्त है।

साढे तीन पादोंसे जगत्कारण विषयक जो यह वेदान्तोंका समन्वय कहा गया है। उसपर आक्षेप कर समाधान करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है—

पूर्वपक्षी—जगत् कारणमें वेदान्तोंका यह समन्वय युक्त नहीं है, ऐसा प्राप्त होता

मसतः सज्जायेत" इति श्रुत्यन्तरेणाभावस्य कारणत्वनिषेधात्। तस्मात्—एकवाक्यतायाः सुसंपादत्वाद्युक्तो जगत्कारणे समन्वयः ॥ ४ ॥

(पञ्चमे परमात्मन एव जगत्कर्तृत्वाधिकरणे सूत्राणि)।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥ अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

(५ बालाक्यधिकरण सू० १६-१८)

पुरुषाणां तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु।
कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षिते ॥ ९ ॥
जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये।
तत्कर्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः ॥ १० ॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि बालाकिनाम्ना ब्राह्मणेनाऽऽदित्यादिषु षोडशसु पुरुषेषु ब्रह्मत्वेनोक्तेषु राजा तान्निराकृत्य स्वयमाह—'यो वै बालाके, एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म, स वै वेदितव्य.' (४।१९) इति। अत्र त्रेधा

अभिधान है, जो 'असत्' शब्दसे अभिधान है वह अव्याकृतके अभिधानके अभिप्रायसे है। अत्यन्ताभावके अभिप्रायसे नहीं है। क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत०' (भला असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा ?) इस प्रकार अन्य श्रुतिसे अभावमें कारणत्वका निषेध किया गया है। इसलिए एक वाक्यताका संपादन होनेसे जगत्कारणमें वेदान्त वाक्योंका समन्वय युक्त है ॥ ४ ॥

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'यो वै बालाके एतेषां कर्ता यस्य वैतत्कर्म०' इस श्रुतिमें उक्त पुरुषोंका कर्ता प्राण, जीव और परमात्मामें से कौन है ?

पूर्वपक्ष—कर्म शब्दसे चलनात्मक क्रिया कही गई है, अतः प्राण पुरुषोंका कर्ता है अथवा कर्म शब्द अपूर्वका वाची होनेसे जीव कर्ता है।

सिद्धान्त—पुरुषमात्रकी निवृत्तिके लिये 'यस्य वैतत्कर्म' यहाँ कर्मशब्द जगत्का वाचक है, इस लिए पुरुषोंका कर्ता परमात्मा ही है, इससे राजामें मृषावादित्व नहीं है।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्में बालाकि नामक ब्राह्मणके आदित्य आदि सोलह पुरुषोंको ब्रह्मरूपसे कहनेपर राजाने उसका निराकरणकर स्वयं कहा—'यो वै०' (हे बालाकि ! जो इन पुरुषोंका कर्ता है, जिसका यह जगद्रूप कर्म है, उसका ज्ञान प्राप्त

संशये सति 'प्राण' इति तावत्प्राप्तम् । कुतः । कर्मशब्दस्य चलनवाचित्वात् । देहादिचालनस्य प्राणसंबन्धित्वात् । अथवा पुरुषाणां कर्ता जीवो भवेत् । कुत. । कर्मशब्दस्यापूर्ववाचित्वात् । जीवस्य चापूर्वस्वामित्वात् । सर्वथा न परमात्मा ।

इति प्राप्ते ब्रूम —नात्र कर्मशब्दश्चलने वर्तते । नाप्यपूर्वे । किंत्वयं जगद्वाची । 'क्रियत इति कर्म' इति व्युत्पत्तेः । सति जगद्वाचित्वे कर्मशब्द. सप्रयोजनो भविष्यति । पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । तथा च श्रुतिवाक्याक्षराण्येवं योजयितव्यानि—हे बालाके, त्वदुक्तानां पुरुषाणां षोडशानां य: कर्ता स एव वेदितव्य. । न तु ते पुरुषा. । अथवा किमनेन 'षोडशानां कर्ता' इति संकोचेन एतत्कृत्स्नं जगद्यस्य कार्यं स एव वेदितव्य इति । कृत्स्नजगत्कर्तृत्वं च परमात्मन एव । न जीवप्राणयोः । एवं सति राज्ञो मृषावादित्वदोषो न भवति । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति प्रतिज्ञाय षोडश पुरुषान्ब्रुवतो बालाकेः "मृषा वै किल" इत्यनेन मृषावादित्वमापाद्य राजा स्वयं ब्रह्म विवक्षुर्यदि

करना चाहिए) यहाँ तीन प्रकारका संशय होता कि पुरुषोंका कर्ता प्राण है, जीव है अथवा परमात्मा है ।

पूर्वपक्षी—प्राण पुरुषोंका कर्ता है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि कर्म शब्द चलन क्रिया वाचक है । देहादिका चालन प्राणके सम्बन्धसे होता है अथवा पुरुषोंका कर्ता जीव होगा, क्योंकि कर्म शब्द अपूर्वका वाची है । जीव अपूर्वका स्वामी है । परमात्मा तो किसी प्रकार भी कर्ता नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहाँ कर्म शब्द न चलन क्रियामें रह रहा है और न अपूर्वमें । किन्तु 'क्रियत इति कर्म' (जो किया जाय वह कर्म है) इस व्युत्पत्तिसे यह कर्म शब्द जगत्का वाचक है । कर्म शब्द जगत्का वाचक होनेसे पुरुषमात्र कर्तृत्वकी शङ्का निवृत्यर्थ होता हुआ सार्थक होता है । इसलिए श्रुतिवाक्यके अक्षरोंकी इस प्रकार योजना करनी चाहिए । 'हे बालाकि ! तुमसे कथित सोलह पुरुषोंका जो कर्ता है वही वेदितव्य है न कि वे सोलह पुरुष' । अथवा 'सोलह पुरुषोंका कर्ता' इस संकोच करनेसे क्या, 'यह सारा जगत् जिसका कार्य है' जीव और प्राण नहीं । ऐसा माननेपर राजामें मृषावादित्व दोष भी नहीं आता । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि (बालाकि—हे राजन् । मैं तुमको ब्रह्म कहूँगा) ऐसी प्रतिज्ञा कर सोलह पुरुषोंको कहते हुए बालाकिमें 'मृषा वै किल' (जो तुम कहते हो वह मिथ्या है) इससे मृषावादित्वका आपादन कर स्वयं ब्रह्मको कहनेकी इच्छा रखनेवाला राजा यदि प्राण और जीवको कहे तो बालाकिके

प्राणजीवौ ब्रूयात्, तदा बालाकेरिव राज्ञो मृषावादित्वं स्यात्। तच्चायुक्तम्। तस्मात्—वाक्योक्तो जगत्कर्ता परमात्मैव ॥ ५ ॥

(षष्ठे परमात्मन एव दर्शनयोग्यात्मत्वाधिकरणे सूत्राणि)

(६ वाक्यान्वयाधिकरण सू० १९-२२)

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥ उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः।
संसारी पतिजायादिभोगप्रीत्याऽस्य सूचनात् ॥ ११ ॥
अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम्।
संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ॥ १२ ॥

बृहदारण्यके चतुर्थाध्याये मैत्रेयीं भार्यां प्रति याज्ञवल्क्यः पतिरुपदिशति—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (४।५।६) इति। अत्राऽऽत्मनि द्वेधा संदिग्धे सति 'संसारी' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति"

समान राजा मृषावादी हो जायगा। परन्तु वह युक्त नहीं है। इससे श्रुतिवाक्य उक्त जगत्कर्ता परमात्मा ही है ॥ ५ ॥

छठे अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिमें उक्त द्रष्टव्य आत्मा जीव है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—उक्त आत्मा जीव है, क्योंकि श्रुत्युक्त पति, जाया आदि भोग पदार्थोंकी प्रीतिसे तद्युक्त जीवकी ही सूचना होती है।

सिद्धान्त—वाक्यके उपक्रममें अमृतत्व कहा गया है, उपसंहारमें भी अमृतत्व कहा गया है। इससे संसारी जीवका अनुवादकर उसमें ब्रह्मत्वका विधान है। इसलिए उक्त द्रष्टव्य आत्मा ब्रह्म ही है।

बृहदारण्यकोपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें अपनी भार्या मैत्रेयीके प्रति पति याज्ञवल्क्य उपदेश करते हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य०' (हे मैत्रेयी ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) यहाँ द्रष्टव्य आत्माके विषयमें दो प्रकारका सन्देह होता है कि उक्त आत्मा जीव है अथवा ब्रह्म ?

इत्यादिवाक्यैर्भोगप्रीतियुक्तस्याऽऽत्मनः संसारित्वसूचनात् । अयमत्र वाक्यार्थः—'पत्यौ प्रीतिं कुर्वती जाया न पत्युः सुखाय प्रीतिं करोति, किंतु स्वसुखायैव । एवं पतिपुत्रादयोऽपि स्वस्वभोगायैवेतरत्र प्रीतिं कुर्वन्ति, इति भोगश्च नासङ्गस्येश्वरस्यावकल्प्यते, तस्मात्—संसारी ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एतद्वाक्योपक्रमे मैत्रेयी 'वित्तसाध्येन कर्मणा किं ममामृतत्वं स्यात्' इति पप्रच्छ । याज्ञवल्क्यस्तु "अमृतस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन" इति अमृतत्वं प्रत्याशाऽपि कर्मणा नास्ति' इत्युत्तरमाह । ब्राह्मणावसानेऽपि "तावदरे खल्वमृतत्वम्" इत्युपसंहृतम् । अत उपक्रमोपसंहारवशादमृतत्वसाधनमात्मज्ञानमत्र प्रतिपाद्यम् । जीवात्मज्ञानं च नामृतत्वसाधनम् । तस्मात्—भोगप्रीतिसूचितं जीवमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते ॥ ६ ॥

(सप्तमे ब्रह्मण एवोपादाननिमित्तकारणत्वाधिकरणे सूत्राणि)

(७ प्रकृत्यधिकरण सू० २३-२७)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् ॥ २३ ॥ अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥ साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥ आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥ योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

पूर्वपक्षी—जीव है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'न वा अरे०' (अरे मैत्रेयी ! पत्नीको पतिके काम (सुख) के लिए पति प्रिय नहीं होता किन्तु अपने काम (सुख) के लिए पति प्रिय होता है) इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है कि भोगोंमें प्रीति युक्त उक्त द्रष्टव्य आत्मा जीव ही सूचित होता है । (न वा अरे) यहां इस वाक्यका यह अर्थ है—'पतिमें प्रेम करती हुई जाया-स्त्री पतिके सुखके लिए नहीं करती किन्तु अपने सुखके लिए ही' एवं पति पुत्र आदि भी अपने अपने सुखके लिए ही अन्यत्र प्रेम करते हैं । ऐसा भोग तो असङ्ग ईश्वरके लिए युक्त नहीं है । इसलिए उक्त द्रष्टव्य आत्मा जीव ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उक्त वाक्यके उपक्रममें मैत्रेयीने पूछा कि क्या वित्तसाध्य कर्मसे मुझे अमृतत्व प्राप्त होगा ? याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि वित्तसे या वित्तसाध्य कर्मसे अमृतत्वकी आशा नहीं है, कर्मसे अमृतत्वकी तो प्रत्याशा भी नहीं है । ब्राह्मणके अवसान (समाप्ति) में भी 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्०' (हे मैत्रेयी ! यही अमृतत्व है) ऐसा उपसंहार किया गया है । अतः उपक्रम और उपसंहार के बलसे यही प्रतीत होता है कि अमृतत्वका साधनभूत आत्मज्ञान ही यहां प्रतिपाद्य है । जीवात्मज्ञान अमृतत्वका साधन नहीं है । इससे भोगप्रीतिसे सूचित जीवका अनुवादकर उसमें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन है । अतः उक्त द्रष्टव्य आत्मा ब्रह्म ही है ॥ ६ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वीक्षणात्।
कुलालवन्निमित्तं तन्नोपादानं मृदादिवत् ॥ १३ ॥
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः।
एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद्‌ब्रह्मोभयात्मकम् ॥ १४ ॥

जगत्कारणत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि वाक्यानि विषयः। तत्र 'किं ब्रह्म निमित्तकारणमेव, उतोपादानकारणमपि' इति संदेहे 'निमित्तकारणमेव' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। 'तदैक्षत' इति सृज्यकार्यविषयपर्यालोचनश्रवणात्। पर्यालोचनं च निमित्तभूते कुलालादावेव दृष्टम्। नोपादानभूतमृदादौ। तस्मान्निमित्तकारणमेव।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय (छां ६।२।३) इतीक्षितुरेव प्रकर्षेणोत्पत्त्या बहुभावः श्रूयते। तत उपादानत्वमस्ति। किंच 'येनाश्रुतं श्रुतं

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्म जगत्‌का निमित्तकारण ही है अथवा उपादान भी ?

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें सृज्यमान पदार्थोंका ईक्षण कहा गया है, इसलिए कुलाल (कुम्हार) आदिके समान ब्रह्म निमित्तकारण है, मृदादिके समान उपादानकारण नहीं है।

सिद्धान्त—श्रुतिमें ईक्षण कर्ता 'बहु स्याम्०' (मैं बहुत होऊँ) इस प्रकार उपादान कारण भी कहा गया है और श्रुत्युक्त एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान उपादान कारणके ज्ञानसे ही हो सकता है, अतः ब्रह्म जगत्‌का निमित्त कारण और उपादान-कारण उभयात्मक (दोनों) है।

जगत्‌के कारणका प्रतिपादन करनेवाले सब वाक्य इस अधिकरणके विषय हैं। क्या ब्रह्म केवल निमित्तकारण ही है अथवा उपादानकारण भी ? यहाँ इस प्रकार संदेह होनेपर—

पूर्वपक्षी—ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही है, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि श्रुतिमें 'तदैक्षत०' इस प्रकार सृज्यमान कार्यके विषयमें पर्यालोचनका श्रवण है। पर्यालोचन तो केवल निमित्तकारणभूत कुलाल आदिमें ही देखा गया है, उपादानकारणभूत मृत्तिका आदिमें नहीं। इससे ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तदैक्षत०' (उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार ईक्षण कर्ताका ही प्रकर्ष उत्पत्तिसे बहुभाव श्रुतिमें कहा गया है। इसलिए वही उपादान कारण है। किंच 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति०'

भवति' (छा० ६।१।३) इत्यादि ब्रह्मण्येकस्मिञ्छ्रुते सति 'अश्रुतमपि जगच्छ्रुतमेव भवति' इति प्रतिपाद्यते। तदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च। तच्च ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वे सति ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्याणामभावादुपपादयितुं सुशकम्। केवलनिमित्तत्वे तु सर्वेषु ब्रह्मव्यतिरिक्तेषु सत्सु कथं नामैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिपाद्यते। तस्मादुभयविधकारणं ब्रह्म ॥ ७ ॥

(अष्टमे ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

(८ सर्व व्याख्यानाधिकरण सू० २८)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा।
वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥ १५ ॥
शून्याण्वादिष्वेकबुद्ध्या सर्वबुद्धिर्न युज्यते।
स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥ १६ ॥

वेदान्ता विषयः। तत्र किं ब्रह्मण इव परमाणुशून्यादीनामपि श्रौतं कारणत्वमस्ति, अथवा सर्वत्र ब्रह्मण एव कारणत्वं प्रतिनियतमिति संशयः।

इत्यादिसे एक ब्रह्मके श्रुत होनेपर अश्रुत भी जगत् श्रुत ही होता है और उस एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। वह तभी उपपादन हो सकता है जब कि ब्रह्म ही सबका उपादान हो और ब्रह्मसे भिन्न कोई कार्य न हो। ब्रह्म यदि केवल निमित्त कारण हो तो सब कार्योंको ब्रह्मसे भिन्न होनेपर एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानका प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है। इसलिए ब्रह्म ही दोनो प्रकारका कारण है ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—श्रुतिमें अणु आदि भी जगत्कारण कहे गये हैं अथवा केवल ब्रह्म ही ?

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें वटबीज आदि दृष्टान्तोंसे प्रतीत होता है कि अणु आदि भी जगत्के कारण कहे गये हैं।

सिद्धान्त—एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान शून्यवाद, अणुवाद आदिमें उपपन्न नहीं हो सकता है। वटबीज आदि दृष्टान्त ब्रह्ममें भी हो सकते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत्कारण है।

इस अधिकरणके वेदान्त वाक्य ही विषय हैं। यहांपर यह संशय होता है कि क्या ब्रह्मके समान परमाणु, शून्य आदि भी श्रुतिमें कारण कहे गये हैं अथवा सर्वत्र ब्रह्म ही प्रतिनियत कारण कहा गया है ?

अण्वादेरपि कारणत्वं श्रौतम् । वटधानादिदृष्टान्तश्रवणात् । तथा हि छान्दोग्ये षष्ठाध्याये श्वेतकेतुं प्रत्युपदिशन्नुद्दालकः सूक्ष्मतत्त्वे स्थूलस्य जगतोऽन्तर्भावं प्रतिपादयितुं महावृक्षगर्भितानि वटबीजानि दृष्टान्तत्वेनोदाजहार। अतस्तादृशाः परमाणवो दार्ष्टान्तिके श्रुता भवन्ति। शून्यस्य तु "असद्वा इदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इति साक्षादेव कारणत्वं श्रुतम् ।'स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथाऽन्ये' इति स्वभावकालपक्षौ श्रुतौ। तस्मात्परमाण्वादीनामपि श्रौतं कारणत्वम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं शून्यादिमतेषु नोपपद्यते। शून्यादिभिरजन्यस्य ब्रह्मणः शून्यादिज्ञानेनाज्ञतत्वात् । धानादृष्टान्तस्तु ब्रह्मण्यपीन्द्रियागम्यतया सूक्ष्मत्वादुपपद्यते। असच्छब्दस्य नामरूपराहित्याभिप्रायश्चतुर्थाधिकरणे वर्णितः। स्वभावकालपक्षौ तु पूर्वपक्षत्वेन श्रुत्योपन्यस्तौ। तस्माद्ब्रह्मैव श्रुत्यभिहितं जगत्कारणं न परमाण्वादीनीति सिद्धम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पूर्वपक्षी —अणु आदि भी श्रुतिमें कारण कहे गये हैं, क्योंकि वटबीज आदि दृष्टान्तोंका श्रवण है । जैसे कि छान्दोग्यके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुके प्रति उपदेश करते हुए उद्दालकने सूक्ष्मतत्त्वमें स्थूल जगत्के अन्तर्भावका प्रतिपादन करनेके लिए महावृक्षगर्भित वटबीज दृष्टान्तरूपसे कहे गये हैं। इसलिए महाकार्यगर्भित परमाणु दार्ष्टान्तिकरूपसे श्रुतिमें कहे गये हैं । 'असद्वा इदमग्र आसीत्०' (यह सारा जगत् उत्पत्तिके पूर्व असत् था) यह श्रुति साक्षात् ही असत्को जगत्का कारण कहती है । 'कुछ विद्वान् लोग स्वभावको जगत्का कारण कहते हैं, कुछ दूसरे लोग कालको जगत्का कारण कहते हैं' इस प्रकार श्रुतिमें स्वभाव और काल पक्ष भी कहे गये हैं । इसलिए परमाणु आदि भी जगत्के कारण श्रुति सिद्ध हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान शून्यादिमतोंमें उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि शून्य आदिसे अजन्य ब्रह्म शून्य आदिके ज्ञानसे अज्ञात है । वटबीज दृष्टान्त तो ब्रह्ममें भी इन्द्रियागोचर और सूक्ष्म होनेके कारण उपपन्न हो सकता है । असत् शब्द नाम रूप रहित अव्याकृतके अभिप्रायसे है, ऐसा इस पादके चतुर्थ अधिकरणमें वर्णन किया गया है । स्वभावपक्ष और कालपक्ष तो श्रुतिमें पूर्वपक्षरूपसे कहे गये हैं । इसलिए श्रुत्युक्त जगत्का उभयात्मक कारण ब्रह्म ही है परमाणु आदि नहीं ॥ ८ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	८	४०
सूत्राणि	२८	१३५

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

द्वितीयस्य अविरोधाख्याध्यायस्य प्रथमपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः।

अविरोध नामक द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें सांख्य, योग, काणादादि स्मृतियों और सांख्य आदि द्वारा प्रयुक्त तर्कोंसे वेदान्त समन्वयपर किये गये विरोधोंका परिहार है।

(प्रथमे सांख्यस्मृतेर्बाध्यत्वाधिकरणे सूत्रे)।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥ इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रथमाधिकरणमारचयति

सांख्यस्मृत्याऽस्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये।
धर्मे वेदः सावकाशः सकोचोऽनवकाशया ॥ १ ॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः।
अमूला कापिली बाध्या न संकोचोऽनया ततः॥ २ ॥

श्री भारतीतीर्थ मुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके प्रथमाध्यायके चतुर्थ पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ४ ॥

"समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वेदसमन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेद धर्ममें सावकाश है। अतः निरवकाश सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त है।

सिद्धान्त—प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतियोंसे मूल श्रुति रहित कपिलस्मृति बाध्य है। अतः सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है।

अस्मिन्पादे सर्वेष्वधिकरणेषु पूर्वाध्यायोक्तः समन्वयो विषयः। तत्रास्मिन्नधिकरणे वैदिकस्य समन्वस्य सांख्यस्मृत्या 'संकोचोऽस्ति न वा' इति संदेहः। 'संकोचोऽस्ति' इति तावत्प्राप्तम्। कुतः। सांख्यस्मृतेरनवकाशत्वेन प्रबलत्वात्। सांख्यस्मृतिर्हि वस्तुतत्त्वनिरूपणायैव प्रवृत्ता, न त्वनुष्ठेयं धर्मं क्वचिदपि प्रतिपादयति। यदि तस्मिन्नपि वस्तुन्यसौ बाध्येत, तदा निरवकाशा स्यात्। वेदस्तु धर्मब्रह्मणी प्रतिपादयन्ब्रह्मण्येकस्मिन्बाध्यमानोऽपि धर्मे सावकाशः स्यात्। तस्मादनवकाशया स्मृत्या सावकाशस्य वेदस्य संकोचो युक्तः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सांख्यस्मृत्या वेदस्य संकोचो न युक्तः। कुतः, मन्वादिस्मृतिभिर्ब्रह्मकारणत्ववादिनीभिर्बाधितत्वात्। प्रबला हि मन्वादिस्मृतयः, प्रत्यक्षवेदमूलकत्वात्। न तथा कपिलस्मृतेः प्रधानकारणवादिन्या मूलभूतं कंचन वेदमुपलभामहे, दृश्यमानवेदवाक्यानां ब्रह्मपरत्वस्य पूर्वमेव निर्णीतत्वात्। तस्मान्न सांख्यस्मृत्या वेदस्य संकोचो युक्तः॥ १॥

(द्वितीये योगस्मृतेर्बाध्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

एतेन योगः प्रत्युक्तः॥ ३॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

इस पादके सब अधिकरणोंका पूर्वाध्यायमें उक्त समन्वय विषय है। यहाँपर यह सन्देह होता है कि इस अधिकरणमें वैदिक समन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्षी—संकोच होना युक्त है ? क्योंकि सांख्यस्मृति निरवकाश होनेसे प्रबल है, सांख्यस्मृति तो केवल वस्तुतत्त्वका निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुई है। कहींपर भी मनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन नहीं करती। यदि वह उस वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें भी बाधित हो तो निरवकाश होगी। वेद तो धर्म और ब्रह्म दोनोंका प्रतिपादन करता है। एक ब्रह्मके विषयमें बाधित होनेपर भी धर्ममें वह सावकाश है। इसलिए निरवकाश सांख्यस्मृतिसे सावकाश वेदका संकोच युक्त है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है, क्योंकि सांख्यस्मृति ब्रह्मको जगत्का कारण प्रतिपादन करनेवाली मनु आदि स्मृतियोंसे बाधित है। जिस प्रकार मनु आदि स्मृतियाँ प्रत्यक्ष वेद मूलक होनेसे प्रबल हैं, उसी प्रकार प्रधान कारणवादी कपिल स्मृतिको मूलभूत कोई श्रुति हमें उपलब्ध नहीं होती। कारण कि दृश्यमान वेदवाक्योंका ब्रह्मपरत्व पूर्वमें ही निर्णय किया जा चुका है। इसलिए सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है॥ १॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

मासेति योगे तात्पर्यम्। प्रधानादीनि प्रतिपाद्यतया प्रतिजज्ञे। किं तर्हि द्वितीयपादे यमादिसाधनप्रतिपादके हेयं हेयहेतुं हानं हानहेतुं विवेचयन्प्रसङ्गात्सांख्यस्मृतिप्रसिद्धानि प्रधानादीनि व्याजहार। ततो न तत्र तात्पर्यम्। तस्मान्न योगस्मृत्या वेदस्य संकोचः॥ २॥

(तृतीये वैलक्षण्याभासस्य जगत्कारणत्वाबाधकत्वाधिकरणे सूत्राणि)

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥ ४॥
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्॥ ५॥
दृश्यते तु॥ ६॥ असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्॥ ७॥
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥ ८॥ न तु दृष्टान्तभावात्॥ ९॥ स्वपक्षदोषाच्च॥ १०॥ तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः॥ ११॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते।
बाध्यते साम्यनियमात्कार्यकारणवस्तुनोः॥ ५॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः।
स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः॥ ६॥

'अचेतनं जगच्चेतनाद्ब्रह्मणो न जायते, विलक्षणत्वात्। यद्यस्माद्विलक्षणं,

---

आदिकी प्रतिपाद्यरूपसे प्रतिज्ञा नहीं की है, किन्तु यम नियम आदि साधनोंके प्रतिपादक द्वितीयपादमें हेय (दुःख) हेयहेतु (दुःखका हेतु-अविद्या अथवा दृश्य और द्रष्टाका संयोग) हान(कैवल्य) हानहेतु (विवेकख्याति) का विवेचन करते हुए प्रसङ्गसे सांख्यस्मृति प्रसिद्ध प्रधान आदि कहे गये हैं, इससे प्रधान आदिके प्रतिपादनमें योगशास्त्रका तात्पर्य नहीं है। इसलिए योगस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है॥ २॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वेदसमन्वयका वैलक्षण्यरूप तर्कसे बाध होता है अथवा बाध नहीं होता है?

पूर्वपक्ष—कार्य और कारणभूत वस्तुओंका साम्यनियम होता है, अतः समन्वय बाधित होता है।

सिद्धान्त—घटरूप कार्य यद्यपि अपने कारणभूत मृत्के समान देखा जाता है, तो भी वृश्चिक और केशरूप कार्य अपने कारणसे विषम देखे जाते हैं, इसलिए वैलक्षण्य तर्काभास बाधक नहीं है।

तत्तस्मान्न जायते, यथा गोर्महिषः' इत्यनेन तर्केण समन्वयो बाध्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'ये ये कार्यकारणे ते ते सलक्षणे' इत्यस्या व्याप्तेर्वृश्चिकादौ व्यभिचारो दृश्यते। अचेतनाद्गोमयाद्वृश्चिकस्य चेतनस्योत्पत्तेः। चेतनात्पुरुषादचेतनानां केशनखादीनामुत्पद्यमानत्वात्। अतो वेदनिरपेक्षः शुष्कतर्को न क्वापि प्रतितिष्ठति। तदुक्तमाचार्यैः—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥इति।
तस्मात्-आभासत्वाद्वैलक्षण्यहेतुर्न बाधकः ॥ ३ ॥

(चतुर्थे काणादादिमतैर्बाध्यत्वाभावाधिकरणे सूत्रम्)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः।
न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः ॥ ७ ॥
शिष्टेष्टाऽपि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु।
नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो न हि ॥ ८ ॥

अचेतन जगत् चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है। 'जो जिससे विलक्षण होता है वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे गौसे महिष' इस तर्कसे समन्वय बाधित है। यह पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'जो जो कार्य-कारण हैं वे वे समानरूप हैं' इस व्याप्तिका वृश्चिक आदिमें व्यभिचार देखा जाता है, क्योंकि अचेतन गोमयसे चेतन वृश्चिककी उत्पत्ति होती है और चेतन मनुष्यसे अचेतन केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं। अतः वेद निरपेक्ष शुष्कतर्क कहींपर भी प्रतिष्ठित नहीं है। इस विषयमें आचार्योंने कहा है—'यत्नेनानुमितो०' (अनुमान करनेवाले कुशल पुरुषोंसे यत्नपूर्वक जो अर्थ अनुमानद्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे उनसे भी अधिक कुशल अन्य तीक्ष्ण बुद्धिवाले अन्यथा कर देते हैं) इसलिए वैलक्षण्य हेतु तर्काभास होनेसे समन्वयका बाधक नहीं है ॥३॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—परमाणु आदि वादी काणाद आदि मतोंसे वेद समन्वयका बाध होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें देखा गया है कि पट अपनी अपेक्षा अल्प परिमाणवाले तन्तुओंसे उत्पन्न होता है, अतः परम महत्परिमाणवाला ब्रह्म किसी कार्य द्रव्यका कारण नहीं हो सकता, इसलिए काणाद आदि मतोंसे ब्रह्ममें वेद समन्वयका बाध होता है।

सांख्ययोगस्मृतिभ्यां तदीयतर्केण बाधो मा भूत्साम, कणादबुद्धादि-स्मृतिभिस्तदीयतर्केण च समन्वयोऽपि बाध्यताम्। कणादो हि महर्षिः पर-माणूनां जगत्कारणत्वं स्मरति स्म। तर्कं च तस्मिन्नर्थे प्रोवाच—'विमतं द्वयणुकादिकं स्वस्मान्न्यूनपरिमाणेनाऽऽरब्धं कार्यद्रव्यत्वात्, यथा तन्तुभिः पटः' इति। बुद्धश्च भगवतो विष्णोरवतारोऽभावं जगद्धेतुं स्मरति स्म। तर्कं च तदनुकूलमाह—विमतं भावरूपं जगदभावपुरःसरं भावरूपत्वात्। यथा—'सुषुप्तिपुरःसरः स्वप्नप्रपञ्चः' इति। तस्मात्तैः प्रबलैः कणादादिमतैर्बाधितः।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—यदा वैदिकशिरोमणिभिः पुराणकर्तृभिस्तत्र तत्र प्रसङ्गादुदाहृता। प्रकृतिपुरुषादिप्रतिपादिका सांख्ययोगस्मृतिर्जगत्कारणविषये दौर्बल्येन परित्यक्ता, तदा निखिलैः शिष्टैरुपेक्षितानां कणादादिमतानां दौर्बल्य-मिति किमु वक्तव्यम्। न खलु ब्राह्मपाद्मादिपुराणेषु क्वचिदपि प्रसङ्गाद्द्वय-णुकादिप्रक्रियोदाहृता। प्रत्युत—'हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।'

सिद्धान्त—जब शिष्ट सम्मत स्मृति ही निराकृत हो गई, तब शिष्टोंसे अपरिगृहीत-वर्जित मतके विषयमें कहना ही क्या है। विवर्तवादमें यह नियम नहीं है कि कार्यसे कारण अल्प परिमाणवाला हो। इसलिए कणाद आदि मतोंसे अद्वैत ब्रह्ममें वेदसमन्वय-का बाध नहीं होता।

सांख्य, योग स्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे वेद समन्वयका बाध भले ही न हो, किन्तु कणाद, बुद्ध आदिकी स्मृतियों और उनके तर्कोंसे वेद समन्वयका बाध होना चाहिए। महर्षि कणादने कहा है कि परमाणु जगत्के कारण हैं। इस विषयमें—'विमतं०' (विवादास्पद द्वयणुकादि अपनी अपेक्षा अल्पपरिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न हुए हैं, कार्यद्रव्य होने से, जैसे तन्तुओंसे उत्पन्न पट) यह तर्क-अनुमान भी कहा है। भगवान् विष्णुका अवतार बुद्ध अभावको जगत्का हेतु मानते हैं। 'विमतं०' (विमत भावरूप जगत् अभावसे उत्पन्न है, भावरूप होनेसे सुषुप्तिपूर्वक स्वप्न प्रपञ्चके समान) इस प्रकार तदनुकूल तर्क कहा है। इसलिए इन प्रबल कणाद आदि मतोंसे वेद समन्वय बाधित है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जब वैदिक शिरोमणि पुराण कर्ता-ओंसे प्रसङ्गवश तत् तत् स्थानोंमें उदाहृत प्रकृति पुरुष आदिकी प्रतिपादिका सांख्य-स्मृति और योगस्मृति जगत्कारण विषयमें दुर्बल होनेके कारण त्याग दी गई हैं। तब अखिल शिष्टोंसे उपेक्षित कणाद आदि मत दुर्बल हैं, इनके त्यागके विषयमें तो फिर क्या कहना चाहिए? ब्राह्म, पाद्म आदि पुराणोंमें किसी प्रसङ्गवश कहींपर भी द्वयणुक आदि प्रक्रियाका उदाहरण नहीं है। किन्तु इसके विपरीत 'हैतुकान्बकवृत्तींश्च०' (हेतु वादी और बक वृत्तिवालोंका तो वाणीमात्रसे भी उपचार नहीं करना चाहिए) इस

इति बहुशो निन्दोपलभ्यते। यस्तु न्यूनारम्भत्वनियम उक्तः, नासौ विवर्तवादेऽस्ति दूरस्थस्य पर्वताग्रस्थिते महद्भिर्वृक्षैरत्यल्पदूर्वाग्रभ्रमस्य जन्यमानत्वात्। यदपि-अभावपुरःसरत्वानुमानम्, तत्रापि साध्यविकलो दृष्टान्तः। सुषुप्तेरवस्थास्वेवावस्थानादात्मनः सद्रूपस्याङ्गीकरणीयत्वे सति स्वप्नस्याप्यभावपुरःसरत्वाभावात्। तस्मात्-एतैर्मतैर्नास्ति बाधः ॥ ४ ॥

(पञ्चमे द्वैतस्य भोक्तृभोग्याकारभासमानत्वाधिकरणे सूत्रम्)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥ ६ ॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते।
भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥१०॥

समन्वयेनावगम्यमानमद्वैतं प्रत्यक्षादिसिद्धेन भोक्तृभोग्यभेदेन बाध्यत इति चेन्न। तरङ्गादिरूपेण भेदस्य समुद्ररूपेणाभेदस्य च दृष्टत्वेन भेदाभेदयोर्विरोधा-

---

प्रकार बहुतसे निन्दावचन उपलब्ध होते हैं। यह जो कहा गया है कि कार्यद्रव्य अपनी अपेक्षा अल्प परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न होता है, यह नियम विवर्तवादमें नहीं है। क्योंकि पर्वतके अग्रभागमें स्थित महान् वृक्षोंमें दूरस्थ पुरुषको दुर्वाग्र भागका भ्रम होता है। जो अभाव पूर्वक जगदुत्पत्तिका अनुमान कहा गया है। वहापर भी साध्य शून्य दृष्टान्त है अर्थात् दृष्टान्तमें साध्य ही नहीं है। सुषुप्ति अवस्थाओंमें अवस्थित सद्रूप आत्मा को अङ्गीकार किया गया है, अतः स्वप्न भी अभाव पूर्वक नहीं है। इसलिए इन कणाद आदि मतोंसे वेद समन्वयका बाध नहीं है ॥ ४ ॥

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—भोक्ता भोग्य आदि भेदसे अद्वैत बाधित होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध भेद अद्वैतका बाधक है।

सिद्धान्त—जैसे तरङ्ग फेन आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ समुद्रका अभेद ही अभिप्रेत है, वैसे ही भोक्ता, भोग्य आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ अद्वैत ब्रह्मका तो अभेद ही है।

पूर्वपक्षी—वेदान्त समन्वयसे प्रतीयमान अद्वैतका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध भोक्ता भोग्य आदि भेदसे बाध होता है ?

सिद्धान्ती—ऐसा यदि कहो, तो ठीक नहीं है, क्योंकि तरङ्ग, फेन आदि रूपसे भेद

भावात् । भेदाभेदविरोधव्यवहारस्याऽऽकारभेदेनापि रहितेऽप्यन्तमेकस्मिन्नपि वस्तुनि सावकाशत्वात् । तस्माद् ब्रह्माकारेणाद्वैतम् । भोक्तृभोग्याकारेण द्वैतम्, इत्याकारभेदाद्व्यवस्थासिद्धो न कोऽपि बाधः ॥ ५ ॥

(षष्ठे ब्रह्मण्यद्वैतस्यैव तात्त्विकत्वाधिकरणे सूत्राणि)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥ भावे चोपलब्धेः ॥१५॥ सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥ युक्तेःशब्दान्तराच्च ॥१८॥ पटवच्च ॥ १९ ॥ यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥ ११ ॥
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावतो व्यावहारिकौ ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥ १२ ॥

स्पष्टौ संदेहपूर्वपक्षौ । 'नेह नानाऽस्ति किंचन (बृह० ४।४।१९) इति श्रुतिर्भेदं बाधते । युक्तिश्च परस्परोपमर्दात्मकयोर्भेदाभेदयोरेकत्रासंभवः । एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वासंभवात् । यदुक्तं पूर्वाधिकरणे—आकारभेदाद्भेद इति । तदप्यसत् । अद्वैतवस्तुन्याकारभेदस्यैवाप्रतिपत्तेः । समुद्रादौ तु दृष्टत्वाद-

---

समुद्ररूपसे अभेद देखनेसे भेद और अभेदमें विरोध नहीं है । भेदाभेद विरोध व्यवहार तो आकारभेदसे रहित केवल एक वस्तुमें भी सावकाश हो सकता है । इसलिए 'ब्रह्मरूपसे अद्वैत, भोक्तृ, भोग्यरूपसे द्वैत है । इस प्रकार आकारभेदसे व्यवस्था सिद्ध होनेपर अद्वैतका कोई बाध नहीं है ॥ ५ ॥

छठे अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—कार्य और कारणमें भेद एवं अभेद पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्र, तरङ्ग आदि भेद और अभेदमें स्पष्ट कोई विरोध नहीं है, वैसे ही उनका कहीं बाध न होनेके कारण दोनों पारमार्थिक हैं ।

सिद्धान्त—भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित हैं, अतः दोनों व्यावहारिक हैं । कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, इस लिए अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है ।

सन्देह और पूर्वपक्ष स्पष्ट हैं । 'नेह नानाऽस्ति०' (अद्वितीय ब्रह्ममें किंचदपि नानात्व नहीं है) यह श्रुति भेदका बाध करती है । परस्पर उपमर्दात्मक-विरोधी भेद और अभेद एकत्र नहीं रह सकते हैं, यह युक्ति भी है, क्योंकि एक चन्द्रमा कभी दो नहीं हो

भ्युपगम्यते। 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति न्यायात्। अत्रापि ब्रह्माकार-जगदाकारौ दृष्टौ–इति चेत्, न। ब्रह्मणः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्। तस्मात्—श्रुतियुक्तिबाधितत्वाद्व्यवहारिकौ भेदाभेदौ। किं तर्हि तत्त्वम्—इति चेत्। अद्वैतमेव तत्त्वम्, इति ब्रूमः। कार्यस्य कारणानतिरेकेण कारणमात्रस्य वस्तुत्वात्। तथा च श्रुतिर्मृत्तिकादिदृष्टान्तैः कारणस्यैव सत्यत्वं प्रतिपादयति—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। एवं सोम्य स आदेशः" (छा० ६।१।४) इति। अस्यायमर्थः—प्रौढो मृत्पिण्डः कारणम्। तद्विकारो घटशरावादयः। तत्र मृद्वस्त्वन्यत्, घटादीनि चान्यानि वस्तूनि इति तार्किका मन्यन्ते। तत्र घटादीनां पृथग्वस्तुत्वनिरासाय विकारशब्देन श्रुतिस्तान्युदाहरति। मृद्वस्तुनो विकाराः संस्थानविशेषा घटादयो न पृथग्वस्तुभूताः। यथा देवदत्तस्य बाल्ययौवन-स्थाविरादयस्तद्वत्। सति घटाद्याकारप्रतिभासदशायामपि मृन्मात्रं स्वतन्त्रं वस्तु। ततो मृद्यवगतायां घटादीनां यत्तात्त्विकं स्वरूपं तत्सर्वमवगतम्।

सकता, पूर्व अधिकरणमें जो यह कहा गया कि आकार भेदसे भेद है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अद्वितीय पदार्थमें आकार भेद नहीं हो सकता। समुद्र आदिमें तो दोनों देखे जाते हैं, अतः स्वीकार किया जाता है। क्योंकि 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' (प्रत्यक्ष दृष्टमें कुछ भी अनुपपन्न नहीं है) यह न्याय है। यदि कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भी ब्रह्माकार और जगदाकार देखे जाते हैं, तो यह युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्म तो केवल एकमात्र शास्त्रसे अधिगम्य है, प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है। इस कारण भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित होनेसे पारमार्थिक नहीं हैं किन्तु व्यावहारिक हैं। तब तत्त्व क्या है ? ऐसा यदि कहो तो हम कहते हैं कि अद्वैत ही तत्त्व है, क्योंकि कार्य कारण भिन्न नहीं हैं, इससे केवल कारण ही वस्तु सत् है। 'यथा सोम्यकेन०' (हे सोम्य ! जैसे एक मृत्तिका-पिण्डसे सब मृत्तिकाके विकार ज्ञात हो जाते हैं कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है) इस प्रकार मृत्तिकादि दृष्टान्तोंसे कारणको ही सत्य प्रतिपादन करती है। इस श्रुतिका यह अर्थ है—बड़ा मृत्तिकापिण्ड कारण है, घट, शराव आदि उसके विकार-कार्य हैं। यहाँ मृत्तिका भिन्न [illegible] और घट आदि पदार्थ भिन्न हैं, ऐसा तार्किक मानते हैं। घट आदि पृथक् पदार्थ हैं, इसका निराकरण करनेके लिए श्रुति विकारशब्दसे उनका उदाहरण देती है। मृद्वस्तुके विकार घटादि केवल संस्थान विशेष हैं पृथक् वस्तुभूत नहीं हैं। जैसे देवदत्तकी बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाविशेष हैं। ऐसी स्थितिमें घटादिके आकारसे प्रतीत दशामें भी केवल मृत्तिका ही स्वतन्त्र पदार्थ है। इसलिए मृत्तिकाके अवगत होनेपर उनके विकारभूत घटादिका जो

आकारविशेषो न ज्ञायत इति चेत्। मा ज्ञायतां नाम। तेषामवस्तुभूतानामजिज्ञासार्हत्वात्। चक्षुष प्रतिभासमाना अपि विकारा निरूपिताः सन्तो मृद्व्यतिरेकेण न स्वरूपं किंचिल्लभन्ते। 'घटोऽयं, शरावोऽयम्' इति वाङ्निष्पाद्यनामधेयमात्रं लभन्ते। अतो निर्वस्तुकत्वे सत्युपलभ्यमानस्वरूपेण मिथ्यात्वलक्षणेनोपेतत्वादसत्या विकाराः मृत्तिका तु विकारव्यतिरेकेणापि स्वरूपं लभत इति सत्या। तथा ब्रह्मोपदेशोऽवगन्तव्य.। ब्रह्मणि मृत्तिकान्यायस्य, जगति घटादिन्यायस्य योजयितुं शक्यत्वात्। तस्माज्जगतो ब्रह्माभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम्। एवंविधविचारशून्यानां पुरुषाणामापातदृष्ट्या वेदेनाभ्युपेताद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रतिपत्तेश्च सद्भावात्समुद्रतरङ्गन्यायेन भेदाभेदाववभासेते। तस्माद् व्यावहारिकाविति स्थितिः॥ ६॥

(सप्तमे परमेश्वरस्य हिताहितभागित्वाभावाधिकरणे सूत्राणि)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥ २१॥ अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥२२॥ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥२३॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः।
जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते॥ १३॥

तात्त्विक स्वरूप है वह सर्व अवगत हो जाता है। यदि कहो कि आकार विशेष ज्ञात नहीं होता ? मत ज्ञात हो। वे विकार अवस्तुभूत हैं, अतः वे जिज्ञासाके योग्य भी नहीं हैं। चक्षु इन्द्रियसे भासित विकार निरूपित होते भी उनका मृत्तिकासे भिन्न किंचदपि स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। 'यह घट है' 'यह शराव है' इस प्रकार केवल वागिन्द्रियसे उच्चार्यमाण नाम-मात्र प्राप्त करते हैं। अतएव जो वास्तविक स्वरूप रहित हो और उपलभ्यमानरूप वाला हो वह मिथ्यात्व लक्षण युक्त होता है, इससे विकार मिथ्या हैं। मृत्तिका तो विकारके विना भी स्वरूप प्राप्त करती है, इससे वह सत्य है। इस प्रकार ब्रह्मके विषयमें समझना चाहिए। क्योंकि मृत्तिका न्यायकी ब्रह्ममें और घटादि न्यायकी जगत्में योजना हो सकती है। इसलिए जगत् ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक तत्त्व है। इस प्रकारके विचारोंसे रहित पुरुषोंके लिए आपात साधारण दृष्टिसे वेदमें प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका भी ज्ञान होता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भेद भी प्रतीत होता है, इसलिए समुद्र तरङ्ग न्यायसे भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं। इससे ये दोनों व्यावहारिक हैं यही वस्तु स्थिति है॥ ६॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ॥ १४ ॥

परमेश्वरो हि केषाचिज्जीवानां संसारसक्ताना वैराग्यादिकं हितं न निर्मिमीतेऽहितं च नरकहेतुमधर्मं निर्मिमीते। निर्मिमाणश्च स्वस्य जीवैरभेदं सर्वज्ञतया पश्यति। तस्मात्स्वस्यैव हिताकरणमहितकरणं च प्रसज्येयाताम्। एतच्च न युक्तम्। न हि प्रेक्षावान्कश्चित्स्वस्य हितं करोत्यहितं वा करोति। तस्माद्धिताकरणादिदोषः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वज्ञत्वादीश्वरो जीवसंसारस्य मिथ्यात्वं स्वस्य निर्लेपत्वं च पश्यति। अतो न हिताहितभाक्त्वदोषः ॥ ७ ॥

(अष्टमेऽद्वितीयब्रह्मण एव नानाविधसृष्टिकर्तृत्वाधिकरणे सूत्रे)

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥ देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

संदेह—जीवोंसे अभेद देखनेवाले ईश्वरमें हिताकरण आदि दोष प्रसक्त होंगे कि नहीं ?

पूर्वपक्ष—जीवके अभिन्न होनेसे हिताकरण-अहितकरण आदि दोष ईश्वरके ही होंगे, परन्तु ऐसा होना युक्त नहीं है, इसलिए ईश्वरको जगत्का कारण मानना युक्त नहीं है।

सिद्धान्त—जीवका संसार अवस्तु-मिथ्या है, उससे मेरी कोई हानि नहीं है, ऐसा जाननेवाले ईश्वरमें हिताकरण, अहितकरण दोष लागू नहीं होते।

पूर्वपक्षी—परमेश्वर संसारमें आसक्त कुछ जीवोंके लिए वैराग्यादि हितका निर्माण नहीं करता और नरकके हेतुभूत अधर्मका निर्माण करता है, निर्माण करता हुआ भी सर्वज्ञ होनेके कारण अपनेसे जीवोंका अभेद देखता है। इससे अपनेमें ही हिताकरण और अहितकरण प्रसक्त होंगे, परन्तु यह युक्त नहीं है। ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं है जो अपना ही हित न करे और अहित करे। इसलिए परमेश्वरमें हिताकरणादि दोष प्रसक्त होंगे।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ईश्वर सर्वज्ञ होनेके कारण जीवके संसारको मिथ्या और अपनेको निर्लेप देखता है। इसलिए ईश्वरमें हिताहितभागी दोष नहीं है ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

न संभवेत्संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीय...
नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न संभवि ॥ १५ ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत् ।
नानाकार्यंकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥ १६ ॥

"एकमेवाद्वितीयम्" इति ब्रह्मणः स्वगतसजातीयविजातीयैर्भेदैः शून्यत्वमवगम्यते। स्रष्टव्यानि चाऽऽकाशवाय्वग्न्यादीनि विचित्राणि। नह्यविचित्रे कारणे कार्यवैचित्र्यं युक्तम्। अन्यथैकस्मादेव क्षीराद्दधितैलाद्यनेकविचित्रकार्यप्रसङ्गात्। क्रमश्चाऽऽकाशादीनां श्रुत्याऽवगम्यते। न च तस्य व्यवस्थापकं किंचिदस्ति। तस्मादनेककार्याणां क्रमेण जन्माद्वितीयब्रह्मणो न संभवति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि तत्त्वतो ब्रह्माद्वैतम्, तथाप्यविद्यासहायोपेतमिति श्रुतियुक्त्यनुभवैरवगम्यते "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति श्रुतेः। मायैवाविद्या। उभयोरप्यनिर्वचनीयत्वलक्षणस्यैकत्वात्। न च मायाङ्गीकारे द्वैतापत्तिः। वास्तवस्य द्वितीयस्याभावात्। अत एकमपि ब्रह्मा-

---

सन्देह—एक अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टि हो सकती है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—नाना जातीय-विविध कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक अद्वितीय ब्रह्मसे नहीं हो सकती।

सिद्धान्त—यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे नानाविध कार्योंको उत्पन्न कर सकता है। अविद्याकी शक्तियोंसे कार्यक्रमकी व्यवस्था हो सकती है।

पूर्वपक्षी—'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिसे ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदोंसे रहित प्रतीत होता है। स्रष्टव्य पदार्थ आकाश, वायु, अग्नि आदि तो विचित्र हैं। कारणके अविचित्र होनेपर कार्य विचित्र हो यह युक्त नहीं है। अन्यथा केवल एक दूधसे ही दधि, तैल आदि अनेक विचित्र कार्यका प्रसङ्ग होगा। आकाश आदिका सृष्टिक्रम श्रुतिसे अवगत होता है। किन्तु उपक्रमका कोई व्यवस्थापक नहीं है। इसलिए अनेक कार्योंको क्रमसे उत्पत्ति अद्वितीय ब्रह्मसे नहीं हो सकती।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक है, तो भी 'माया तु'० (मायाको प्रकृति जानो, महेश्वरको मायावी जानो) इस प्रकार श्रुति, युक्ति और अनुभवसे ज्ञात होता है कि वह अविद्यारूपी सहायकसे युक्त है। माया ही अविद्या है। अनिर्वचनीयरूप लक्षण दोनोंमें है, अतः दोनों एक ही हैं। मायाको अङ्गीकार करनेपर भी द्वैतकी आपत्ति नहीं है, क्योंकि वास्तविक द्वितीय पदार्थ नहीं है।

विद्यासहायवशान्नानाकार्यंकरं भविष्यति। न च कार्यक्रमस्य व्यवस्थापकाभावः। अविद्यागतानां शक्तिविशेषाणां व्यवस्थापकत्वात्। तस्मादद्वितीयब्रह्मणो नानाकार्याणां क्रमेण सृष्टिः संभवति ॥ ८ ॥

(नवमे ब्रह्मणः परिणामित्वाधिकरणे सूत्राणि)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥ श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥ स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

नवमाधिकरणमारचयति—

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते ।
कार्त्स्न्याद्ब्रह्मानित्यताप्तेरंशात्सावयवं भवेत् ॥ १७ ॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कार्त्स्न्यान्नापि भागतः ।
युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्र मायिकः ॥ १८ ॥

आरम्भणाधिकरणे (२।१।६) कार्यकारणयोरभेदः प्रतिपादितः अतो न वैशेषिकवदारम्भवादो ब्रह्मवादिनोऽभिमतः। तस्मात्क्षीरदधिन्यायेन परिणामोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्र किं ब्रह्म कार्त्स्न्येन परिणमत उतैकदेशेन। नाऽऽद्यः,

---

इसलिए ब्रह्म एक होते भी अविद्याकी सहायतासे अनेक कार्योंको करनेवाला हो सकता है। कार्यक्रमके व्यवस्थापकका अभाव भी नहीं है, क्योंकि अविद्यागत शक्तिविशेष ही कार्यक्रमका व्यवस्थापक है। इसलिये अद्वितीय ब्रह्मसे नानाकार्योंकी क्रमसे सृष्टि हो सकती है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मका परिणाम होना युक्त है अथवा युक्त नहीं है।

पूर्वपक्ष—यदि ब्रह्मका सम्पूर्णरूपसे परिणाम हो तो ब्रह्म अनित्य हो जायगा, और यदि अंशतः परिणाम हो तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम युक्त नहीं है।

सिद्धान्त—ब्रह्मकी माया शक्तियोंसे बहुरूपता होती है, सम्पूर्णरूपसे अथवा अंशरूपसे नहीं होती। निरवयव ब्रह्मका भी मायिक परिणाम युक्त ही है।

पूर्वपक्षी—आरम्भाधिकरणमें कार्य और कारणका अभेद प्रतिपादित है, इसलिए वैशेषिकके समान ब्रह्मवादीको आरम्भवाद स्वीकृत नहीं है, अतः क्षीर-दधिन्यायसे परिणाम स्वीकार करना चाहिए। यहापर क्या ब्रह्म सम्पूर्णरूपसे परिणत होता है अथवा एकदेशमें ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्णरूपसे परिणाम होनेपर ब्रह्म

अशेषपरिणामे ब्रह्मणः क्षीरवदनित्यत्वप्रसङ्गात्। द्वितीये सावयवत्वप्रसङ्गः। तस्मान्न परिणामः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' इति श्रुतेर्ब्रह्मणो मायाशक्तिभिर्जगद्रूपपरिणामः। न त्वसौ वास्तवः। तेन कृत्स्नैकदेशविकल्पयोर्नात्रावकाशः। तस्माद्युज्यते परिणामः॥ ९॥

(दशमे ब्रह्मणोऽशरीरस्यैव मायासद्भावाधिकरणे सूत्रे)

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥ ३०॥ विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्॥ ३१॥

दशमधिकरणमारचयति—

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते।
ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः॥ १९॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता।
ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः॥ २०॥

लोके मायाविनामैन्द्रजालिकाना शरीरित्वदर्शनादशरीरस्य ब्रह्मणो माया न संभवति।

क्षीरके समान अनित्य हो जायगा, दूसरे पक्ष माननेपर सावयव हो जायगा। इसलिए ब्रह्मका परिणाम युक्त नही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' (परमेश्वर माया शक्तियोसे अनेक रूपवाला होता है) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि माया शक्तियोंसे अनायास ही ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होता है, यह परिणाम वास्तव से नहीं है। इससे सम्पूर्णरूपसे परिणामका या एकदेशसे परिणामका यहा अवकाश ही नही है। इसलिए ब्रह्मका एतादृश परिणाम युक्त है॥ ९॥

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—शरीर रहित ब्रह्ममें माया है अथवा नही ?

पूर्वपक्ष—लोकमे जितने मायावी ऐन्द्रजालिक हैं, वे सब शरीरधारी हैं। अतः शरीर रहित ब्रह्ममे माया नही रहती है।

सिद्धान्त—जैसे बाह्य साधनोंके विना भी ऐन्द्रजालिक मायासे विविध पदार्थोंकी रचना कर लेते हैं, वैसे ही 'मायिनं तु महेश्वरम्' इस श्रुति प्रमाणसे शरीरके विना भी ब्रह्ममे माया हो सकती है।

पूर्वपक्षी—लोकमे मायावी ऐन्द्रजालिकोंमें शरीर युक्त दर्शन होनेसे माया हो सकती है, किन्तु शरीर रहित ब्रह्ममे मायाका संभव नही है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—गृहादिनिर्मातॄणां स्वव्यतिरिक्तमृद्दारुतृणादिबाह्यसाधनसापेक्षत्वदर्शनेऽप्यैन्द्रजालिकस्य बाह्यसाधननैरपेक्ष्येण यथा गृहादिनिर्मातृत्वम्, तथा लौकिकमायाविनः शरीरसापेक्षत्वदर्शनेऽपि ब्रह्मणो मायासिद्ध्यर्थं तदपेक्षा मा भूत्। अथोच्येत—ऐन्द्रजालिकस्य बाह्यहेतुनैरपेक्ष्येण निर्मातृत्वे प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति, तर्हि ब्रह्मणोऽपि शरीरनैरपेक्ष्येण मायासद्भावे "मायिनं तु महेश्वरम्" इति श्रुतिः प्रमाणमस्तु ॥ १० ॥

(एकादशे तृप्तस्यापि ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वाधिकरणे सूत्रे)

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥ लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा, न स्रष्टा फलवाञ्छने।
प्रवृत्तिः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥ २१ ॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं मतः।
अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत् ॥ २२ ॥

'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।६) इति श्रुतेर्नित्यतृप्तः परमेश्वरः। तादृशस्य सृष्टि-

---

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि गृह निर्माण करनेवालोंको अपनेसे अतिरिक्त मृत्तिका, लकड़ी, तृण आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा देखी जाती है, तो भी ऐन्द्रजालिकको जैसे बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना गृह आदि निर्माण कर्ता देखा जाता है। लौकिक मायावी ऐन्द्रजालिकोंको कार्य निर्माणमें शरीरकी अपेक्षा देखनेमें आती है, उसी प्रकार ब्रह्मको मायाकी सिद्धिके लिए शरीरकी अपेक्षा नहीं होती। यदि कहो कि ऐन्द्रजालिकको बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना गृह निर्माण कर्तृत्वमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, तो ब्रह्मको भी शरीरकी अपेक्षाके बिना मायाके सद्भावमें 'मायिनं तु महेश्वरम्' यह श्रुति प्रमाण है ॥ १० ॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—नित्य तृप्त ब्रह्म स्रष्टा है अथवा स्रष्टा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म स्रष्टा नहीं है, क्योंकि फलकी इच्छा होनेपर उसमें अतृप्ति हो जायगी, यदि फलकी इच्छा न हो, तो उसमें उन्मत्त नरतुल्यता हो जायगी।

सिद्धान्त—जैसे लीला, श्वास प्रश्वास आदि फल शून्य चेष्टाएं फलोद्देश्यके बिना विवेकी लोगोंसे भी की जाती हैं, वैसे ही नित्य तृप्त ब्रह्म भी किसी फलेच्छाके बिना जगत्की सृष्टि करता है।

पूर्वपक्षी—'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्द स्वरूप है) इस प्रकार श्रुतिसे यह प्रतीत

विषयायामिच्छायामभ्युपगम्यमानायां नित्यतृप्तिर्व्याहन्येत। अनभ्युपगम्यमानायां त्वबुद्धिपूर्विका सृष्टिं विरचयत उन्मत्तनरतुल्यता प्रसज्येत्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—बुद्धिमद्भिरेव राजादिभिरन्तरेण प्रयोजनं लीलया मृगयादिप्रवृत्तिः क्रियते। श्वासोच्छ्वासव्यवहारस्तु सार्वजनीनः। व्यर्थचेष्टाश्च बालकैः क्रियमाणा बहुशो दृश्यन्ते। तद्वन्नित्यतृप्तोऽपीश्वरः प्रयोजनमन्तरेणाप्यनुन्मत्तः सन्नशेषं जगत्सृजते ॥ ११ ॥

(द्वादशे प्रकरणे वैषम्यनैर्घृण्याभावाधिकरणे सूत्राणि)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥ उपपद्यते

चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥ २३ ॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते।
नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चाऽऽदिमान् ॥ २४ ॥

होता है कि परमेश्वर नित्य तृप्त है। ऐसे परमेश्वरमें सृष्टि विषयिणी इच्छा यदि मानी जाय, तो नित्यतृप्तिका व्याघात हो जायगा। यदि इच्छा न मानी जाय तो अबुद्धि पूर्वक सृष्टिकी रचना करते हुए ब्रह्ममें उन्मत्त नरतुल्यता प्रसक्त होगी।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—बुद्धिशील राजा आदिकी भी प्रयोजनके विना लीला-क्रीडासे शिकार आदि करनेमें प्रवृत्ति देखी जाती है। श्वास-प्रश्वास व्यवहार तो सर्वलोक प्रसिद्ध है। बालकों द्वारा बहुत की गई व्यर्थ चेष्टाएं देखी जाती हैं। उसीके समान नित्य तृप्त ईश्वर प्रयोजनके विना भी विवेकीकी तरह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है ॥ ११ ॥

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्ममें वैषम्य आदि दोषोंकी प्रसक्ति होगी अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—मनुष्य आदिके भेदसे सुख-दुःख आदिकी सृष्टि करता हुआ ईश्वर विषम होगा और सबका संहार करता हुआ निर्घृण (निर्दयी) होगा।

सिद्धान्ती—प्राणियोंद्वारा अनुष्ठित धर्म आदिकी अपेक्षासे ईश्वर सृष्टि आदि करनेमें प्रवृत्त होता है, इससे वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं और संसार अनादि है।

पूर्वपक्षी—ईश्वर देव आदिको अत्यन्त सुखी उत्पन्न करता है, पशु आदिको अत्यन्त

ईश्वरो देवादीनत्यन्तसुखिनः सृजति, पश्वादीनत्यन्तदुःखिनः, मनुष्यान्मध्यमान् । एवं तारतम्येन पुरुषविशेषेषु सुखदुःखे सृजन्नीश्वरः कथं विषमो न स्यात् । कथं नीचैरप्यत्यन्तजुगुप्सितं देवतिर्यङ्मनुष्याद्यशेषं जगदुपसंहरन्निर्घृणो न भवेत् । तस्मात्—वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदीश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गोऽस्ति । प्राणिनामुत्तममध्यमाधमलक्षणवैषम्ये तत्तत्कर्मणामेव प्रयोजकत्वात् । न चैतावतेश्वरस्य स्वातन्त्र्यहानिः । अन्तर्यामितया कर्माध्यक्षत्वात् । नन्वेवं सति [1]घट्टकुटीप्रभातन्याय प्रापद्यते । ईश्वरे वैषम्यं परिहर्तुं कर्मणां वैषम्यहेतुत्वमुक्त्वा पुनरीश्वरस्य स्वातन्त्र्यसिद्धये तत्कर्मनियामकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्यन्ततो गत्वेश्वरस्यैव वैषम्यप्रसङ्गात् । नायं दोषः । नियामकत्वं नाम तत्तद्वस्तुशक्तीनामव्यवस्थापरिहारमात्रम् । शक्तयस्तु मायाशरीरभूताः । न तासामुत्पादक ईश्वरः । ततश्च स्वस्वशक्तिवशात्कर्मणां वैषम्यहेतुत्वेऽपि न व्यवस्थापकस्येश्वरस्य वैषम्यप्रसङ्गः ।

दुःखी और मनुष्यको मध्य-सुख दुःख साधारण उत्पन्न करता है । इस प्रकार तारतम्यसे पुरुष विशेषोंमें सुख दुःख उत्पन्न करता हुआ ईश्वर विषम कैसे नहीं होगा ? और नीचोंसे भी अत्यन्त जुगुप्सित-घृणित देव पशु-मनुष्य आदि सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करता हुआ निर्घृण क्यों न होगा ? इसलिए ईश्वरमें विषमता और निर्घृणता-निर्दयता दोष प्रसक्त होंगे ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ईश्वरमें वैषम्य दोष प्रसक्त नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके उत्तम-मध्यम और अधम रूप वैषम्यमें उन उनके कर्म ही प्रयोजक हैं । इससे ईश्वरकी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती, क्योंकि वह अन्तर्यामी होनेसे कर्माध्यक्ष है । यदि ऐसा हो तो घट्टकुटीप्रभातन्याय प्रसक्त होगा ? क्योंकि ईश्वरमें वैषम्य परिहार करनेके लिये कर्मोंको विषमताका हेतु कहकर पुनः ईश्वरकी स्वतन्त्रताकी सिद्धिके लिए उसे कर्म नियामक माननेसे अन्ततोगत्वा ईश्वरमें ही वैषम्य प्रसङ्ग होगा । यह दोष नहीं है, क्योंकि नियामकत्वका अर्थ उन-उन वस्तु शक्तियोंकी अव्यवस्थाका परिहारमात्र है । शक्तियाँ तो मायाके शरीरभूत हैं, उनका उत्पादक ईश्वर नहीं है । इसलिए अपनी अपनी शक्तिके वश कर्म वैषम्यके हेतु होनेपर भी उनके व्यवस्थापक ईश्वरमें वैषम्य प्रसङ्ग नहीं है । संहार तो सुषुप्तिके समान दुःखका कारण नहीं है ।

१. यथा घट्टे पर्वतीयविषममार्गे राजकरादातुः कस्यचिद्राजपुरुषस्य कुटी वर्तते । तत्र करदानभयेन रात्रौ मार्गान्तरेण चलितस्य सार्थस्य मार्गभ्रान्त्या प्रभाते तत्रैवाऽऽगमनं तद्वत् ।

संहारस्य सुषुप्तिवद्दुःखाजनकत्वात्। प्रत्युत सर्वक्लेशनिवर्तकत्वात्सघृणत्वमेव। नन्ववान्तरसृष्टिषु पूर्वपूर्वकर्मापेक्षया सृजत ईश्वरस्य वैषम्याभावेऽपि प्रथमसृष्टौ पूर्वकर्मासंभवाद्वैषम्यदोषस्तदवस्थ इति चेत्, न। सृष्टिपरम्पराया अनादित्वात्। 'नान्तो न चाऽऽदिः'। (गीता १५।३) इत्यादिशास्त्रात्। तस्मान्न कोऽपि दोषः॥ १२॥

(त्रयोदशे निर्गुणस्यापि ब्रह्मणः प्रकृतित्वाधिकरणे सूत्रम्)

सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥ ३७॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा।
मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात्॥ २५॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते।
निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः॥ २६॥

प्रकृतित्वं नाम कार्याकारेण विक्रियमाणत्वम्। तच्च लोके सगुण एव मृदादावुपलब्धम्। ततो न निर्गुणस्य ब्रह्मणः प्रकृतिता।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि 'प्रक्रियते विक्रियतेऽनयेति प्रकृतिः' इति व्युत्पत्त्या विक्रियमाणत्वं प्रतीयते। तथाऽपि तद्विक्रियमाणत्वं द्वेधा संभवति–क्षीरादि-

---

किन्तु उसके विपरीत सब क्लेशोंका निवर्तक होनेसे दयालु ही है। ऐसा यदि कहो कि अवान्तर सृष्टियोंमें पूर्व पूर्व कर्मकी अपेक्षासे सृष्टि करते हुए ईश्वरमें वैषम्य न होनेपर भी प्रथम सृष्टिमें पूर्व कर्मके असंभव होनेसे वैषम्य दोष ज्योंका त्यों है? तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सृष्टि परम्परा अनादि है। इसमें 'नान्तो न चादिः'०' (न इसका अन्त है और न आदि है) इत्यादि स्मृति प्रमाण है। इससे ईश्वरमें कोई दोष नहीं है॥ १२॥

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—निर्गुण प्रकृति उपादान कारण हो सकता है अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—लोकमें मृत्तिका आदि सगुण ही उपादान कारण उपलब्ध होते हैं, अतएव निर्गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है।

सिद्धान्त—हम भ्रमके अधिष्ठानको प्रकृति मानते हैं। निर्गुण जाति आदि भी प्रकृति हैं। इससे ब्रह्म प्रकृति हो सकता है।

पूर्वपक्षी—कार्यके आकारसे विकृत-परिणत होने वाली वस्तु प्रकृति है, लोकमें सगुण मृत्तिका आदिमें ही प्रकृतित्व उपलब्ध है, इसलिए निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—यद्यपि 'प्रक्रियते विक्रियतेऽनया'

वत्परिणामित्वेन वा, रज्ज्वादिवद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन वा। तत्र निर्गुणस्य परिणामित्वासंभवेऽपि भ्रमाधिष्ठानत्वमस्तु। दृश्यते तु निर्गुणे जात्यादौ भ्रमाधिष्ठानता। मलिनब्राह्मणं दृष्ट्वा 'शूद्रोऽयम्' इति भ्रान्तव्यवहारदर्शनात्। तस्मान्निर्गुणमपि ब्रह्म प्रकृतिरिति सिद्धम् ॥ १३ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	३	५३
सूत्राणि	३७	१७२

'जिससे प्रकृत-परिणत अथवा विकृत किया जाय' इस व्युत्पत्तिसे कार्याकारसे प्रकृत-परिणत होनेवाली वस्तु ही प्रकृति प्रतीत होती है, तो भी वह विकृत होना दो प्रकार से संभव है। दूध आदि दही आदिके रूपमें परिणत होनेके समान अथवा रज्जु आदि सर्प आदि भ्रमके अधिष्ठान होनेके समान। यहां पर यद्यपि निर्गुण ब्रह्म परिणामी नहीं हो सकता, तो भी भ्रमका अधिष्ठान तो हो ही सकता है। निर्गुण जाति आदि भ्रमके अधिष्ठान देखे जाते हैं। क्योंकि मलिन ब्राह्मणको देखकर 'यह शूद्र है' ऐसा भ्रमात्मक व्यवहार देखा जाता है। इससे निर्गुण ब्रह्म भी प्रकृति है यह सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

इति श्री भारतीतीर्थमुनि-प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके द्वितीयाध्यायके प्रथम पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ १ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय पाद

(अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम्)

[इस पादमे सांख्य आदि मतोका दुष्टत्व प्रदर्शन है]

(प्रथमे प्रधानस्य जगद्धेतुत्वाभावाधिकरणे सूत्राणि)।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥ प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥ पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥ व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥ अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥ पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि ॥ ७ ॥ अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥ अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥ विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

द्वितीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः।
अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥ १ ॥
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात्।
सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥ २ ॥

सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानं जगतः प्रकृतिः। जगति सुखाद्यन्वयदर्शनात्। घटपटादय उपलभ्यमानाः सुखाय भवन्ति। उदकाहरणप्रावरणादिकारित्वात्।

द्वितीय पादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्रधान जगत्का हेतु है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—घट, पट आदि सब पदार्थ सुख-दुःख और मोहसे युक्त हैं, अतः ज्ञात होता है कि सुख-दुःख मोहात्मक प्रधान जगत्का हेतु है।

सिद्धान्त—विचित्र जगत्की रचना और उसमें प्रवृत्तिका संभव न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का हेतु नहीं है। सुख दुःख आदि आन्तर हैं और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः घट, पट आदि सुख दुःख और मोहसे युक्त कैसे हो सकते हैं ?

सांख्य—सुख, दुःख मोहात्मक प्रधान जगत्का उपादान कारण है, क्योंकि जगत्में सब पदार्थ सुख, दुःख आदि युक्त दिखाई देते हैं। प्राप्त हुए घट, पट आदि पदार्थ सुखके लिए होते हैं अर्थात् उनसे सुख होता है। क्योंकि उनसे जललाना, शरीर

त एव घटादयोऽन्यैरपह्रियमाणास्तस्यैव दुःखजनकाः। मदोदकाहरणादिकार्यं नापेक्षितं तदा सुखदुःखे न जनयन्ति, केवलमुपेक्षणीयत्वेनावतिष्ठन्ते। तदिदमुपेक्षाविषयत्वं मोहः। 'मुह वैचित्ये' इति धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेरुपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्। अतः सुखदुःखमोहान्वयदर्शनात् 'प्रधानं प्रकृतिः' इति सांख्या मन्यन्ते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न प्रधानं जगद्धेतुः। देहेन्द्रियमहीधरादिरूपस्य विचित्रस्य प्रतिनियतनानासंनिवेशविशेषस्य जगतो रचनायामचेतनस्य प्रधानस्य योग्यत्वासंभवात्। लोके हि प्रतिनियतकार्यस्य विचित्रनानाप्रासादादेरतिबुद्धिमत्कर्तृकत्वोपलम्भात्। आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्धयर्था प्रवृत्तिरपि नाचेतनस्योपपद्यते। चेतनानधिष्ठिते शकटादौ तददर्शनात्। अथ पुरुषस्य चेतनस्य प्रकृत्यधिष्ठातृत्वमभ्युपगम्येत तर्हि असङ्गत्वं पुरुषस्य हीयेत इत्यपसिद्धान्तापत्तिः। यदुक्तम्—सुखदुःखमोहान्विता घटादय इति, तदसत्। सुखादीनामान्तरत्वाद्घटादीनां बाह्यत्वात्। तस्मान्न प्रधानं जगद्धेतुः॥ १॥

(द्वितीये ब्रह्मणो विसदृशजगदुत्पत्तौ काणादीयदृष्टान्तसद्भावाधिकरणे सूत्रम्)।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥ ११॥

आच्छादन आदि कार्य होते हैं। जब उन्हीं घटादिको कोई चुरा ले जाता है तब उसीको वे दुःख देते हैं। जिसे जल लाना आदि कार्योंकी अपेक्षा नहीं है तब उसे सुख-दुःख उत्पन्न नहीं करते, किन्तु केवल उपेक्षणीयरूपसे स्थित रहते हैं। यह उपेक्षाका विषय ही मोह है। 'मुह वैचित्ये' वैचित्यार्थक मुह धातुसे मोह शब्दकी निष्पत्ति हुई है। उपेक्षणीय वस्तुओंमें चित्तकी वृत्ति उदय नहीं होती। अतएव सब पदार्थ सुख, दुःख और मोहसे युक्त देखनेसे प्रधान जगत्का कारण है, ऐसा सांख्य लोग मानते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रधान जगत्का हेतु नहीं है, क्योंकि देह, इन्द्रिय, पर्वत आदि विचित्र असाधारण विविध अनेक अवयव संघटन-विशेषोंसे युक्त जगत्की रचना करनेके लिए प्रधानमें योग्यता नहीं हो सकती। लोकमें अनेक विचित्र महल आदि प्रतिनियत कार्यके निर्माता अत्यन्त बुद्धिवान् ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकारकी रचना तो रहने दो, परन्तु उस रचनाकी सिद्धिके लिए अचेतनमें प्रवृत्ति भी उपपन्न नहीं होती, क्योंकि चेतनसे अनधिष्ठित गाड़ी आदिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। यदि चेतन पुरुषको प्रधानका अधिष्ठाता स्वीकार करें तो पुरुषकी असङ्गताकी हानि होगी, इससे तो अपसिद्धान्त प्रसक्त होगा। जो यह कहा गया है कि घट, पट आदि सुख-दुःख मोहसे युक्त हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख आदि आन्तर हैं और घट, पट आदि बाह्य हैं। इससे प्रधान जगत्का हेतु नहीं है॥ १॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

नास्ति काणादद्दष्टान्तः किंवाऽस्त्यसदृशोद्भवे।
नास्ति शुक्लपटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥ ३ ॥
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात्।
अदीर्घाद्द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ॥ ४ ॥

पूर्वस्मिन्पादे चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगज्जायत इत्यत्र सांख्यान्प्रति लोकसिद्धं गोमयवृश्चिकादिनिदर्शनमभिहितम्। तावता सांख्यैः क्रियमाणस्याऽऽक्षेपस्य परिहृतत्वात्स्वपक्षसाधनसंपन्नं परपक्षदूषणं चास्मिन्पादे प्रक्रम्य पूर्वाधिकरणे साङ्ख्यमतं दूषितम्। इत परं वैशेषिकाणां मतं दूषयितव्यम्। तन्मतस्य च प्रक्रियाबहुलत्वात्तद्वासनावासितः पुरुषस्तत्प्रक्रियासिद्धविलक्षणोत्पत्तिदृष्टान्तमन्तरेण ब्रह्मकारणवादं न बहु मन्यते। अतो 'विसदृशोत्पत्तौ काणादमतसिद्धो दृष्टान्तोऽस्ति न वा' इति विचार्यते। 'नास्ति' इति तावत्प्राप्तम्। यतः शुक्लः पटः शुक्लेभ्य एव तन्तुभ्यो जायते ननु रक्तेभ्यः। तस्मान्नास्ति।

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—असदृश उत्पत्तिमें काणादमत सिद्ध दृष्टान्त है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—नहीं है, क्योंकि शुक्लवस्त्र शुक्ल तन्तुओंसे उत्पन्न होता है।

सिद्धान्त—पारिमाण्डल्य परिमाणवाले अणुपरिमाणसे भी सूक्ष्म परिमाणवाले परमाणुओंसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है और अणुपरिमाणवाले द्व्यणुकसे महत्परिमाण त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अतः असदृशकी उत्पत्तिमें काणादमत सिद्ध दृष्टान्त है।

पूर्वपादमें चेतन ब्रह्मसे विलक्षण अचेतन जगत् उत्पन्न होता है, इस विषयमें सांख्योंके प्रति लोक प्रसिद्ध गोमय-गोबर और वृश्चिक-बिच्छुका दृष्टान्त कहा गया है। उसीसे साङ्ख्योंद्वारा किये गये आक्षेपका परिहार होनेपर भी स्वपक्ष साधन सम्पन्न परपक्ष दूषणका इस पादमें उपक्रमकर पूर्व अधिकरणमें साङ्ख्यमतको दूषित किया गया है। इसके अनन्तर वैशेषिकोंका मत दूषणीय है। वैशेषिक मतके क्रिया बहुल होनेके कारण उसकी वासनासे वासित पुरुष उसकी प्रक्रियासे सिद्ध विलक्षण-विसदृश उत्पत्तिके दृष्टान्तके विना ब्रह्म कारणवादको आदर युक्त नहीं मानेगा। अतः विसदृश उत्पत्तिमें काणादमत सिद्ध दृष्टान्त है अथवा नहीं ? ऐसा विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि शुक्लपट शुक्ल तन्तुओंसे ही

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्येव विसदृशोत्पत्तौ दृष्टान्तः। तथा हि—परमाणवः पारिमाण्डल्यपरिमाणयुक्ताः, न त्वणुपरिमाणयुक्ताः, द्वाभ्यां च परमाणुभ्यामणुपरिमाणरहिताभ्यामणुपरिमाणोपेतं द्व्यणुकमुत्पद्यते। इदमेकं निदर्शनम्। तथा ह्रस्वपरिमाणोपेतं दीर्घपरिमाणरहितं द्व्यणुकम्। तादृशेभ्यो विसदृशेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यो दीर्घपरिमाणोपेतमणुपरिमाणरहितं त्र्यणुकमुत्पद्यते। इदमपरं निदर्शनम्। एवमन्यान्यपि तत्प्रक्रियासिद्धानि निदर्शनान्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

(तृतीये परमाणुकारणवादनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)।

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥ समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥ नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥ रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥ उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥ अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः।
आद्यकर्मजसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥ ५ ॥

उत्पन्न होता है, रक्त तन्तुओंसे नहीं। इससे प्रतीत होता है कि विसदृश उत्पत्तिमें काणादमत सिद्ध दृष्टान्त नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—विसदृशकी उत्पत्तिमें दृष्टान्त है ही. जैसे कि परमाणु पारिमाण्डल्य परिमाणयुक्त हैं अणु परिमाण युक्त नहीं हैं। अणुपरिमाण रहित दो परमाणुओंसे अणुपरिमाणयुक्त द्व्यणुक उत्पन्न होता है। यह एक दृष्टान्त है। ह्रस्व परिमाणयुक्त द्व्यणुक दीर्घपरिमाण रहित है। इस प्रकारके तीन विसदृश द्व्यणुकोंसे दीर्घपरिमाण युक्त अणुपरिमाण रहित त्र्यणुक उत्पन्न होता है। यह दूसरा दृष्टान्त है। इस प्रकार वैशेषिकोंकी प्रक्रियामें प्रसिद्ध अन्य दृष्टान्त भी उदाहरणरूपसे देने चाहिए ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—संयुक्त परमाणु जगत्‌को उत्पन्न करते हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें आद्य कर्म जन्य संयोगसे युक्त परमाणुओंसे द्व्यणुकादिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्त—वह कर्म सनिमित्तक है अथवा अनिमित्तक है, इत्यादि विकल्पोंके होने

सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मणः ।
असंभवादसंयोगे नयन्ति न ते जगत् ॥ ६ ॥

प्रलीने पूर्वसिद्धे जगति यदा महेश्वरस्य विसृक्षा भवति तदा प्राणिकर्मवशान्निखिलेषु परमाणुष्वाद्यं कर्मोत्पद्यते । तस्मात्कर्मण एकः परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुज्यते । तस्माच्च संयोगाद्द्व्यणुकमारभ्यते । तेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकम्, इत्यादिक्रमेण जगदुत्पत्तौ बाधकाभावात्संयुक्ताः परमाणवो जगज्जनयन्ति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यदेतदाद्यं कर्म तन्निर्निमित्तं सनिमित्तं वा । निर्निमित्तत्वे नियामकाभावात्सर्वदा तदुत्पत्तौ प्रलयेऽपि तत्प्रसङ्गः । सनिमित्तत्वेऽपि तन्निमित्तं दृष्टम्, अदृष्टं वा । न तावद्दृष्टम् । प्रयत्नस्याभिघातस्य वा शरीरोत्पत्तेः प्रागसंभवात् । ईश्वरप्रयत्नस्य नित्यस्य कादाचित्काद्यकर्मोत्पत्तिं प्रत्यनियामकत्वात् । नाप्यदृष्टमाद्यकर्मनिमित्तम् । आत्मसमवेतस्यादृष्टस्य परमाणुभिरसंबन्धात् । अत एवमादिविकल्पप्रसरे सत्याद्यकर्मासंभवान्न परमाणुसंयोगो जायते । ततः 'संयुक्तेभ्यः परमाणुभ्यो जगज्जनिः' इति मतं दूरापास्तम् ॥३॥

पर आद्य कर्मके असंभव होनेसे संयोग न होनेपर संयुक्त परमाणु जगत्‌की उत्पत्ति नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्षी—पूर्व सिद्ध जगत्‌के लीन होनेपर जब परमेश्वरको सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तब प्राणियोंके कर्मवश सम्पूर्ण परमाणुओंमें आद्य कर्म उत्पन्न होता है। उस कर्मसे एक परमाणु अन्य परमाणुसे संयुक्त होता है। उस संयोगसे द्व्यणुकका आरम्भ होता है, उन तीन द्व्यणुकोंसे एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है, इत्यादि क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति होनेमें बाधकके न होनेके कारण संयुक्त परमाणु जगत्‌की उत्पत्ति करते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जो यह आद्य कर्म है वह सनिमित्तक है अथवा अनिमित्तक है ? यदि अनिमित्तक है तो नियामकके न होनेसे सदा उसकी उत्पत्ति होनेपर प्रलयमें भी जगदुत्पत्तिका प्रसङ्ग आयगा। यदि सनिमित्तक है तो वह निमित्त दृष्ट है अथवा अदृष्ट ? दृष्ट निमित्त तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रयत्न अथवा अभिघातका शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व संभव नहीं है। ईश्वरका प्रयत्न नित्य है, अतः वह कादाचित्क आद्य कर्मकी उत्पत्तिके प्रति नियामक नहीं हो सकता। अदृष्ट भी आद्य कर्मका निमित्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले अदृष्टका परमाणुओंके साथ सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। इत्यादि विकल्पोंके प्रसर होनेपर आद्य कर्मके संभव न होनेसे परमाणुओंका संयोग ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए संयुक्त परमाणुओंसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, यह मत दूरसे ही अपास्त है ॥ ३ ॥

(चतुर्थे वैनाशिकखण्डने समुदायासिद्धयधिकरणे सूत्राणि)

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥ इतरेतरप्रत्यय-त्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥ उत्तरो-त्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥ असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥ प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधा-प्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥ उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥ आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥ अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥ नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥ उदासीनानामपि चैवंसिद्धिः ॥२७॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः ।
एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥ ७ ॥
स्थिरचेतनराहित्यात्स्वयं वाऽचेतनत्वतः ।
न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥ ८ ॥

बाह्यास्तित्ववादिनो बौद्धा मन्यन्ते—द्वौ समुदायौ बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो भूनदीसमुद्रादिकः । आन्तरश्चित्तचैत्यात्मकः । तदेतत्समुदायद्वयमेवा-शेषं जगत् । तत्र बाह्यसमुदाये परमाणवः कारणम् । ते च परमाणवश्चतु-र्विधाः—केचित्कठिनाकाराः पार्थिवाख्याः । अपरे स्निग्धा आप्याः । अन्ये चोष्णास्तैजसाख्याः । अन्ये चलनात्मका वायवीयाः । तेभ्यश्चतुर्विधेभ्य

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—बाह्य और आभ्यन्तर ये दो समुदाय युक्त हैं अथवा युक्त नहीं हैं ।

पूर्वपक्ष—एक परमाणु हेतुक समुदाय और दूसरा स्कन्धहेतुक समुदाय, इस प्रकार दोनों समुदाय युक्त हैं ।

सिद्धान्त—संघातकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत स्थायी चेतनके न होनेसे और स्वयं अचेतन होनेसे स्कन्धों और परमाणुओंका समुदाय होना युक्त नहीं है ।

बाह्य पदार्थास्तित्ववादी बौद्ध मानते हैं कि दो समुदाय हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । उनमेंसे पृथिवी, नदी, समुद्र आदि बाह्य समुदाय है, चित्त और चैत्यरूप आन्तर समुदाय है, ये दो समुदाय ही सारा जगत् है । यहां बाह्य समुदायमें परमाणु कारण हैं । वे परमाणु चार प्रकारके हैं—उनमें कठिन आकृतिवाले पार्थिव परमाणु कहलाते हैं । दूसरे स्निग्ध परमाणु जलीय हैं, अन्य उष्ण परमाणु तैजस हैं दूसरे चलनात्मक पर-माणु वायवीय हैं । युगपत् पुञ्जीभूत इन चार प्रकारके परमाणुओंसे बाह्य समुदाय

परमाणुभ्यो युगपत्पुञ्जीभूतेभ्यो बाह्यसमुदायो जायते। आन्तरस्य समुदायस्य स्कन्धपञ्चकं कारणम्। रूपस्कन्धः, विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः संस्कारस्कन्धश्चेति पञ्चस्कन्धाः। तत्र चित्तेन निरूप्यमाणाः शब्दस्पर्शादयो रूपस्कन्धः। तदभिव्यक्तिर्विज्ञानस्कन्धः। तज्जन्यं दुःखं वेदनास्कन्धः। देवदत्तादिनामधेयं संज्ञास्कन्धः। एतेषां वासनाः संस्कारस्कन्धः। तेभ्यः पञ्चभ्यः पुञ्जीभूतेभ्य आन्तरसमुदायो जायते। तस्मात्—युज्यते समुदायद्वयम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—किमणूनां स्कन्धानां च संघातोत्पत्तौ निमित्तभूतश्चेतनोऽन्योऽस्ति, किंवा स्वयमेव संहन्यते। आद्येऽपि चेतनः स्थायी, क्षणिको वा। स्थायित्वे—अपसिद्धान्तः। क्षणिकत्वे प्रथमं स्वयं लब्धात्मकः पश्चात्संघातोत्पत्तिं करोतीति वक्तुमशक्यम्। द्वितीये तु—अचेतनाः स्कन्धा अणवश्च नियामकं चेतनमन्तरेण प्रतिनियताकारेण कथं संहन्येताम्। तस्मान्न युक्तं समुदायद्वयम्।४।

(पञ्चमे विज्ञानवादनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)।

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥ न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥ क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥ सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

उत्पन्न होता है। आन्तर समुदायके पाँच स्कन्ध कारण हैं। रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध इस प्रकार पाँच स्कन्ध हैं। उनमें चित्तसे निरूपित किये जानेवाले शब्द, स्पर्श आदि रूपस्कन्ध है, उनकी अभिव्यक्ति विज्ञानस्कन्ध है, उससे जन्य दुःख वेदनास्कन्ध है, देवदत्त आदि नाम संज्ञास्कन्ध है और इन की वासना संस्कारस्कन्ध है। पुञ्जीभूत इन पाँचोंसे आन्तर समुदाय उत्पन्न होता है। इससे दो समुदाय युक्त हैं।

सिद्धान्त—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अणुओंकी और स्कन्धोंकी संघातोत्पत्तिमें क्या निमित्त भूत चेतन अन्य है अथवा वे स्वयं ही संघीभूत होते हैं। आद्य विकल्पमें भी चेतन स्थायी है अथवा क्षणिक ? यदि उसे स्थायी मानो तो सिद्धान्तकी हानि होगी, क्षणिक मानो तो पहले स्वयं आत्मलाभ कर पश्चात् संघातोत्पत्ति करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दूसरे पक्षमें अचेतन स्कन्ध और परमाणु नियामक चेतनके विना प्रतिनियत आकारसे किस प्रकार संघीभूत होंगे। इसलिये दो समुदाय युक्त नहीं हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते।
युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद्बुद्ध्यैव व्यवहारतः॥ ९॥
बाधाबाधात्स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते।
बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नातो धीरर्थरूपभाक्॥ १०॥

केचिद्बौद्धा बाह्यार्थमपलपन्तो विज्ञानमात्रं तत्त्वमाहुः। न च तत्र व्यवहारानुपपत्तिः। स्वप्ने बाह्यार्थाननपेक्ष्य केवलया बुद्ध्या व्यवहारदर्शनात्तथैव जाग्रद्व्यवहारस्याप्युपपत्तेः। तस्मात्—विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषमो हि स्वप्नदृष्टान्तः। प्रबोधदशायां स्वप्नस्य बाध्यमानत्वात्। जाग्रद्व्यवहारस्य च न क्वचिद्बाधं पश्यामः। न च बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणाभावः, उपलब्धेरेव प्रमाणत्वात्। उपलभ्यन्ते हि घटादयो बहिष्ट्वेन। अथोच्येत—बुद्धिरेव बाह्यघटादिवदवभासते। तथा चाऽऽहुः—'यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते' इति। एवं तर्हि त्वदुक्तिरेव बाह्यार्थसद्भावे प्रमाणमिति ब्रूमः। क्वचिदपि बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिराहित्यात् 'बहिर्वत्'

सन्देह—विज्ञानस्कन्धमात्रत्व युक्त है अथवा नहीं? अर्थात् केवल विज्ञान ही है बाह्य पदार्थ नहीं है, विज्ञानवादी बौद्धका यह मत युक्त है अथवा युक्त नहीं है?

पूर्वपक्ष—स्वप्न दृष्टान्तसे केवल बुद्धिसे ही व्यवहार होता है, अतः विज्ञानस्कन्धमात्रत्व युक्त है।

सिद्धान्त—स्वप्नदृष्टान्त विषम है, क्योंकि जाग्रद् व्यवहारका बाध नहीं होता और बाह्य पदार्थ तो उपलब्ध होता है और 'बहिर्वत्' यह तुम्हारी उक्ति भी है, अतः बुद्धि पदार्थरूप नहीं है।

कोई बौद्ध बाह्यार्थका अपलाप करते हुए केवल विज्ञानमात्र ही तत्त्व कहते हैं। उसमें व्यवहारकी अनुपपत्ति भी नहीं है। क्योंकि जैसे स्वप्नमें बाह्यार्थकी अपेक्षा न कर केवल बुद्धिसे व्यवहार दिखाई देता है, वैसे ही जाग्रद् व्यवहारकी भी उपपत्ति होगी। इससे विज्ञानस्कन्धमात्रत्व युक्त है। [यह योगाचारका मत है]

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—स्वप्न दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जाग्रदवस्थामें स्वप्न व्यवहारका बाध होता है जाग्रद् व्यवहारका कहीं पर भी हम बाध नहीं देखते हैं। और बाह्यार्थके सद्भावमें प्रमाणका अभाव भी नहीं है, क्योंकि उपलब्धि ही प्रमाण है। घट आदि पदार्थ बाह्यरूपसे उपलब्ध होते ही हैं। यदि कहो कि बुद्धि ही बाह्य घटादिके समान अवभासित होती है। क्योंकि 'यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं०' (जो आन्तर ज्ञेयतत्त्व है वह बाह्यके समान अवभासित होता है) ऐसा कहते हैं। ऐसी स्थितिमें

इत्युपमानोक्तिर्न संगच्छेत । तस्मात्—बाह्यार्थसद्भावाद्विज्ञानमात्रत्वं न युक्तम् ॥ ५ ॥

(षष्ठे आर्हतानां सप्तभङ्गीनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥३३॥ एवं चाऽऽत्माकात्स्न्र्यम् ॥३४॥

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयान्न वा ।
साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥ ११ ॥
एकस्मिन्सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ।
अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥ १२ ॥

आर्हता मन्यन्ते जीवोऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ । जीवश्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः । अजीव षड्विधः । तत्र महीधरादिरेकः । आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्या पञ्च । 'आस्रवत्यनेन जीवो विषयेषु' इत्यास्रव इन्द्रियसंघातः' । 'संवृणोति विवेकम्' इत्यविवेकादि' संवरः । 'निःशेषेण जीर्यत्यनेन कामक्रोधादिः' इति केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणादिकं तपो निर्जरः । कर्माष्टकेनाऽऽरा-

---

तुम्हारी उक्ति ही बाह्यार्थके सद्भावमें प्रमाण है, ऐसा हम कहते हैं। बाह्यार्थके अभावमें कहींपर भी उसकी व्युत्पत्तिके न होनेसे 'बहिर्वत्' यह उपमानोक्ति संगत नहीं होगी। इसलिए बाह्यार्थके सद्भाव होनेसे विज्ञानमात्रत्व युक्त नहीं है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सप्तभङ्गी नयसे सात पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सप्तभङ्गी रूप साधक न्यायके अस्तित्वसे सात पदार्थोंकी सिद्धिमें आश्चर्य ही क्या है।

सिद्धान्त—एक जीवरूप वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंके प्रतिपादनसे सप्तभङ्गीरूप न्यायाभास है और जीवमें सावयवता नहीं है।

आर्हत लोग ऐसा मानते हैं—जीव और अजीव (जीव-भिन्न) इस प्रकार दो पदार्थ हैं। उनमें जीव चेतन शरीरपरिमाणवाला और सावयव है तथा अजीव छः प्रकारका है। उनमें पर्वत आदि एक है, एवं आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष नामके पाँच और हैं। जीव जिससे विषयोंमें प्रवृत्त होता है, वह आस्रव—इन्द्रिय संघात है। विवेकको आवृत्त करनेवाले अविवेक आदि संवर है। काम, क्रोध आदि जिससे सर्वात्मना जीर्ण हों—केशोंको नोचना, तप्त शिलापर आरोहण आदि तप

दिता जन्ममरणपरम्परा बन्धः। चत्वारी घातिकर्माणि पापविशेषरूपाणि। चत्वारि चाघातिकर्माणि पुण्यविशेषरूपाणि। शास्त्रोक्तोपायेन तेभ्योऽष्टभ्यः कर्मभ्यो विनिर्गतस्य जीवस्य सततोर्ध्वगमनं मोक्षः। त एते सप्त पदार्थाः सप्तभङ्गीरूपेण न्यायेन व्यवस्थाप्यन्ते।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च, इति सप्तभङ्गीनयः। अयमर्थः—स्याच्छब्द ईषदर्थवाची निपातः। प्रतिवादिनोऽपि चतुर्विधाः—सद्वादिनः, असद्वादिनः, सदसद्वादिनः, अनिर्वचनीयवादिनश्चेति। पुनरप्यनिर्वचनीयमते मिश्रितानि सदादिमतानीति त्रिविधा वादिनः। तानेतान्सप्तविधान्वादिनः प्रति सप्तविधन्यायाः प्रयोक्तव्याः। तद्यथा—सद्वादी समाग-

---

निर्जर है। आठ कर्मोंसे संपादित जन्म-मरण परम्परा बन्ध है। पाप विशेषरूप चार घाती कर्म हैं और पुण्य विशेषरूप चार अघाती कर्म हैं। शास्त्रोक्त उपायसे उन आठ कर्मोंसे निर्मुक्त जीवका सतत ऊर्ध्व गमन मोक्ष है। ये सात पदार्थ सप्तभङ्गीरूप न्यायसे व्यवस्थापित होते हैं। 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकारसे है, किसी प्रकारसे नहीं है, किसी प्रकारसे है भी और नहीं भी है, किसी प्रकारसे अवक्तव्य है, किसी प्रकारसे है भी और अवक्तव्य भी है, किसी प्रकारसे नहीं है और अवक्तव्य भी है, किसी प्रकारसे है, नहीं भी है और अवक्तव्य है) इस प्रकार यह सप्तभङ्गी न्याय है। इसका अभिप्राय यह है कि 'स्यात्' शब्द निपात है और इसका अर्थ 'कथंचिद्' है। प्रतिवादी भी चार प्रकारके हैं—सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी और अनिर्वचनीयवादी। अनिर्वचनीयमतमें मिश्रित सदादि मत तीन प्रकारके हैं। उन सात प्रकारके वादियोंके प्रति सात प्रकारके न्याय प्रयोग करने

(ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और आन्तर्य। तत्त्वज्ञानसे मुक्ति नहीं होती यह प्रथम, द्वितीय—आर्हततन्त्रके श्रवणसे मुक्ति नहीं होती, तृतीय—बहुत तीर्थकर प्रदर्शित मोक्षमार्गोंमें विशेषावधारणका न होना, चतुर्थ—मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें विघ्नकरण, ये चार श्रेयके घातक होनेके कारण घाती कर्म कहे जाते हैं) (वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क। प्रथम—मुझे ज्ञातव्य तत्त्व है ऐसा अभिमान, द्वितीय—मैं इस नामवाला हूँ ऐसा अभिमान, तृतीय—मैं देशिक अर्हतके शिष्यवंशमें प्रविष्ट हुआ हूँ ऐसा अभिमान, चतुर्थ—शरीर स्थितिके लिए कर्म करना। तत्त्वज्ञानके अनुकूल होनेके कारण ये चार अघाती कर्म कहे जाते हैं) इसका विशेष विस्तार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यकी 'सत्यानन्दी-दीपिका' में द्रष्टव्य है।

स्याऽऽर्हतं प्रति 'किं त्वन्मते मोक्षोऽस्ति' इति पृच्छति। तत्राऽऽर्हत उत्तरं ब्रूते 'ईषदस्ति' इति। एवमन्यानपि वादिनः प्रति 'स्यान्नास्ति' इत्यादीन्युदाहर्तव्यानि। तावता वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तो नोत्तरं प्रतिपद्यन्ते। अतोऽस्य सप्तभङ्गीरूपस्य साधकन्यायस्य सद्भावाज्जीवादीनां सप्तपदार्थानां सिद्धौ किमत्राऽऽश्चर्यम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सप्तभङ्गीरूपोऽयमपन्यायः। एकस्य जीवपदार्थस्य सद्वादिनं प्रति सद्रूपत्वम्, असद्वादिनं प्रत्यसद्रूपत्वं च, इत्येवमादिविरुद्धधर्मप्रतिपादकत्वात्। न च जीवस्य सावयवत्वं युज्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। तदनित्यत्वे च मोक्षः कस्य पुरुषार्थः स्यात्। तस्मात्—न्यायाभासेन सप्तभङ्ग्याख्येन जीवादिपदार्थानां न सिद्धिः ॥ ६ ॥

(सप्तमे तटस्थेश्वरवादनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥ संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः
॥ ४० ॥ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

तटस्थेश्वरवादोऽयं स युक्तोऽस्य न युज्यते।
युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य संभवात् ॥ १३ ॥

चाहिए। जैसे कि सद्वादी आकर अर्हतको पूछता है कि 'क्या तुम्हारे मतमें मोक्ष है ? तब अर्हत उसका उत्तर कहते हैं—'स्यादस्ति' 'कथंचिद् है'। इस प्रकार अन्य वादियोंके प्रति 'स्यान्नास्ति' इत्यादि न्यायोंके उदाहरण देने चाहिए। इसीसे सब वादी लोग दुःखी होकर उत्तर नहीं पा सकते हैं। अतः इस सप्त भङ्गीरूप साधकन्यायके अस्तित्वमें जीव आदि सप्त पदार्थोंकी सिद्धिमें यहां आश्चर्य ही क्या है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह सप्तभङ्गी न्याय वस्तुतः यह न्याय नहीं किन्तु अपन्याय है। क्योंकि एक जीवपदार्थको सद्वादीके प्रति सद्रूप और असद्वादीके प्रति असद्रूप इत्यादि विरुद्ध धर्मोंका प्रतिपादक है। जीवका सावयवत्व भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीवको सावयव माननेमें अनित्यत्व प्रसङ्ग होगा। उसके अनित्य होनेसे मोक्षरूप पुरुषार्थ किसको होगा ? इसलिए सप्तभङ्गी नामक न्यायाभाससे जीव आदि पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—यह तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त है अथवा युक्त नहीं है ?

पूर्वपक्ष—कुम्भकारके दृष्टान्तसे ईश्वरमें नियन्तृत्वके संभवसे युक्त है।

न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे।
अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः॥ १४॥

पूर्वाध्यायस्योपान्त्याधिकरणे 'जगतो निमित्तमुपादानं चेश्वरः' इत्याग-मबलाद्युक्तम्, तदेतदसहमानास्तार्किकाः शैवादयः केवलं निमित्तत्वमीश्वरस्य मन्यन्ते। युक्तिं चाऽऽहु—यथा कुलालोऽनुपादानभूतो दण्डचक्रादीन्नियच्छन्कर्ता भवति, तथा तटस्थ ईश्वरः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न युक्तं केवलनिमित्तत्वम्। वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य दुष्परि-हरत्वात्। कथं तर्हि त्वया दोषः परिहृत इति चेत्। प्राणिकर्मसापेक्षत्वात्' इति ब्रूमः। तथात्वे चाऽऽगमोऽस्माकं प्रमाणम्। त्वयाऽप्यन्ततो गत्वाऽऽ-गमश्चेदङ्गीक्रियते, तर्हि तटस्थत्वमीश्वरस्य परित्याज्यं स्यात्। "बहु स्यां प्रजायेय" इत्युपादानश्रुत्या विरोधात्। तस्मान्न युक्तस्तटस्थेश्वरवादः॥ ७॥

(अष्टमे जीवोत्पत्तिवादनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

उत्पत्त्यसंभवात्॥ ४२॥ न च कर्तुः करणम्॥ ४३॥
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः॥४४॥ विप्रतिषेधाच्च॥ ४५॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

सिद्धान्त—वेद प्रतिपादित ईश्वरमें विषमता आदि दोषोंसे तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त नहीं है और श्रुतिविरोधसे त्याज्य भी है।

पूर्वाध्यायके उपान्त्य अधिकरणमे—ईश्वर जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। ऐसा जो शास्त्रबलसे कहा गया है। इस मतको न सहन करनेवाले तार्किक, शैव आदि ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानते हैं। युक्ति भी कहते हैं—जैसे अनुपादान भूत कुलाल दण्ड आदिका नियमन करता हुआ घटादिके प्रति केवल कर्ता है, वैसे ही तटस्थ ईश्वर अनुपादान होता हुआ कर्ता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ईश्वर केवल निमित्त कारण युक्त नहीं है, क्योंकि वैषम्य और नैर्घृण्य दोषोंका परिहार दुष्कर है, तो तुमने उस दोषका परिहार कैसे किया? ऐसा यदि कहो तो हम कहते हैं कि ईश्वर प्राणियोंके कर्मोंकी अपेक्षा करता है ऐसा माननेमे हमको शास्त्र प्रमाण भी मिलता है। अन्ततोगत्वा यदि तुम भी शास्त्रको अङ्गीकार करोगे तो ईश्वरमे तटस्थत्वका परित्याग करना पड़ेगा। क्योंकि 'बहु स्यां प्रजायेय०' (बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार ईश्वरको उपादान कारण कहनेवाली श्रुतिके साथ विरोध है। अतएव तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त नहीं है॥७॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

जीवोत्पत्त्यादिकं पञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा ।
युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ॥ १५ ॥
युज्यतामविरुद्धांशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते ।
उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥ १६ ॥

पाञ्चरात्रा भागवता मन्यन्ते—'भगवानेको वासुदेवो जगदुपादानं निमित्तं च । तत्समाराधनध्यानज्ञानैर्भववन्धच्छेदः । तस्माच्च वासुदेवात्संकर्षणाख्यो जीवो जायते । जीवाच्च प्रद्युम्नाख्यं मनः । मनसस्त्वानिरुद्धाख्योऽहंकारः । त एते वासुदेवादयश्चत्वारो व्यूहाः सर्वात्मका इति ।

तत्र वासुदेवं तत्समाराधनादिकं च श्रुतेरविरोधादभ्युपगच्छामः । यत्तु जीव उत्पद्यते, इत्युक्तम् । तदसत् । कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । पूर्वसृष्टौ यो जीवस्तस्योत्पत्तिमत्त्वे प्रलयदशायां तस्मिन्विनष्टे सति तत्कृतधर्माधर्मयोरफलप्रदत्वेन विनाशः प्रसज्येत । अस्मिंश्च कल्प उत्पद्यमाननूतनजीवस्य धर्माधर्मयोः पूर्वमननुष्ठितयोः सतोरिह सुखदुःखप्राप्तिर्भवतीत्यकृताभ्यागमः प्रसज्येत । तस्माज्जीवोत्पत्त्यादिकं न युक्तम् ॥ ८ ॥

सन्देह—पञ्चरात्रमे प्रतिपादित जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जैसे वासुदेव और उसकी आराधना युक्त है, वैसे ही जीवकी उत्पत्ति आदि भी युक्त हैं ।

सिद्धान्त—श्रुतिसे अविरुद्ध अंश वासुदेव और उसकी आराधना तो भले युक्त हो, परन्तु जीवकी उत्पत्ति युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थका विनाश होनेपर कृतनाश और अकृताभ्यागम आदि दोष होंगे ।

भागवत संप्रदायी पाञ्चरात्र मानते हैं—भगवान् वासुदेव एक है और वह जगत्का उपादान और निमित्त कारण है । संसार बन्धका नाश उसकी आराधना, ध्यान और ज्ञानसे होता है । उस वासुदेवसे संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है, जीवसे प्रद्युम्न नामक मन, मनसे अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न होता है । ये वासुदेवादि चार व्यूह सर्वात्मक हैं ।

सिद्धान्ती—उनमे वासुदेव और उसकी आराधना आदि श्रुतिसे अविरोधी होनेके कारण हम स्वीकार करते हैं । परन्तु जो यह कहा गया है कि जीव उत्पन्न होता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कृत कर्मका विना फल भोगे नाश और अकृत कर्मफलकी प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा । पूर्व सृष्टिमे जो जीव है उसकी उत्पत्ति मानो तो 'जो उत्पन्न होता है वह विनाशी होता है' इस न्यायसे प्रलयदशामे उसका नाश होनेपर उसके द्वारा किये गये धर्माधर्मका फल दिये विना ही नाश प्रसक्त होगा । इस कल्पमे उत्पन्न हुए नवीन

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	८	६१
सूत्राणि	४५	२१७

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

(प्रथम आकाशस्य ब्रह्मजन्यताधिकरणे सूत्राणि)

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥ अस्ति तु ॥ २ ॥ गौण्यसंभवात्
॥ ३ ॥ शब्दाच्च ॥ ४ ॥ स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥ यावद्विकारं तु
विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तृतीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ।
जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥ १ ॥

जीवको पूर्वमें अनुष्ठित न हुए धर्माधर्मसे सुख-दुःखरूपी फलकी प्राप्ति होगी, इस प्रकार अकृताभ्यागम दोष प्रसक्त होगा, इसलिए जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त नहीं हैं ॥ ८ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके द्वितीयाध्यायके द्वितीय-
पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ २ ॥

(अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः ।)

[इस पादमें पाच महाभूत और जीवादि श्रुतियोंके विरोधका परिहार है]

तीसरे पादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आकाश नित्य है अथवा उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—उत्पत्ति श्रुतिके गौण होनेसे और कारणत्रयका अभाव होनेसे आकाश नित्य है उत्पन्न नहीं होता ।

एकज्ञानात्सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः ।
विवर्ते कारणैकत्वाद्ब्रह्मणो व्योम जायते ॥ २ ॥

तैत्तिरीयके "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः (तै० २।१) इति श्रूयते। तत्राऽऽकाशं नित्यं न तु जन्मवत्। कुतः। आकाशोत्पादकस्य समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यकारणत्रितयस्य दुःसंपदत्वात्। 'संभूतः' इति जनिश्रुतिस्तु संप्रतिपन्नब्रह्मकार्यवद्व्योम्नि सत्ताश्रयत्वगुणयोगात्प्रवृत्ता। तस्मादनाद्यन्तं व्योम न जायते।

इति प्राप्ते, ब्रूमः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदखिलेषु वेदान्तेषु डिण्डिमः। तच्च व्योम्नो ब्रह्मकार्यत्वे मृद्घटन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेकादुपपादयितुं सुशकम्, नान्यथा। किंच 'आकाशं जायते, विभक्तत्वात्, घटवत्'। न चायमसिद्धो हेतुः। वाय्वादिवैलक्षण्यस्याऽऽकाशे प्रसिद्धत्वात्। न च ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वम्। सर्वात्मकस्य ब्रह्मणः कस्माच्चिदपि विभक्तत्वस्य दुर्भणत्वात्। जनिश्रुतिश्चोत्पत्तिवादिन्यनुगृहीता भवति। यत्तु कारणत्रितयासंभव इत्युक्तम्। तदसत्।

सिद्धान्ती—आकाश उत्पन्न होता है, क्योंकि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान, विभक्तत्व, उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुति है, इसलिए विवर्तवादमें कारणैकत्व ब्रह्मसे आकाश उत्पन्न होता है।

तैत्तिरीयकमें 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) ऐसी श्रुति है। यहाँ आकाश नित्य है, उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि आकाशके उत्पादक समवायी, असमवायी और निमित्त नामके तीन कारणोंका संपादन दुष्कर है। 'आकाशः संभूतः' इसमें 'संभूतः' यह उत्पत्ति श्रुति संप्राप्त ब्रह्मकार्यके समान आकाशमें भी सत्ताश्रयत्व गुणके योगसे प्रवृत्त हुई है। इसलिए आकाश अनादि, अनन्त है उत्पन्न नहीं होता।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सम्पूर्ण वेदान्तोंमें यह प्रसिद्ध घोष है कि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है। इसकी—एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी उपपत्ति, मृद्घटन्यायसे आकाशको ब्रह्मका कार्य माना जाय तो अच्छी तरह हो सकती है, अन्यथा उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। इस विषयमें अनुमान भी हो सकता है। 'आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे, घटके समान।' यह विभक्तत्व असिद्ध हेतु नहीं है, क्योंकि आकाशमें वायु आदिका वैलक्षण्य प्रसिद्ध है। ब्रह्ममें अनैकान्तिकत्व व्यभिचार भी नहीं है, क्योंकि सर्वात्मक ब्रह्मका कहींपर भी विभक्तत्व कथन दुष्कर है। उत्पत्ति प्रतिपादक 'संभूतः' यह उत्पत्ति श्रुति भी अनुगृहीत होती है। जो यह कहा गया है कि कारणत्रयके संभव न होनेसे आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी ठीक नहीं है। यद्यपि आरम्भवादमें कारणत्रयकी अपेक्षा है तो भी विवर्तवादमें उनकी

आरम्भवादे नितयापेक्षायामपि विवर्तवादे तदनपेक्षत्वात्। तस्मात्—एतेभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मणः कारणाद्व्योम जायते ॥ १ ॥

(द्वितीये वायोर्ब्रह्मजन्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात्।
सैषाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेश्च न जायते ॥ ३ ॥
श्रुत्यन्तरोपसंहाराद्गौण्यनस्तमयश्रुतिः।
वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥ ४ ॥

तैत्तिरीयक एव—"आकाशाद्वायु" इति श्रूयते। सेयमुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी। छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे तेजोबन्नानामेवोत्पत्तेरभिधानात्। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयितुमुत्सहते' इति न्यायेन तैत्तिरीयश्रुते कुतो गौणत्वमिति चेत्। 'श्रुत्यन्तरविरोधात्' इति ब्रूमः। बृहदारण्यके—"सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायु

अपेक्षा नहीं है। इसलिए एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञान, विभक्तत्व, उत्पत्ति श्रुति और विवर्तवादमें कारणत्रयकी अनपेक्षा, इन हेतुओंसे कारण ब्रह्मसे आकाश उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वायु नित्य है अथवा उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—छान्दोग्योपनिषद्में वायुकी उत्पत्ति न कहनेसे और बृहदारण्यकमें 'सैषाऽनस्तमिता देवता' (यह वायु अविनाशी देवता है) इस कथनसे प्रतीत होता है कि वायु उत्पन्न नहीं होता है।

सिद्धान्त—तैत्तिरीय श्रुतिके वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेसे 'अनस्तमय' मुख्य नहीं है, आकाशके समान वायु उत्पन्न होता है। आकाशरूपापन्न ब्रह्म उसका कारण है।

तैत्तिरीयकमें 'आकाशाद्वायु०' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) ऐसी श्रुति है, परन्तु यह उत्पत्ति श्रुति गौणी है। क्योंकि छान्दोग्यमें सृष्टि प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी उत्पत्तिका ही अभिधान है। यदि कहो कि कहींपर (छान्दोग्यमें वायुकी उत्पत्तिका) अश्रवण अन्यत्र (तैत्तिरीयमें) श्रुत उत्पत्तिका निवारण नहीं कर सकता, इस न्यायसे तैत्तिरीय श्रुति कैसे गौण है ? तो इसपर हम कहते हैं कि श्रुत्यन्तरसे विरोध है। बृहदारण्यकमें 'सैषा०' (जो वायु है वह अविनाशी देवता है) यह श्रुति वायुके विनाशका प्रतिषेध

(१।५।२२) इति वायोर्विनाशप्रतिषेधात्। उत्पत्तिमत्त्वे न तदयोगात्। तस्मान्न जायते वायुः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—छान्दोग्ये जन्माश्रवणेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन तैत्तिरीयवाक्यस्येतरत्रोपसंहारे सति श्रुतमेव च्छान्दोग्ये वायुजन्म। अनस्तमयश्रुतिस्तु न मुख्या। उपासनाप्रकरणपठितत्वेन स्तुत्यर्थत्वात्। आकाशोत्पत्तिहेतवश्चात्रानुसंधेयाः। न च वायोराकाशकार्यत्वेन ब्रह्माण्यनन्तर्भावाद्ब्रह्मज्ञानेन वायुज्ञानं न सिध्येदिति शङ्कनीयम्। पूर्वपूर्वकार्यविशिष्टस्य ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्यहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणतया वियद्रूपापन्नस्य ब्रह्मण एव वायुकारणत्वात्। तस्माद्वायुर्जायते ॥ २ ॥

(तृतीये सद्ब्रह्मणोऽजन्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

सद्ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते।
यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥ ५ ॥

करती है। यदि वायुकी उत्पत्ति मानी जाय तो उक्त प्रतिषेध नहीं घटेगा। इससे वायु उत्पन्न नहीं होता।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—छान्दोग्यमें वायुके जन्मका श्रवण न होनेपर भी गुणोपसंहार न्यायसे तैत्तिरीयक वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेपर छान्दोग्यमें भी वायुका जन्म श्रुत ही है। वायुको अविनाशी कहनेवाली श्रुति मुख्य नहीं है, क्योंकि उपासना प्रकरणमें पठित होनेके कारण वह स्तुत्यर्थक है। आकाशोत्पत्तिके हेतुओंका यहां अनुसंधान करना चाहिए—वायु आकाशका कार्य होनेके कारण ब्रह्मके अन्तर्भाव न होनेसे ब्रह्मज्ञानसे वायुका ज्ञान सिद्ध नहीं होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्व-पूर्व कार्य विशिष्ट ब्रह्म उत्तरोत्तर कार्यका हेतु है, ऐसा आगे कहनेकी इच्छासे आकाशापन्न ब्रह्म ही वायुका कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि वायु उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सद्ब्रह्म उत्पन्न होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सद्रूप ब्रह्म कारण होनेसे उत्पन्न होता है, क्योंकि जो कारण है वह उत्पन्न होता है, जैसे आकाश, वायु आदि कारण होते उत्पन्न होते हैं।

सिद्धान्त—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि असत् सतका कारण नहीं है,

असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात्।
व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥ ६ ॥

छान्दोग्ये—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (६।२।१) इति श्रूयते। 'तत्सद्रूपं ब्रह्म जन्मवद्भवितुमर्हति, कारणत्वात्, वियद्वत्'।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सद्रूपं ब्रह्म न जायते। कुतः—तज्जनकस्य कारणस्य दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—न तावदसत्कारणम्। 'कथमसतः सज्जायेत' इति निषेधात्। नापि सदेव सतः कारणम्। आत्माश्रयापत्तेः। नापि वियदादिकं सतः कारणम्। वियदादीनां ततः सतो जायमानत्वात्। या तु व्याप्तिः—'यद्यत्कारणं, तत्तज्जायते' इति, सा 'स वा एष महानज आत्मा (बृह० ४।४।२२) इति श्रुतिबाध्या, तस्मात्—सद्ब्रह्म नैव जायते ॥ ३ ॥

(चतुर्थं तेजसो ब्रह्मजन्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात्।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्ते ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥ ७ ॥

आकाश आदिकी सत्से उत्पत्ति होती है, 'जो कारण है वह उत्पन्न होता है' इस व्याप्तिका 'स वा एष महानजः' इस श्रुतिसे बाध होता है।

पूर्वपक्षी—छान्दोग्यमें—'सदेव०' (हे सोम्य! उत्पत्तिके पहले यह सब सत् ही था) यह श्रुति है। 'यह सद्रूप ब्रह्म, जन्मवाला होना चाहिए, कारण होनेसे, आकाशके समान' इस अनुमानसे ब्रह्म उत्पत्तिमान् होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसके कारणका निरूपण दुष्कर है। जैसे कि असत् तो ब्रह्मका कारण नहीं है कारण कि 'असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा ?' इस प्रकार निषेध है। सत् ही सत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेमें आत्माश्रय दोष प्रसक्त होगा। आकाश आदि भी सत्के कारण नहीं हैं, क्योंकि आकाश आदि तो सत्से उत्पन्न होते हैं। 'जो जो कारण है वह वह उत्पन्न होता है' यह जो व्याप्ति है, वह भी 'स वा एष' (यह महान् आत्मा जन्मरहित है) इस श्रुतिसे बाधित है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है अथवा वायुरूपापन्न ब्रह्मसे ?

पूर्वपक्ष—'तत्तेजोऽसृजत०' (उसने तेजको उत्पन्न किया) इस श्रुतिसे तो अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती ज्ञात होती है।

वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः ।
ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः ॥ ८ ॥

छान्दोग्ये—"तत्तेजोऽसृजत' इति तेजसो ब्रह्मजत्वं श्रूयते। तैत्तिरीयके—'वायोरग्निः' इति वायुजत्वम्। तत्र 'वायोः' इति पञ्चम्या आनन्तर्यार्थस्यापि संभवात्केवलब्रह्मजन्यं तेजः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अनुवर्तमानेन संभूतशब्देनान्विताया 'वायोः' इति पञ्चम्या उपादानार्थत्वस्यैव मुख्यत्वात्। उभयोः श्रुत्योरेकवाक्यत्वे सति वायुरूपापन्नाद्ब्रह्मणस्तेजो जायत इति लभ्यते ॥ ४ ॥

(पञ्चम अपां ब्रह्मजन्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

आपः ॥ ११ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मणोऽपां जन्म किंवा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः।
विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥ ९ ॥

सिद्धान्त—'वायोरग्निः०' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है) इस श्रुतिके साथ पूर्व श्रुतिकी एक वाक्यता होनेसे वायुरूपापन्न ब्रह्मसे अग्नि उत्पन्न होती है।

पूर्वपक्षी—छान्दोग्यमें 'तत्तेजोऽसृजत०' (उसने तेजकी सृष्टि की) यह श्रुति अग्निको ब्रह्म जन्य कहती है, और तैत्तिरीयकमें 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई) वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई सुनी जाती है। 'वायोः' इस पञ्चमीका अर्थ आनन्तर्य भी हो सकता है अर्थात् वायुके अनन्तर अग्नि उत्पन्न होती है, इसलिए तेज केवल ब्रह्मसे जन्य है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अनुवर्तमान 'संभूतः' शब्दसे अन्वित 'वायोः' इस पञ्चमीका उपादानरूप ही मुख्य अर्थ है। दोनों श्रुतियोंकी एक वाक्यता होनेपर वायुरूपापन्न ब्रह्मसे तेज उत्पन्न होता है, ऐसा अवगत होता है ॥ ४ ॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मसे जलका जन्म है अथवा अग्निसे ?

पूर्वपक्ष—अग्निसे जल उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है, इसलिए सर्वकारण ब्रह्मसे जलका जन्म है।

सिद्धान्ती—'अग्नेरापः' (अग्निसे जलकी उत्पत्ति है) इस श्रुतिसे अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलका जन्म है। सूक्ष्म अपञ्चीकृत अग्नि और जलका परस्पर विरोध भी नहीं है।

'यद्यपि 'तदपोऽसृजत०' (उसने जलकी सृष्टि की) 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल

अग्नेराप इति श्रुत्वा ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् ।
अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥ १० ॥

यद्यपि 'तदपोऽसृजत' (छा० ६।२।३) 'अग्नेरापः' इत्युभयोश्छान्दोग्यतैत्तिरीययोस्तेजोजन्यत्वमेवापां श्रूयते तथाऽपि न तद्युक्तम् । निवर्त्यनिवर्तकयोरग्निजलयोर्विरुद्धयोर्न हेतुहेतुमद्भाव इति पूर्वपक्षः ।

पञ्चीकृतयोर्दृश्यमानयोर्विरोधेऽप्यपञ्चीकृतयोः श्रुत्येकसमधिगम्ययोर्विरोधकल्पनायोगात् । संतापाधिक्ये स्वेदवृष्ट्युद्भवदर्शनाच्च । श्रुतिद्वयानुसारेण तेजो रूपापन्नाद्ब्रह्मणोऽपां जनिरिति सिद्धान्तः ॥ ५ ॥

(षष्ठे पृथिव्यामन्नशब्दवाच्यताधिकरणे सूत्रम्) ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् ।
पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥ ११ ॥
भूताधिकारात्कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि ।
तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥ १२ ॥

उत्पन्न होता है) छान्दोग्य और तैत्तिरीय इन दोनों उपनिषदोंमें जल अग्निसे उत्पन्न हुआ, ऐसी श्रुति है । तो भी यह युक्त नहीं है । क्योंकि नाश्य और नाशकरूप परस्पर विरोधी अग्नि और जलका कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता । यह पूर्वपक्ष है ।

पञ्चीकृत दृश्यमान अग्नि और जलमें परस्पर नाश्य-नाशकरूप विरोध होनेपर भी अपञ्चीकृत केवल श्रुतिसे ज्ञात होनेवाले अग्नि और जलके विरोधकी कल्पना नहीं हो सकती है । एवं तापके आधिक्यमें स्वेद और वृष्टिकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिए उक्त दो श्रुतियोंके अनुसार अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति होती है । यह सिद्धान्त है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'ता अन्नमसृजन्त' (जलने अन्नकी सृष्टि की) इस श्रुतिमें पठित 'अन्न' शब्द यव आदिका वाचक है अथवा पृथिवीका ?

पूर्वपक्ष—अन्न शब्द यव आदिका ही वाचक है, क्योंकि लोकमें यवादिकी ही अन्नरूपसे प्रसिद्धि है ।

सिद्धान्त—अन्न शब्द पृथिवीका ही वाचक है । क्योंकि महाभूतोंका प्रकरण है, कृष्णरूपका श्रवण है, 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) ऐसी श्रुति है ।

छान्दोग्ये—"ता अन्नमसृजन्त" (६।२।४) इत्यद्भ्योऽन्नस्य जन्म श्रूयते। तत्रान्नशब्दस्य लोकप्रसिद्धया व्रीहियवादिकमर्थः।

इति प्राप्ते ब्रूमः-पृथिव्यत्रान्नशब्दार्थः। पञ्चमहाभूतसृष्टेरधिकृतत्वात्। किंच 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्' यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६।४।१) इति कृष्णरूपं पृथिव्यां बहुलमुपलभ्यते, नतु व्रीहियवादौ। तथा 'अद्भ्यः पृथिवी' इति तैत्तिरीयकश्रुत्यैकवाक्यताबलादत्रान्नं पृथिवी। न चान्नशब्दस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। कार्यकारणयोरन्नपृथिव्योरभेदविवक्षया तदुपपत्तेः। तस्मादन्नं पृथिवी ॥ ६ ॥

(सप्तमे सोपाधिकब्रह्मण एव कार्यकारणत्वाधिकरणे सूत्रम्)

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम्।
व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥ १३ ॥

और पृथिवी अन्नकी हेतु है—कार्य और कारणकी अभेद विवक्षासे अन्न पृथिवी है, यह कथन युक्त है।

पूर्वपक्षी—छान्दोग्यमें 'ता अन्नमसृजन्त०' (जलने अन्नकी सृष्टि की) इस श्रुति वाक्यमें जलसे अन्नका जन्म सुना जाता है) यहां पर अन्न शब्दका अर्थ लोक-प्रसिद्धिसे यव धान आदि है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां अन्न शब्दका अर्थ पृथिवी है, क्योंकि महाभूतोंकी सृष्टिका प्रकरण है। किंच 'यदग्ने रोहितं०' (अग्निका जो रक्तरूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है, जो कृष्णरूप है वह अन्नका है) यह श्रुति है। कृष्णरूप पृथिवीमें बहुधा उपलब्ध होता है, यव, धान आदिमें नहीं। तथा 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तैत्तिरीयक श्रुतिके साथ एक वाक्यताके बलसे यहांपर अन्न पृथिवी ही है। और अन्नशब्दकी पृथिवीमें प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि कार्य कारणरूप अन्न और पृथिवीकी अभेद विवक्षामें वह-प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिए अन्न पृथिवी है अर्थात् अन्नशब्दसे पृथिवी ही विवक्षित है ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आकाश आदि स्वयं ही कार्यके उत्पादक हैं अथवा आकाश आदि उपाधिक ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः०' (आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार श्रुति कथनसे केवल आकाश आदि ही कार्यके उत्पादक हैं।

ईश्वरोऽन्तर्यमयतीत्युक्तं व्योमाद्युपाधिकम् ।
ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेजआदीक्षणादपि ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणेषु पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिः, इति यदेतत्सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तितम्, तदयुक्तम्। 'आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' इत्यादौ ब्रह्मनिरपेक्षात्केवलाद्व्योमादेरुत्तरकार्योत्पत्तिश्रवणात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"य आकाशमन्तरो यमयति, यो वायुमन्तरो यमयति" (बृह० ३।७) इत्यादिनाऽन्तर्यामिब्राह्मणे व्योमादेः स्वातन्त्र्यं निवारितम्। यथा 'तत्तेज ऐक्षत (छा० ६।२।३) 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।४) इति तेज आदेरीक्षणपूर्वकं स्रष्टृत्वं श्रूयते। तच्चेक्षणं चेतनब्रह्मनिरपेक्षाणामचेतनानां न संभवति। तस्मात्—व्योमाद्युपाधिकस्य ब्रह्मण एव कारणत्वम् ॥ ७ ॥

(अष्टमे लयक्रमनिरूपणाधिकरणे सूत्रम्)।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथवा।
क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥ १५ ॥

सिद्धान्त—'ईश्वर अन्तर्यामी है, इस कथनसे और तेज आदिके ईक्षण पूर्वक स्रष्टृत्वके वचनसे भी यह प्रतीत होता है कि आकाश आदि उपाधिक ब्रह्म ही वायु आदिका हेतु है।

पूर्वपक्षी—पूर्व अधिकरणोंमें पूर्व पूर्व कार्योपाधिक ब्रह्मसे उत्तरोत्तर कार्यकी उत्पत्ति होती है, ऐसा जो सिद्धवत् मानकर सिद्धान्त किया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'आकाशाद्वायुः०' (आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म निरपेक्ष केवल आकाश आदिसे उत्तरकार्य-वायु आदिकी उत्पत्ति कही गई है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'य आकाशमन्तरो०' (जो आकाश के अन्तर रहकर आकाशका नियमन करता है, जो वायुके अन्तर रहकर वायुका नियमन करता है) इत्यादि श्रुति वाक्यसे अन्तर्यामी ब्राह्मणमें आकाश आदिकी स्वतन्त्रताका खण्डन किया गया है। तथा 'तत्तेज ऐक्षत०' (उस तेजने ईक्षण किया, उस जलने ईक्षण किया) इस प्रकार श्रुतिमें तेज आदिके ईक्षण पूर्वक स्रष्टृत्वका प्रतिपादन है। वह ईक्षण चेतन ब्रह्म निरपेक्ष अचेतन आकाश आदिमें संभव नहीं है। इस लिए आकाश आदि उपाधिक ब्रह्म ही कारण है ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते यतः।
पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो लये ॥ १६ ॥

आकाशदिक्रमः सृष्टौ क्लृप्तः। अतः प्रलयेऽपि स एव क्रमः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रथमतः कारणे लीने सति निरुपादानानां कार्याणां कंचित्कालमवस्थानं प्रसज्येत। किंच—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्याप प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
(वायुः प्रलीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते)।

इति पुराणे विपरीतक्रमस्योक्तत्वात्क्लृप्त एवायं क्रमः। तस्मात्सृष्टिविपरीतेन पृथिव्यादिक्रमेण प्रलीयते ॥ ८ ॥

(नवमे प्राणादिसृष्टौ क्रमनिरूपणाधिकरणे सूत्रम्)

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

नवमाधिकरणमारचयति—

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वाऽस्ति हि।
प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥ १७ ॥

सन्देह—जो सृष्टिक्रम है वही क्रम प्रलयमें भी समझना चाहिए अथवा विपरीत क्रम ?

पूर्वपक्ष—कल्पनीय क्रमकी अपेक्षा निश्चित क्रम श्रेष्ठ है, इससे प्रलयमें सृष्टिक्रम होना चाहिए अर्थात् सृष्टिक्रमके अनुसार ही प्रलयक्रम भी होना चाहिए।

सिद्धान्त—कारणके न होनेपर कार्यका अस्तित्व युक्त नहीं है। पृथिवी जलमें लीन होती है, इस प्रकार श्रुतिकथनसे प्रलयमें सृष्टिक्रमसे विपरीत क्रम है।

पूर्वपक्षी—सृष्टिमें आकाशादिक्रम निश्चित है, अतः प्रलयमें भी वही क्रम युक्त है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—कारणके पहले लीन होनेपर उपादान रहित कार्योंको कुछ कालतक स्थिति माननी पड़ेगी। किंच 'जगत्प्रतिष्ठा०' (हे नारद ! जगत्की आश्रयभूत पृथिवी जलमें लीन होती है, जल अग्निमें लीन होता है, अग्नि वायुमें लीन होती है, वायु आकाशमें लीन होता है और आकाश अव्यक्तमें लीन होता है) इस प्रकार पुराणमें क्रमके उक्त होनेसे यह प्रलयक्रम क्लृप्त ही है। इसलिए सृष्टिक्रमसे विपरीत पृथिवी आदिके क्रमसे प्रलय होता है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्राण आदि श्रुतिसे पूर्वोक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग होता है अथवा नहीं ?

प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक्क्रमम्।
नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥ १८ ॥

मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ २।३ ॥ इति।

तत्र प्राणादीनां वियदादिभ्यः पूर्वं श्रूयमाणत्वादाकाशादिकः पूर्वोक्तसृष्टिक्रमो भज्येत।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति प्राणादीनां भौतिकत्वश्रवणाद्भूतेष्वेवान्तर्भावेन पृथक्क्रमो नापेक्षितः। न च मुण्डकश्रुतिः क्रमवाचिनी 'आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादाविव क्रमस्याप्रतीयमानत्वात्, उत्पत्तिमात्रं केवलं ब्रूते। तस्मादनया श्रुत्या पूर्वोक्तक्रमभङ्गोऽस्ति ॥ ६ ॥

(दशमे जीवस्य जन्ममरणराहित्याधिकरणे सूत्रम्)

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

पूर्वपक्ष—प्राण, इन्द्रिय और मनका ब्रह्म और आकाशके मध्यमें कथन होनेसे उक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग है।

सिद्धान्त—प्राण आदि भौतिक होनेसे भूतोंमें अन्तर्भूत हैं, अतः वे पृथक् उत्पत्ति क्रमकी इच्छा नहीं करते, इसलिए उक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग नहीं है। प्राण आदिका श्रुतिमें क्रम नहीं कहा गया है।

मुण्डकोपनिषद्में—'एतस्माज्जायते प्राणो०' (आत्मासे प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ और आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है) पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँपर प्राण आदिका आकाश आदिके पूर्वमें श्रवण होनेसे आकाशादिका पूर्वोक्त सृष्टिक्रम भङ्ग होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अन्नमयं हि०' (हे सोम्य ! मन अन्नमय ही है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है) इस प्रकार प्राण आदिमें भौतिकत्व श्रवणसे भूतोंमें अन्तर्भाव होनेसे पृथक्क्रम अपेक्षित नहीं है। मुण्डक श्रुति क्रम वाचक नहीं है, क्योंकि 'आकाशाद्वायुः' वायोरग्निः०' (आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि) इत्यादिके समान उसमें क्रमकी प्रतीति नहीं होती, वह तो केवल उत्पत्तिको कहती है। इसलिए इस मुण्डक श्रुतिसे पूर्वोक्त क्रमका भंग नहीं है ॥ ६ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वाऽऽत्मनो हि ते ।
जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादिस्तथा ॥ १९ ॥
मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि ।
जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेतिशास्त्रतः ॥ २० ॥

लोके 'पुत्रो मे जातः' इति व्यवहाराच्छास्त्रे जातकर्मादिसंस्कारोक्तेश्च जन्ममरणे जीवस्य ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—जीवस्य मुख्यमरणाङ्गीकारे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वाद्देहगते एव जन्ममरणे जीवस्योपचर्येते। औपचारिके एव ते अपेक्ष्य लोकव्यवहारकर्मशास्त्रयोः प्रवृत्तिः। उपनिषच्छास्त्रं तु 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' इति जीवविमुक्तस्यैव शरीरस्य मुख्यं मरणमभिधाय जीवस्य तन्निराचष्टे। तस्माद्वपुषो जन्ममरणे ॥ १० ॥

(एकादशे जीवस्य नित्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)

नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जन्म और मरण जीवके होते हैं अथवा देहके ?

पूर्वपक्ष—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस लौकिक कथनसे तथा शास्त्रमें उक्त जातकर्म आदि संस्कारोंसे प्रतीत होता है कि जीवके ही जन्म-मरण होते हैं।

सिद्धान्त—उक्त जन्म-मरण देहके मुख्य हैं जीवके गौण हैं, गौण जन्ममरणकी अपेक्षासे ही लोक व्यवहार और जातकर्म होते हैं, क्योंकि 'जीवापेतं०' (जीव शून्य शरीर मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है।

पूर्वपक्षी—लोकमें 'पुत्रो मे जातः' (मुझे पुत्र उत्पन्न हुआ) इस व्यवहारसे और शास्त्रमें जातकर्मादि संस्कारोंके कथनसे जन्म-मरण जीवके होते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जीवका मुख्य मरण अङ्गीकार करनेपर कृत कर्मका फल भोगे बिना नाश और अकृत कर्म फलकी प्राप्तिका प्रसङ्ग दुर्निवार है, अतः देहगत जन्ममरणका ही जीवमें उपचार होता है। गौण जन्म-मरणकी अपेक्षासे ही लोक व्यवहार और कर्मशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। उपनिषद् शास्त्र तो 'जीवापेतं वाव०' (जीव शून्य शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता) इस प्रकार जीव रहित शरीरका मुख्य मरण कहकर जीवमें मरणका निराकरण करता है। इसलिए शरीरके ही जन्म मरण होते हैं ॥ १० ॥

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो वियद्वज्जायते न वा।
सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥ २१ ॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत्स्वयम्।
औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम् ॥ २२ ॥

"एकमेवाद्वितीयम्" इति सृष्टेः प्रागद्वयत्वं श्रूयमाणं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य जीवस्यानुत्पत्तौ नोपपद्यते। श्रुतिश्च विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन जीवस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति—"यथाऽग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह० २।१।२०) इति। तस्मात्कल्पादौ वियदादिवद्ब्रह्मणो जीवो जायते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यदद्वयं ब्रह्म तदेव जातायां बुद्धौ जीवरूपेण प्रविशति। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इतिश्रुतेः। अतो जीवानुत्पत्तौ नाद्वयश्रुतिविरोधः। विस्फुलिङ्गश्रुतिस्त्वौपाधिकजन्माभिप्राया प्रवृत्ता। अन्यथा कृतनाशादिदोषस्योक्तत्वात्। वस्तुतत्त्वाभिप्रायेण तु नित्यत्वं श्रुतिर्ब्रूते—"नित्यो

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—कल्पके आरम्भमें ब्रह्मसे जीव आकाशके समान उत्पन्न होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्व अद्वितीयत्वके कथनसे ज्ञात होता है कि चिनगारियोंकी भाँति जीव ब्रह्मसे उत्पन्न होता है।

सिद्धान्त—बुद्धिके उत्पन्न होनेपर अद्वितीय ब्रह्म ही जीवरूपसे स्वयं प्रविष्ट होता है, जीवका जन्म औपाधिक है वस्तुतः श्रुतियोंमें वह नित्य कहा गया है।

पूर्वपक्षी—'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय है) इस प्रकार सृष्टिके पूर्व श्रूयमाण अद्वितीयत्व ब्रह्मसे अतिरिक्त जीवकी उत्पत्ति न माननेपर उपपन्न नहीं होता। और श्रुति विस्फुलिङ्गके दृष्टान्तसे जीवकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है—'यथाऽग्नेः०' (जैसे अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सब प्राण-इन्द्रियाँ, सब लोक, सब वेद, सब भूत और ये सब आत्माएँ निकलती हैं) इससे ज्ञात होता है कि कल्पके आदिमें आकाशके समान जीव ब्रह्मसे उत्पन्न होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जो अद्वय ब्रह्म है वही बुद्धिके उत्पन्न होनेपर जीवरूपसे प्रवेश करता है। क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसकी रचना कर वही जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ) ऐसी श्रुति है। अतः जीवकी उत्पत्ति न होनेपर भी सृष्टिके पूर्वमें अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतिका विरोध नहीं है। विस्फुलिङ्ग श्रुति तो औपाधिक (बुद्धि) जन्मके अभिप्रायसे प्रवृत्त हुई है। अन्यथा कृतनाश-अकृताभ्यागम दोष कहे गये हैं। 'नित्यो०' (आत्मा नित्योंका नित्य और चेतनोंका चेतन है) यह

नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति । तस्मात्कल्पादौ जीवो नोत्पद्यते ॥ ११ ॥

(द्वादशे जीवस्य चिद्रूपत्वाधिकरणे सूत्रम्) ।

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते ।
चिदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥ २३ ॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते ।
द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपाद्यद्वि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥ २४ ॥

तार्किका मन्यन्ते—सुषुप्तिमूर्छासमाधिषु चैतन्याभावादचिद्रूपो जीवः । जागरणे चाऽऽत्ममनःसंयोगाच्चैतन्याख्यो गुणो जायत इति ।

तदसत् । चिद्रूपस्य ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशश्रवणात् । न च चैतन्यं सुषुप्त्यादौ लुप्यते । सुषुप्त्यादिसाक्षित्वेनावस्थानात् । अन्यथा सुषुप्त्यादिपरामर्शायोगात् । कथं तर्हि सुषुप्त्यादौ द्वैताप्रतीतिरिति चेत्, 'द्वैतलोपात्' इति ब्रूमः । तथा च श्रुतिः 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्वि-

---

श्रुति तो वस्तुतत्त्वके अभिप्रायसे जीवकी नित्यता प्रतिपादन करती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि कल्पके आरम्भमें जीव उत्पन्न नहीं होता ॥ ११ ॥

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जीव चेतनरूप है अथवा अचेतनरूप ?

पूर्वपक्ष—जीव अचेतन अभिप्रेत है, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें चेतनका अभाव है और जाग्रत् अवस्थामें जो चेतनता दिखाई देती है । वह आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होती है ।

सिद्धान्त—जीव ब्रह्म स्वरूप होनेसे ही चिद्रूप है वह सुषुप्तिमें लुप्त नहीं होता, सुषुप्तिमें द्वैत प्रपञ्चके लुप्त होनेपर द्वैतकी प्रतीति नहीं होती । परन्तु 'न हि द्रष्टु०' (द्रष्टाकी स्वरूपभूत दृष्टिका लोप नहीं होता) क्योंकि ऐसी श्रुति है ।

तार्किक लोग मानते हैं—सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें चैतन्यका अभाव होनेसे जीव चैतन्यरूप नहीं है, जाग्रदवस्थामें आत्मा और मनके संयोगसे चैतन्य नामक गुण उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं है, क्योंकि चिद्रूप ब्रह्मका ही जीवरूपसे प्रवेश श्रुतिमें कहा गया है । और चैतन्य सुषुप्ति आदिमें लुप्त नहीं होता, क्योंकि सुषुप्ति आदिके साक्षीरूपसे अवस्थित है अन्यथा सुषुप्ति आदिका स्मरण नहीं होगा । भला तब सुषुप्ति आदिमें द्वैतकी अप्रतीति क्यों होती है ? यदि ऐसा कहो तो हम कहते हैं कि द्वैतके लोप

परिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" (बृह० ४।३।२३) इति । अस्यायमर्थः—'तत्र सुषुप्तो जीवः किमपि न पश्यति, इति यल्लौकिकैरुच्यते, तदसत् । पश्यन्नेव जीवस्तदानीं न पश्यति, इति भ्रान्त्या केवलं व्यपदिश्यते । कथं तद्दर्शनमित्यत्र हेतुरुच्यते—द्रष्टुरात्मनः स्वरूपभूताया दृष्टेर्लोपो नहि विद्यते । विनाशरहितस्वभावत्वात् । अन्यथा लोपवादिनोऽपि निःसाक्षिकस्य लोपस्य वक्तुमशक्यत्वात् । कथं तर्हि लौकिकानां 'न पश्यति' इति भ्रम इत्यत्र हेतुरुच्यते—ब्रह्मचैतन्यादन्यक्रियाकारकफलरूपेण विभक्तं जगदाख्यं यद्द्वितीयं वस्तु, तन्नास्ति । तस्य स्वकारणे लीनत्वात् । अतो जागरणवद्द्रष्टृदृश्यदर्शनव्यवहाराणामभावात् 'न पश्यति' इति लौकिकानां भ्रम इति । तस्माच्चिद्रूपो जीवः ॥ १२ ॥

(त्रयोदशे जीवस्य सर्वगतत्वाधिकरणे सूत्राणि)

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥ स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥ नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥ स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥ अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥ गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥ व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥ तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥ पृथगुपदेशात् ॥२८॥

होनेसे द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। इस विषयमें 'यद्वै तन्न पश्यति०' (सुषुप्तावस्थामें वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता अर्थात् सुषुप्तिमें स्वरूपज्ञान है किन्तु विशेष ज्ञान नहीं है, द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है, उस समय उससे अन्य विभक्त द्वितीय नहीं है, जिसे देखे) यह श्रुति भी है। इसका अर्थ यह है—'उस सुषुप्तिमें जीव कुछ भी नहीं देखता' ऐसा जो लोग कहते हैं, वह युक्त नहीं है, क्योंकि देखता हुआ ही जीव उस समय नहीं देखता, यह केवल भ्रान्तिसे ही कहा जाता है, तो उसका दर्शन ज्ञान कैसे होता है ? इसपर हेतु कहते हैं—द्रष्टा आत्माकी स्वरूपभूत दृष्टिका लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी स्वभाव है, अन्यथा लोपवादी भी निःसाक्षिक लोप नहीं कह सकेगा, तो लौकिक जनोंको 'नहीं देखता है' यह भ्रम कैसे होता है ? इस विषयमें हेतु कहते हैं—चैतन्य स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न क्रिया, कारक-साधन, फल रूपसे विभक्त जगत् नामक जो द्वितीय वस्तु है वह नहीं है, क्योंकि उस समय वह अपने कारणमें लीन है। इसलिये उस समय जागरणके समान द्रष्टा, दृश्य और दर्शन व्यवहारोंके अभावसे 'न पश्यति' (नहीं देखता है) ऐसा लौकिक जनोंको भ्रम होता है। अतएव जीव चैतन्य स्वरूप है ॥ १२ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥ याव-
दात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥ पुंस्त्वादि-
वत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥ नित्योपलब्ध्य-
नुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः ।
उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥ २५ ॥
साभासबुद्ध्याऽणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता ।
जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम् ॥ २६ ॥

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" इत्यणुत्वं श्रुतम् । "अस्माच्छरीरा-दुत्क्रामति" इत्युत्क्रान्तिः "चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति गतिः । "तस्मा-ल्लोकात्पुनरेति" इत्यागमनम् । नह्युत्क्रान्त्यादयः सर्वगतस्योपपद्यन्ते । मध्यम-परिमाणस्य तदुपपत्तावप्यणुश्रुतिर्विरुध्यते । अनित्यत्वं च दुर्वारम् । तस्मादणुर्जीवः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—चैतन्यप्रतिबिम्बसहिता बुद्धिरसर्वगता तदुपाधिकत्वा-

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जीव अणु है अथवा सर्वगत-विभु ?

पूर्वपक्ष—'एषोऽणुरात्मा' (यह आत्मा अणु है) इस श्रुति वाक्यसे उत्क्रमण और आगमनके श्रवणसे ज्ञात होता है कि जीव अणु ही है ।

सिद्धान्त—चैतन्य प्रतिबिम्ब सहित बुद्धि अणु है, उस बुद्धि उपाधिके कारण जीव अणु कहा गया है । ब्रह्म स्वरूप होनेसे स्वयं जीव तो सर्वगत है, ऐसा श्रुतिसे प्रतिपादित है ।

पूर्वपक्षी—'एषोऽणुरात्मा०' (यह आत्मा अणु अतिसूक्ष्म चित्तमे जानने योग्य है) इस प्रकार श्रुतिमे जीव अणु कहा गया है । 'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' (इस शरीरसे उत्क्रमण करता है) इस श्रुतिमे जीवका उत्क्रमण कहा गया है । 'चन्द्रमसमेव०' (वे सब चन्द्रलोकको ही जाते हैं) यह गति है, और 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' (चन्द्रलोकसे फिर आता है) इस तरह यह आगमन सुना जाता है । सर्वगत विभुके उत्क्रमण आदि नहीं हो सकते, यद्यपि मध्यम परिमाणवालेके उत्क्रमण आदि हो सकते हैं, तो 'एष अणुरात्मा' इस अणु प्रतिपादक श्रुतिसे विरोध है और जीवमे अनित्यत्व दुर्वार है । इससे जीव अणु परिमाण है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—चैतन्य सहित बुद्धि सर्वव्यापक नहीं

ज्जीवस्याणुत्वोत्क्रान्त्यादय उपपन्नाः। स्वतस्तु जीवस्य ब्रह्मरूपत्वात्सर्वगतत्वम्। "स वा एष महानज आत्मा" (बृह० ४।४।२२) "सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वे० ६।११) इत्यादौ सर्वगतत्वं श्रुतम्। तस्मात्सर्वगतो जीवः॥ १३॥

(चतुर्दशे जीवस्य कर्तृत्वाधिकरणे सूत्राणि)।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥ ३३॥ विहारोपदेशात्॥ ३४॥
उपादानात्॥ ३५॥ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-
विपर्ययः॥ ३६॥ उपलब्धिवदनियमः॥ ३७॥ शक्ति-
विपर्ययात्॥ ३८॥ समाध्यभावाच्च॥ ३९॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसंभवात्।
जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः॥ २७॥
करणत्वान्न धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः।
व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता॥ २८॥

'बुद्धेः परिणामित्वेन क्रियावेशात्मकं कर्तृत्वं संभवति, न त्वसङ्गस्याऽऽत्मनः' इति यत्सांख्यैरुक्तम्।

तदसंगतम्। करणत्वेन क्लृप्तशक्तिकाया बुद्धेः कर्तृशक्तिर्न कल्पयितुं

है। उससे उपहित होनेके कारण जीवमें अणुत्व, उत्क्रमण आदि उपपन्न होते हैं। स्वयं जीव तो ब्रह्मरूप होनेसे सर्वगत है। 'स वा एष' (यह आत्मा महान् और जन्म रहित है) 'सर्वव्यापी०' (वह सर्वव्यापक और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतिमें वह सर्वव्यापक कहा गया है। इससे [सिद्ध होता है] जीव सर्वव्यापक है॥ १३॥

चतुर्दश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जीव अकर्ता है अथवा कर्ता ?

पूर्वपक्ष—सांख्य सिद्धान्ती कहते हैं कि जब बुद्धि कर्त्री हो सकती है तब जीवको कर्ता क्यों माना जाय।

सिद्धान्त—बुद्धि करण होनेसे कर्त्री नहीं हो सकती, याग, श्रवण और लौकिक कृष्यादि व्यापार कर्ताके बिना नहीं हो सकते हैं, इसलिए जीव ही कर्ता है।

बुद्धि परिणामिनी है, अतः उसमें कर्तृत्व हो सकता है, परन्तु असङ्ग आत्मामें कर्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार जो सांख्यवादियोंने कहा है।

सिद्धान्ती—वह ठीक नहीं है, क्योंकि करणरूपसे क्लृप्त शक्तिवाली बुद्धिमें कर्तृ-

शक्त्या। कुठारादावदर्शनात्। बुद्धेः कर्तृत्वे करणान्तरस्य कल्पनीयत्वाच्च। न च सा भूक्तर्तेति वाच्यम्। पूर्वकाण्डोक्तयागादिव्यापाराणामुत्तरकाण्डोक्तश्रवणादिव्यापाराणां लौकिककृष्यादिव्यापाराणां च कर्तृसापेक्षत्वात्। तस्माज्जीवः कर्ता ॥ १४ ॥

(पञ्चदशे जीवस्याध्यस्तकर्तृत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

कर्तृत्वं वास्तवं किंवा कल्पितं वास्तवं भवेत्।
यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याबाधितत्वतः ॥२९॥
असङ्गो हीति तद्बाधात्स्फाटिके रक्ततेव तत्।
अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसंनिधेः ॥ ३० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतिपादितस्य कर्तृत्वस्य बाधाभावाद्वास्तवम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुत्या कर्तृत्वसङ्गो बाध्यते। अतो यथा जपाकुसुमसंनिधिवशात्स्फटिके रक्तत्वमध्यस्तं तथाऽन्तःकरणसंनिधिवशात्कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्यते ॥ १५ ॥

शक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती है, कारण कि कुठार आदिमें ऐसा नहीं देखा जाता है। यदि बुद्धिको कर्त्री मानें तो अन्य कारणकी कल्पना करनी होगी। तब कर्ता ही मत हो। ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कर्मकाण्डमें उक्त याग आदि व्यापार वेदान्तमें उक्त श्रवण आदि व्यापार और कृष्यादि लौकिक व्यापार सर्वथा कर्ताकी अपेक्षा करते हैं, इस लिए जीव ही कर्ता है ॥ १४ ॥

पञ्चदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आत्मामें कथित कर्तृत्व सत्य है अथवा कल्पित ?

पूर्वपक्ष—'यजेत' इत्यादि शास्त्रसे सिद्ध कर्तृत्व अबाधित होनेसे वास्तविक है।

सिद्धान्त—'असङ्गो हि०' इस शास्त्रसे कर्तृत्वका बाध होनेसे स्फटिकमें रक्तताके समान बुद्धि, चक्षु आदि करणरूप उपाधिकी सन्निधिसे आत्मामें कर्तृत्व अध्यस्त है।

पूर्वपक्षी—पूर्व अधिकरणमें प्रतिपादित कर्तृत्वका बाध न होनेसे आत्मामें कर्तृत्व वास्तविक है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असङ्ग ही है) इस श्रुतिसे आत्मामें कर्तृत्व सम्बन्ध बाधित है। अतः जैसे जपाकुसुमके संनिधानसे स्फटिकमें रक्तत्व अध्यस्त है, वैसे ही अन्तःकरणके सान्निध्यसे आत्मामें कर्तृत्व अध्यस्त है, वास्तविक नहीं ॥ १५ ॥

(षोडश ईश्वरस्य जीवप्रवर्तकत्वाधिकरणे सूत्रे)।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥ कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रति-
षिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

षोडशाधिकरणमारचयति—

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषौ ।
दृष्टा वृत्तिर्वैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥३१॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषमत्वतः ।
रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत्र ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥ ३२ ॥

लोके कृषीवलादीनां रागद्वेषावेव प्रवर्तकौ दृष्टौ। तदनुसाराद्धर्माधर्मकर्तृ-जीवस्यापि तावेव प्रवर्तकावभ्युपेयौ। ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे कांश्चिज्जीवान्धर्मे प्रवर्तयति, कांश्चिदधर्मे, इति वैषम्यं दुर्वारम्। तस्मान्नेश्वरः प्रवर्तकः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदीश्वरस्य वैषम्यदोषप्रसक्तः। वृष्टिवत्साधारण-निमित्तत्वात्। यथा वृष्टेः सस्याभिवृद्धिहेतुत्वेऽपि व्रीहियवादिवैषम्ये बीजानामेव निमित्तत्वम्, तथेश्वरस्य 'यथायथं जीवाः प्रवर्तन्ताम्' इत्यनुज्ञया साधारण-प्रवर्तकत्वात्। असाधारणप्रवर्तकत्वेऽपि न वैषम्यम्। पूर्वकृतकर्मणां वासनानां

षोडश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जीवके प्रवर्तक राग आदि हैं अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—कृषिमें रागमूलक प्रवृत्ति देखी जाती है, ईश्वरको प्रवर्तक माननेपर ईश्वरमें वैषम्य प्रसक्त होगा, अतएव जीवके प्रवर्तक राग आदि हैं ईश्वर नहीं।

सिद्धान्त—सस्यो-धान्योंमें वृष्टिके समान जीवोंमें ईश्वर विषम नहीं है, और राग आदि अन्तर्यामी ईश्वरके अधीन हैं, अतः जीवका प्रवर्तक ईश्वर है।

पूर्वपक्षी—लोकमें राग, द्वेष ही कृषिकोंके प्रवर्तक देखे जाते हैं। उन्हींके अनुसार धर्म और अधर्म करनेवाले जीवके भी वे ही प्रवर्तक स्वीकार किये गये हैं। यदि ईश्वर प्रवर्तक हो तो कुछ जीवोंको धर्ममें प्रवृत्त करता है और कुछ एकको अधर्ममें, इस प्रकार ईश्वरमें विषमताका निवारण नहीं हो सकता, इससे ईश्वर जीवका प्रवर्तक नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ईश्वरको वैषम्य दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि वह वृष्टिके समान सबके प्रति साधारण निमित्त है, जैसे वृष्टि सब धान्योंके प्रति वृद्धिका समान हेतु होनेपर भी व्रीहि-धान, यवादिकी विषमतामें उनके बीज ही निमित्त हैं, वैसे ईश्वर 'यथा योग्य जीव प्रवृत्त हों' इस प्रकारकी अनुज्ञासे साधारण प्रवर्तक है। यदि ईश्वरको असाधारण प्रवर्तक माना जाय तो भी उसमें 'विषमता नहीं

च वैषम्यहेतुत्वात्। कर्मणां फलहेतुत्वमेव, न कर्मान्तरहेतुत्वमिति चेत्। सत्यम्। सुखदुःखरूपस्य स्वफलस्य प्रदानाय जीवं व्यापारयत्सु कर्मस्वर्थात्कर्मान्तरमपि निष्पद्यत इति दुर्वारं तद्धेतुत्वम्। वासनानां तु साक्षादेव कर्महेतुत्वम्। तथा चेश्वरस्य कुतो वैषम्यप्रसङ्गः। यत्तु रागस्य प्रवर्तकत्वनिदर्शनमुदाहृतम्, तत्तथाऽस्तु। न तावतेश्वरस्य प्रवर्तकत्वहानिः। सर्वान्तर्यामिणेश्वरेण रागस्यापि नियम्यमानत्वात्। तस्मादीश्वरो जीवस्य प्रवर्तकः ॥ १६ ॥

(सप्तदशे जीवेश्वरव्यवस्थाधिकरणे सूत्राणि)

> अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥ मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥ अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥ प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥ स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥ अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥ असंततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥ आभास एव च ॥ ५० ॥ अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥ अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥ प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

सप्तदशाधिकरणमारचयति।

> किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात्।
> अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवार्यते ॥ ३३ ॥
> अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पने ।
> जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥ ३४ ॥

है क्योंकि पूर्व कृत कर्म और वासनाएं वैषम्यके हेतु हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि कर्म फलके हेतु हैं कर्मान्तरके प्रति हेतु नहीं हैं। यह ठीक है, परन्तु सुख दुःखरूप अपने फल देनेके लिए जीवकी प्रेरणा करते हुए कर्म अर्थतः कर्मान्तरको उत्पन्न करते हैं, अतः अन्यकर्मके प्रति उनमें कारणत्व दुर्वार है। वासनाएं तो साक्षात् ही कर्मकी हेतु हैं। तो इस प्रकार ईश्वरमें वैषम्य प्रसङ्ग कैसे होगा ? जो रागमें प्रवर्तकत्वका दृष्टान्त उदाहृत किया किया है। वह भले वैसा ही हो। परन्तु उससे ईश्वरमें प्रवर्तकत्वकी कुछ हानि नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामी ईश्वर द्वारा रागका भी नियमन होता है। इससे ईश्वर ही जीवका प्रवर्तक है ॥ १६ ॥

सप्तदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या जीव और ईश्वरका परस्पर साङ्कर्य है अथवा दोनों श्रुतियोंसे कोई व्यवस्था हो सकती है ?

"तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिर्जीवेशयोरभेदं प्रतिपादयति। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिना द्रष्टृद्रष्टव्यरूपेण भेदः प्रतीयते। तथा च सति भेदश्रुतिबलात् 'जीवो नास्ति' इत्यपलपितुमशक्यम्। अभेदश्रुत्या चेश्वरात्पृथक्त्वेन व्यवस्थापयितुं न शक्यते। तस्माद्विद्यमानस्य जीवस्येश्वरेण साङ्कर्यं दुर्वारम्। परस्परं च जीवानामीश्वरादभेदद्वारा साङ्कर्यमानुषङ्गिकम्। तस्मात्—ब्रह्मवादिनो न जगद्व्यवस्था।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि गोमहिषवज्जीवेश्वरयोरत्यन्तभेदो वास्तवो नास्ति, तथाऽपि व्यवहारदशायामुपाधिकल्पितं भेदमाश्रित्य शास्त्राणि त्रेधा जीवं निरूपयन्ति। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी० १५।७)

इत्यंशत्वमवगम्यते। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति श्रुतौ विज्ञानमयस्य जीवस्य विज्ञानशब्दवाच्यया बुद्धया समानपरिमाणनिर्देशाद्घटाकाशवदवच्छिन्नत्वं प्रतीयते।

पूर्वपक्ष—अभेद श्रुति और भेद श्रुतिके विषय होनेसे जीव और ईश्वरके साङ्कर्यका निवारण नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—अंश, अवच्छिन्न और आभास इस प्रकार औपाधिक कल्पनाओंसे जीव और ईश्वरकी तथा परस्पर जीवोंकी व्यवस्था हो सकती है। अतः साङ्कर्य नहीं है।

पूर्वपक्षी—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति जीव और ईश्वरका अभेद प्रतिपादन करती है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' इत्यादि श्रुतिसे द्रष्टृ द्रष्टव्यरूपसे भेद प्रतीत होता है। इस प्रकार भेद श्रुतिके बलसे 'जीव नहीं है' इस प्रकार अपलाप नहीं कर सकते और 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद श्रुतिसे जीवकी ईश्वरसे पृथक्‌रूपसे व्यवस्था नहीं कर सकते। इसलिए विद्यमान जीवका ईश्वरके साथ साङ्कर्य दुर्वार है। परस्पर जीवोंका ईश्वरसे अभेद द्वारा साङ्कर्य आनुषङ्गिक है। इससे ब्रह्मवादी जगत्‌की व्यवस्था नहीं कर सकता।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि गौ और महिषके समान जीव और ईश्वरका अत्यन्त भेद वास्तविक नहीं है, तथापि व्यवहारदशामें उपाधि कल्पित भेदका आश्रय कर शास्त्र तीन प्रकारसे जीवका निरूपण करते हैं। 'ममैवांशो०' (जीवलोकमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है) इससे जीव ईश्वरका अंश अवगत होता है। 'स समानः०' (वह विज्ञानमय-जीव बुद्धिके सदृश होकर दोनों लोकोंमें संचार करता है) इस श्रुतिमें विज्ञानमय जीवका विज्ञान-शब्द वाच्य बुद्धिके साथ तुल्य परिमाणके निर्देशसे घटाकाशके समान अवच्छिन्न प्रतीत होता है। 'एक एव तु०' (एक

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

इत्याभासत्वमवगम्यते । तस्मात्सुलभैव ब्रह्मवादिना जीवेश्वरव्यवस्था । जीवानां च परस्परमनेकजलपात्रस्थबहुसूर्यप्रतिबिम्बवद्व्यवहारव्यवस्था सुतरामुपपद्यते । तस्मान्न कोऽपि दोष इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	१७	७८
सूत्राणि	५३	३७०

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

(अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः)

[इस पादमें लिङ्गशरीर श्रुतियोंके विरोधका परिहार है]

(प्रथमं इन्द्रियाणां परमात्मजन्यत्वाधिकरणे सूत्राणि) ।

तथा प्राणाः ॥ १ ॥ गौण्यसंभवात् ॥ २ ॥ तत्प्राक्श्रुतेश्च
॥ ३ ॥ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥ १ ॥

ही भूतात्मा प्रतिभूतमें व्यवस्थित है जलचन्द्रके समान एक होता भी अनेक प्रकार दिखाई देता है । इस शास्त्रसे अवभासत्व अवगत होता है ।) इससे ब्रह्मवादीके लिए जीव और ईश्वरकी व्यवस्था सुलभ है । और जीवोंकी परस्पर अनेक जल पात्रोंमें सूर्यके अनेक प्रतिबिम्बोंके समान व्यवहारव्यवस्था सुतरां उपपन्न होती है । अतः कोई भी दोष नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके द्वितीयाध्यायके तृतीय
पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ३ ॥

एकबुद्धया सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः।
उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥ २ ॥

'ऋषयो वाव तेऽग्रे तदासीत्, (तदाहुः) के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः' इति श्रुत्या सृष्टेः पूर्वमिन्द्रियाणां सद्भावावगमादनादित्वं तेषाम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदिन्द्रियाणामनुत्पत्तौ न घटते। तथा 'अन्नमयं हि सोम्य मनः। आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्' इति भूतकार्यत्वमिन्द्रियाणां श्रूयते। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति स्पष्टमेवेन्द्रियाणां जन्मश्रवणम्। यत्तु सृष्टेः प्राक्सद्भाववाक्यम्। तदवान्तरसृष्टिविषयतया व्याख्येयम्। तस्मादिन्द्रियाणि परमात्मन उत्पद्यन्ते, ॥ १ ॥

(द्वितीय इन्द्रियाणामेकादशत्वाधिकरणे सूत्रे)।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥ हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः।
सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु च्छिद्रेषु च विशेषणात् ॥ ३ ॥

चतुर्थ पादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या इन्द्रियाँ अनादि हैं अथवा परमात्मासे उत्पन्न होती हैं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें ऋषि नामसे इन्द्रियोंका अस्तित्व कहा गया है। अतः अनादि हैं।

सिद्धान्त—इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान, भूतकार्यत्व और उनकी उत्पत्ति श्रुति है। सृष्टिके पूर्वमें उनका सद्भाव अवान्तर सृष्टिके अभिप्रायसे है।

पूर्वपक्षी—'ऋषयो वाव०' (उत्पत्तिके पूर्वमें वे ऋषि ही असत् थे, वे कहते हैं—वे ऋषि कौन हैं ? वे ऋषि प्राण-इन्द्रियां थे) इस श्रुतिसे सृष्टिके पूर्वमें इन्द्रियोंका अस्तित्व अवगत होता है, अतः वे अनादि हैं उत्पन्न नहीं होतीं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यदि इन्द्रियोंकी उत्पत्ति न मानें तो एक विज्ञानसे सर्व विज्ञान न घटेगा। तथा 'अन्नमयं हि०' (हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण-इन्द्रियाँ जलमय हैं, वाणी तेजोमयी है) इस प्रकार श्रुति इन्द्रियोंको भूतोंका कार्य कहती है। 'एतस्माज्जायते०' (उस आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है, मन और सब इन्द्रियाँ) यह श्रुति इन्द्रियोंका स्पष्ट जन्म प्रतिपादन करती है। और जो सृष्टिके पूर्वमें इन्द्रियोंके अस्तित्वका वाक्य है। उसकी अवान्तर सृष्टि परत्वसे व्याख्या करनी चाहिए। अतः इन्द्रियाँ परमात्मासे उत्पन्न होती हैं ॥ १ ॥

अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात्।
ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥ ४॥

सप्तैवेन्द्रियाणि। कुतः। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति" इति सामान्यश्रुतेः। "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" इति शिरोगतसप्तच्छिद्रनिष्ठत्वेन विशेषितत्वाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—शिरोनिष्ठेभ्य इतराणि हस्तादीन्यपि वेदे समीर्यन्ते। "हस्तौ चाऽऽदातव्यं च। उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च" *इत्यादिना। तथा च वेदान्निश्चये सत्येकादशव्यापाराणां दर्शनश्रवणघ्राणास्वादनस्पर्शनाभिवदनादानगमनानन्दविसर्गध्यानानामुपलम्भात्तत्साधनत्वेन 'इन्द्रियाण्येकादश' इत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ २ ॥

(तृतीय इन्द्रियाणामणुत्वाधिकरणे सूत्रम्)।

अणवश्च ॥ ७ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—इन्द्रियाँ सात हैं अथवा एकादश ?

पूर्वपक्ष—इन्द्रियाँ सात हैं, क्योंकि 'सप्त प्राणाः' ऐसी श्रुति है, और मस्तकके सात छिद्रोंके आधारपर वे इन्द्रियाँ विशेषित हैं।

सिद्धान्त—*मस्तकके छिद्रोंके विना अन्य हस्त आदिका वेदमें कथन है, अतः तत् तत् कार्यके अनुसार एकादश इन्द्रियाँ जाननी चाहिए।*

पूर्वपक्षी—इन्द्रियाँ सात ही हैं, क्योंकि 'सप्त प्राणाः०' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) यह सामान्य श्रुति है, और 'सप्त वै०' (निश्चय सात ही मस्तकस्थ प्राण-इन्द्रियाँ हैं) इस प्रकार मस्तक गत सात छिद्रोंमें विशेषित हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—मस्तक निष्ठ इन्द्रियोंसे अतिरिक्त हस्त आदि भी वेदमें कहे गये हैं। 'हस्त और आदातव्य-ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य-स्थान इत्यादि श्रुतिसे कहे गये हैं। इसलिए वेदसे निश्चय होनेपर 'दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, अभिवदन, आदान, गमन, आनन्द, विसर्ग और ध्यान' इस प्रकार एकादश व्यापारोंके उपलब्ध होनेसे उनके साधनरूपसे इन्द्रियाँ भी एकादश हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।२।

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

---

* आदिना "पायुश्च विसर्जयितव्यं च। पादौ च गन्तव्यं च" इति भाष्यदर्शितं ज्ञेयम्।

व्यापीन्यक्षाणि वाक्षाणि सांख्य व्यापित्वमूचिरे ।
वृत्तिलाभस्तत्र देहे तत्र कर्मवशाद्भवेत् ॥ ५ ॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम् ।
उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥ ६ ॥

'सर्वगतानामिन्द्रियाणां तत्तच्छरीरावच्छिन्नप्रदेशेषु तत्तज्जीवकर्मफलोपभोगाय वृत्तिलाभो भवति' इति यत्सांख्यैरुक्तम् ।

तदयुक्तम् । कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । देहावच्छिन्नवृत्तिमद्भागैरेवाशेषव्यवहारसिद्धौ किमनया वृत्तिरहितानां सर्वगतानामिन्द्रियाणां कल्पनया । किंच श्रुतिरुत्क्रान्तिगत्यागतीर्जीवस्य प्रतिपादयति । ताश्च सर्वगतस्य जीवस्य न मुख्याः संभवन्तीति मुख्यत्वसिद्धयर्थमिन्द्रियोपाधिः स्वीकृतः । यदि सोऽप्युपाधिः सर्वगतः स्यात्, कुतस्तर्ह्युत्क्रान्त्यादयो मुख्याः संभवेयुः । तस्मादसर्वगतान्यक्षाणि । मध्यमपरिमाणेष्वेवादृश्यत्वविवक्षया सूत्रकारेणाणुशब्द प्रयुक्तः ॥ ३ ॥

(वपुर्ये प्राणस्य अन्यताधिकरणे सूत्रम्)

[1]श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

सन्देह—इन्द्रियाँ व्यापक हैं अथवा अणु ?

पूर्वपक्ष—उस-उस देहमें कर्मकी सामर्थ्यसे वृत्तिलाभ होता है, अतः इन्द्रियाँ व्यापक हैं, ऐसा सांख्य कहते हैं ।

सिद्धान्त—देहस्थ वृत्तिमद्भागोंमें ही इन्द्रियत्व समाप्त है, बाहर नहीं है । इसलिए इन्द्रियाँ अणु हैं, क्योंकि उत्क्रान्ति आदि श्रुति है और वे अप्रत्यक्ष हैं ।

सांख्य जो कहते हैं—सर्वगत इन्द्रियोंको तत्-तत् शरीरावच्छिन्न प्रदेशोंमें तत्-तत् जीवके कर्मफल उपभोगके लिए वृत्तिलाभ होता है ।

सिद्धान्ती—वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करनेसे गौरव प्रसंग है । यदि देहावच्छिन्न वृत्तिमद्भागों द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है, तो वृत्ति रहित सर्वगत इन्द्रियोंकी इस कल्पनासे क्या प्रयोजन ? किञ्च श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति, गति और आगतिका प्रतिपादन करती है । वे सर्वगत जीवकी मुख्य नहीं हो सकती । अतः मुख्यत्व सिद्धिके लिए इन्द्रियरूप उपाधि स्वीकृत की गई है । यदि वह उपाधि भी सर्वगत हो, तो उत्क्रान्ति आदि मुख्य कैसे होंगे ? इससे इन्द्रियाँ अव्यापक हैं । मध्यमपरिमाणोंमें अदृश्यत्वकी विवक्षासे सूत्रकारने अणुशब्दका प्रयोग किया है ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

---

१. 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशः ।

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते।
आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः॥ ७॥
आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात्।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते॥ ८॥

मुखबिले संचरन्नुच्छ्वासकारी यो वायुः स प्राणः सोऽनादिः। कुतः। "नासदासीत्" इति सूक्ते "आनीदवातम्" इति 'आनीत्' शब्देन सृष्टेः प्राक्प्राणचेष्टाश्रवणात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'आनीत्' शब्दो न प्राणव्यापारं वक्ति। "अवातम्" इति सन्निषेधात्। किं तर्हि-ब्रह्मसत्त्वं ब्रूते। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिभिः सृष्टिप्रागवस्थाप्रतिपादकश्रुत्यन्तरैः समानार्थत्वात्। 'एतस्माज्जायते प्राणः (मु० २।१।३) इति श्रुतिस्तु स्पष्टमेव प्राणजन्म प्रतिपादयति। तस्मादिन्द्रियवत्प्राणो जायते॥ ४॥

सन्देह—मुख्य प्राण अनादि है अथवा उत्पन्न होता है?

पूर्वपक्ष—प्राण उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अनादि है, क्योंकि 'आनीत्' इस शब्दसे सृष्टिके पूर्वमें प्राणकी चेष्टा सुनी जाती है।

सिद्धान्त—'आनीत्' शब्दसे ब्रह्मकी सत्ता कही गई है और प्राणके व्यापारका निषेध किया गया है, एवं 'एतस्माज्जायते प्राणः' इस श्रुतिसे प्राणकी उत्पत्ति स्पष्ट है। इसलिए प्राण उत्पन्न होता है।

पूर्वपक्षी—मुखविवरमें संचार करनेवाला उच्छ्वासकारी जो वायु वह प्राण है। वह अनादि है, क्योंकि 'नासदासीत्' (असत् नहीं था) इस सूक्तमें 'आनीदवातम्' (वह अकेला वात वर्जित था) इसमें 'आनीत्' शब्दसे सृष्टिके पूर्वमें प्राणका व्यापार सुना जाता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'आनीत्' शब्द प्राणके व्यापारको नहीं कहता, क्योंकि 'अवातम्' इस श्रुति वाक्यसे उसके व्यापारका निषेध है। किन्तु ब्रह्मकी सत्ताको कहता है, क्योंकि 'सदेव सोम्य'० (हे सोम्य! उत्पत्तिके पहले यह सब सत् ही था) इत्यादि श्रुतिके साथ सृष्टिके पहले अवस्था प्रतिपादक अन्य श्रुतियोंका समान अर्थ है। 'एतस्माज्जायते०' (उससे प्राण उत्पन्न होता है) यह श्रुति तो स्पष्ट ही प्राणोत्पत्तिका प्रतिपादन करती है। अतः इन्द्रियोंके समान प्राण भी उत्पन्न होता है॥ ४॥

(पञ्चमे प्राणस्य तत्त्वान्तरताधिकरणे सूत्राणि)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥ चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥ अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

वायुर्वाक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः ।
सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥ ९ ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः ।
वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षेष्वतोऽन्यता ॥१०॥

बाह्यवायुरेव वेणुरन्ध्रवन्मुखच्छिद्रे प्रविश्यावस्थितः प्राणनाम्ना व्यपदिश्यते। न तु प्राणो नाम किंचित्तत्त्वान्तरमस्ति। कुतः। 'यः प्राणः स वायुः' इति श्रुतेः। अथवा पञ्जरस्था यथा बहवः पक्षिणः स्वयं चलन्तः पञ्जरमपि चालयन्ति, एवमेकादशाक्षाणि स्वस्वव्यापारद्वारा देहं चेष्टयन्ति। तत्र देहचालनाख्यो योऽयं सर्वेन्द्रियसाधारणो व्यापारः स प्राणो भविष्यति। तथा च सांख्यैरुक्तम्—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च, इति। तस्मान्न तत्त्वान्तरं प्राणः।

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्राण वायु है, इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है अथवा उन दोनोंसे पृथक् तत्त्व है ?

पूर्वपक्ष—'यः प्राणः स वायुः' इस श्रुतिसे प्राण वायु है अथवा इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है, क्योंकि सांख्योंने ऐसा कहा है।

सिद्धान्त—'प्राणो वायुना भाति' (वायुसे प्राण अभिव्यक्त होता है) इस प्रकार श्रुतिमें वायु और प्राणका भेद प्रतिपादित है, और 'यः प्राणः सः वायुः' यह एकता प्रतिपादक श्रुति कार्य कारणके अभेदसे उपपन्न होगी। इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार भी नहीं है, अतः वायु और इन्द्रियोंके सामान्य व्यापारसे प्राण पृथक् है।

पूर्वपक्षी—बाह्य वायु ही वेणु छिद्रके समान मुखविवरमें प्रवेशकर स्थित हुआ प्राण नामसे कहा जाता है। किन्तु प्राण नामका कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, क्योंकि 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है) ऐसी श्रुति है। अथवा जैसे पिंजरेमें स्थित बहुत पक्षी स्वयं चलते हुए पिंजरेको भी चलाते हैं। वैसे ही एकादश इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारद्वारा देहको चेष्टित करती हैं। उसमें जो यह देहका चालन है वह सब इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है। वही प्राण है। जैसे कि 'सामान्यकरण-

इति प्राप्ते ब्रूमः—"प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा* भाति च तपति च" (छा० ३।१८।४) इति श्रुत्यन्तरे चतुष्पाद्ब्रह्मोपासनप्रसङ्गेनाऽऽध्यात्मिकप्राणस्याऽऽधिदैविकवायोश्चानुग्राह्यानुग्राहकरूपेण भेदः स्पष्टमेव निर्दिष्टः। अतः "यः प्राणः स वायुः" इत्येकत्वश्रुतिः कार्यकारणयोरभेदवृत्त्या नेतव्या। यत्तु सांख्यैरुक्तम्। तदसत्। इन्द्रियाणां सामान्यवृत्त्यसंभवात्। पक्षिणां तु चालनान्येकविधानि पञ्जरचालनस्यानुकूलानि, नतु तथेन्द्रियाणां दर्शनश्रवणगमनादिव्यापारा एकविधाः। नापि देहचालनानुकूलाः। तस्मात्तत्त्वान्तरं प्राण इति परिशिष्यते ॥ ५ ॥

(षष्ठे प्राणस्याणुत्वाधिकरणे सूत्रम्)

अणुश्च ॥ १३ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे।
हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समीक्षितः ॥ ११ ॥

वृत्तिः०' (करणोंका सामान्य व्यापार प्राण अपान आदि पाच वायु हैं) इस प्रकार सांख्योंने कहा है। इसलिए प्राण अन्य तत्त्व नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'प्राण एव०' (प्राण ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वायुरूप ज्योतिद्वारा अभिव्यक्त होता है और तपता है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें चतुष्पाद ब्रह्मकी उपासनाके प्रसङ्गमें आध्यात्मिक प्राणका और आधिदैविक वायुका उपकार्य-उपकारकरूपसे भेद स्पष्ट ही निर्दिष्ट है। अतः 'यः प्राणः स वायुः' यह अभेद प्रतिपादक श्रुति कार्यकी कारणके अभेदवृत्तिसे समझनी चाहिए। 'सामान्यकरणवृत्तिः' यह जो सांख्योंने कहा है वह असङ्गत है, क्योंकि इन्द्रियोंकी सामान्यवृत्ति नहीं हो सकती। पक्षियोंमें तो पिञ्जरेके चालनके अनुकूल एक प्रकारके चालनरूप व्यापार हो सकते हैं। परन्तु इस प्रकार इन्द्रियोंके दर्शन, श्रवण, गमन आदि व्यापार एक प्रकारके नहीं हैं और वे देह चालनके अनुकूल भी नहीं हैं। इससे प्राण पृथक् तत्त्व है। यह परिशेष है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—यह प्राण विभु है अथवा परिच्छिन्न है ?

पूर्वपक्ष—व्यापक है, क्योंकि प्लुषि और मशकसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब देहोंमें समानताका कथन है।

---

* 'भात्यभिव्यज्यते। अभिव्यक्तः संस्तपति कार्यक्षमो भवतीत्यर्थः' इति रत्नप्रभा।

समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाऽऽधिदैविकः ।
आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥ १२ ॥

प्लुषिर्नाम मशकादपि न्यूनकायः पुत्तिकाख्यो जीवः । तमारभ्य सर्वात्मकहिरण्यगर्भपर्यन्तेषु देहेषु तैस्तैर्देहैः समत्वं प्राणस्य श्रूयते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृह० १।३।२२) तस्मात्—व्यापी प्राणः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आधिदैविकस्य हिरण्यगर्भप्राणस्य समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण चावस्थानाद्विभुत्वमस्तु । 'वायुरेव व्यष्टिः, वायुरेव समष्टिः' इति श्रुतेः । तदेव विभुत्वं—'समः प्लुषिणा' इत्यादिश्रुतावुपासनार्थं प्रपञ्चितम् । आध्यात्मिकस्तु प्राण इन्द्रियवददृश्यः परिच्छिन्नश्च ॥ ६ ॥

(सप्तम इन्द्रियाणां देवपरतन्त्रताधिकरणे सूत्राणि)

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥ प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥ तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता ।
नो चेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥

सिद्धान्त—आधिदैविक प्राण समष्टि-व्यष्टिरूपसे व्यापक ही है । परन्तु आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान परिच्छिन्न और अदृश्य है ।

पूर्वपक्षी—प्लुषि-मशकसे भी छोटा पुत्तिका नामक जीव है, उससे लेकर सर्वात्मक हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब देहोंमें उन उन देहोंके साथ प्राणके तुल्यत्वका श्रवण है । 'समः प्लुषिणा०' (पुत्तिकाके समान, मच्छरके समान, हाथीके समान, इन तीनों लोकोंके और इन सबके समान) इससे प्राण व्यापी है ।

सिद्धान्ती—ऐसा होनेपर हम कहते हैं—आधिदैविक हिरण्यगर्भकप्राणकी समष्टि और व्यष्टिरूपसे अवस्थिति होनेसे वह भले ही व्यापक हो, क्योंकि 'वायुरेव०' (वायु ही व्यष्टि और वायु ही समष्टि है) ऐसी श्रुति है । वही विभुत्व 'समः प्लुषिणा' इत्यादि श्रुतिमें उपासनाके लिए प्रपञ्चित है । आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान अदृश्य और परिच्छिन्न है ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वाक् आदि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हैं अथवा देवताके अधीन ?

पूर्वपक्ष—स्वतन्त्र हैं, यदि स्वतन्त्र नहीं हैं तो वाक् आदि इन्द्रिय जन्य भोग देवताओंको प्राप्त होगा जीवात्माको नहीं ।

श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचितः ।
देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ॥ १४ ॥

वागादीन्यक्षाणि स्वस्वविषयस्वातन्त्र्येण प्रवर्तन्ते, न तु देवतापरतन्त्राणि । अन्यथा वागादिजन्यस्य भोगस्य देवाना भोक्तृत्वाच्च जीवात्मनो भोगः स्यात् । इति प्राप्ते ब्रूमः—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादौ वागादीनामग्न्याद्यनुगृहीतत्वं श्रूयते । ततो देवतापरतन्त्रैवेन्द्रियवृत्तिः । न चैतावता देवतानामत्र भोक्तृत्वम्, महापुण्यफलं देवत्वं प्राप्तानामधमभोगस्यानुचितत्वात् । देवतादेहेषु परमभोगस्य सिद्धत्वाच्च । मनुष्यादिजीवस्तु देवप्रेरितैरक्षैरापादितं भोगं स्वकर्मफलतया भुङ्क्त इत्युपपद्यते । तस्माद्देवतापरतन्त्राणीन्द्रियाणि ॥७॥

(अष्टम इन्द्रियाणां प्राणात्तत्त्वान्तरत्वाधिकरणे सूत्राणि)

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥ भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥ वैलक्षण्यात् ॥ १९ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा ।
तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥ १५ ॥

सिद्धान्त—वागादि इन्द्रियाँ परतन्त्र हैं, क्योंकि श्रुतिमें वे अग्नि आदि देवताओंके अधीन कही गई हैं, भोग भी अग्नि आदि देवताओंको उचित नहीं है, क्योंकि उनका भोग देव देहोंमें सिद्ध है । अतः जीव ही स्वकर्मानुसार भोग भोगता है ।

पूर्वपक्षी—वागादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें स्वतन्त्र रूपसे प्रवृत्त होती हैं । देवताके अधीन नहीं हैं । अन्यथा वागादि जन्य भोगके देवता भोक्ता होंगे जीवात्माको भोग प्राप्त नहीं होगा अर्थात् जीव भोक्ता नहीं होगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अग्निर्वाग्भूत्वा॰' (अग्नि वाणी होकर मुखमें प्रविष्ट हुई) इत्यादि श्रुतिमें वागादि इन्द्रियाँ अग्नि आदि देवताओंसे अनुगृहीत ज्ञात होती हैं । अतः देवताओंके अधीन ही इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इससे यहां देवताओंमें भोक्तृत्व नहीं है । महापुण्य फलरूप देवत्वको प्राप्त करनेवालोंके लिए अधम भोगकी प्राप्ति अनुचित है, क्योंकि उनका देवदेहोंमें उत्तम भोग सिद्ध है । मनुष्य आदि जीव तो देवोंसे प्रेरित इन्द्रियोंसे सम्पादित अपने कर्मका फल भोगते हैं, ऐसा उपपन्न होता है । इसलिए इन्द्रियाँ देवपरतन्त्र हैं ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—इन्द्रियाँ प्राणकी वृत्तियाँ हैं अथवा प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं ।

श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी।
आलोचत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः॥ १६॥

वागादीन्यक्षाणि मुख्यप्राणवृत्तयो भवितुमर्हन्ति। कुतः। तेषां प्राणरूपत्वश्रवणात् "हन्तास्यैव सर्वे रूपमासमिति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्" (बृह० १।५।१२) इति श्रुतेः किंच प्राणशब्देनैव तानि लोके व्यवह्रियन्ते 'म्रियमाणस्य नाद्यापि प्राणा निर्गच्छन्ति" इत्यादौ। श्रुतिश्च वागादीनां प्राणनामकतामाह—"न वै वाचः, न चक्षूंषि, न श्रोत्राणि, न मनांसि, इत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाऽऽचक्षते" इति। तस्मान्न प्राणादन्यानि तत्त्वानि।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्" (बृह० १।५।२१) इत्यादिना वागादीनां स्वस्वविषयेषु श्रान्तिमभिधाय 'अथेममेव नाऽऽप्नोत्' योऽयं मध्यमः प्राणः 'यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते' इति प्राणस्य स्वव्यापारे श्रान्त्यभावमाह अयमेको भेदः। तथा प्राणसंवादे वागादिनिर्गमनप्रवेशयोर्देहस्य मरणोत्थानाभावमभिधाय प्राणनिर्गमनप्रवेशयोर्मरणोत्थाने

पूर्वपक्ष— इन्द्रियां प्राणकी वृत्तियां हैं, क्योंकि तद्रूपताकी श्रुति है और प्राण शब्दसे इन्द्रियोंका व्यवहार होता है।

सिद्धान्त—इन्द्रियां प्राणसे पृथक् हैं, क्योंकि श्रम और अश्रम आदि भेदका कथन है, अतएव प्राणरूपता और प्राण नाम जो इन्द्रियोंमें कहा गया है वह गौण है। और आलोचकरूप होनेसे इन्द्रियां पृथक् हैं, और प्राण देह और इन्द्रियोंका नेता है।

पूर्वपक्षी—वागादि इन्द्रियां मुख्यप्राणकी वृत्तियां हो सकती हैं, क्योंकि उनमें प्राणरूपताकी श्रुति है। 'हन्तास्यैव०' (हर्ष। हम सब इन्द्रियां इसी प्राणके रूप हों, वे सब इसी प्राणके रूप हो गये) ऐसी श्रुति है। किंच लोकमें प्राणशब्दसे इन्हीं इन्द्रियोंका व्यवहार होता है—मरनेवालेके अभी तक प्राण नहीं निकलते हैं, इत्यादिमें। और 'न वै वाचः०' (न वाणी हैं, न चक्षु हैं, न श्रोत्र हैं, न मन हैं, ऐसा कहते हैं, प्राण हैं, ऐसा ही कहते हैं) इसलिए इन्द्रियां प्राणसे अन्य तत्त्व नहीं हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तानि मृत्युः०' (मृत्युने श्रम होकर उनको व्याप्त किया, इससे वाणी श्रान्त होती है) इत्यादि श्रुतिसे वाक् आदि इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें श्रमको कहकर 'अथेममेव०' (परन्तु यह मध्यम प्राण मृत्युसे आक्रान्त नहीं होता, जो देहादिमें संचार करता, संचार नहीं करता हुआ भी श्रान्त नहीं होता) इस प्रकार यह श्रुति प्राणको स्वव्यापारमें श्रमका अभाव कहती है। यह एक भेद है। इसी प्रकार श्रुति प्राणसंवादमें वागादिके निर्गमन और प्रवेशमें देहके मरण और उत्थानका अभाव कहकर प्राणके निर्गमन और प्रवेशमें मरण और उत्थान

दर्शयति । अत एवमादिभेदोक्तेर्वागादीनां प्राणरूपत्वं प्राणनामत्वं च गौणम् । भूयन्यायेन प्राणानुवर्तित्वात् । व्यवहारभेदश्च भूयानुपलभ्यते । स्वं स्वं विषयं परिच्छिद्याऽऽलोचकानीन्द्रियाणि, प्राणस्त्वक्षाणां देहस्य च नेता । तस्मात्—बहुवैलक्षण्यात्प्राणात्तत्त्वान्तराणीन्द्रियाणि ॥ ८ ॥

(नवम ईश्वरस्यैव नामरूपव्याकर्तृत्वाधिकरणे सूत्राणि)

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥ मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

नवमाधिकरणमारचयति—

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताऽथवेश्वरः ।
अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ॥ १७ ॥
जीवान्वयः प्रवेशेन संनिधेः सर्वसर्जने ।
जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तवेक्षितुः ॥१८॥

ईश्वरेण पञ्चभूतेषु सृष्टेषु भौतिकयोर्दृश्यमानयोर्महीधरादिनामरूपयोर्जीव एव स्रष्टा स्यात् । कुतः 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति जीवरूपस्यैव स्रष्टान्वयश्रवणात् ।

दिखलाती है । इसलिए इत्यादि भेदके कथनसे वागादिमें प्राणरूपता और प्राण शब्द व्यवहार गौण हैं । इन्द्रियाँ भूयन्यायसे प्राणका अनुवर्तन करती हैं, प्राण और इन्द्रियों-का बहुत व्यवहारभेद उपलब्ध होता है । अपने-अपने विषय परिच्छेद द्वारा इन्द्रियाँ आलोचक हैं । प्राण तो इन्द्रियों और देहका नेता है । अतएव अत्यन्त वैलक्षण्यसे प्राण से इन्द्रियाँ भिन्न तत्त्व हैं ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—नाम और रूपके व्याकरण–स्थूलीकरणमें जीवकर्ता है अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—'अनेन जीवेन' इस श्रुतिकथनसे जीव ही व्याकर्ता इष्ट है ।

सिद्धान्त—नाम और रूपका व्याकर्ता ईश्वर ही है, क्योंकि सब वस्तुओंकी सृष्टिमें जीव समर्थ नहीं है किन्तु ईश्वर ही समर्थ है, और 'अनेन जीवेन' इत्यादि श्रुतिमें उत्तम पुरुषकी उक्ति ईश्वरमें घटती है । जीवका अन्वय संनिधिसे केवल प्रवेशके साथ है ।

पूर्वपक्षी—ईश्वरद्वारा पाँच भूतोंके उत्पन्न होनेपर दृश्यमान भौतिक महीधर आदि नाम-रूपका स्रष्टा जीव ही है, क्योंकि 'अनेन जीवेन' (इस जीवरूपसे अनुप्रवेशकर नाम-रूपका व्याकरण करूँ) इस प्रकार सृष्टिमें जीवरूपसे ही अन्वयका श्रवण है ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"जीवेनानुप्रविश्य" इति प्रवेशेनैव जीवोऽन्वेति, संनिहितत्वात्। 'जीवेन व्याकरवाणि' इत्युक्तौ व्यवहितान्वयः स्यात्। नहि जीवस्य गिरिनदीनिर्माणे शक्तिरस्ति। ईश्वरस्तु सर्वशक्तियुक्तः। "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्रवणात्। किंच 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषोऽपीश्वरपक्षे समञ्जसः। तस्मादीश्वर एव नामरूपयोः स्रष्टा। कथं तर्हि घटपटादौ कुलालादेर्निर्मातृत्वम्। 'ईश्वरप्रेरणात्' इति ब्रूमः। तस्मादीश्वर एव सर्वकर्तेति सिद्धम्॥९॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥ ४॥

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥ २॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	९	८७
सूत्राणि	२२	१९२



सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'जीवेनाऽनुप्रविश्य' इस प्रकार प्रवेशके साथ ही जीवका सन्निहित अन्वय है। 'जीवेन व्याकरवाणि' ऐसा कहनेपर व्यवहितका अन्वय होगा। जीवकी पर्वत, नदी आदिके निर्माणमें शक्ति नहीं है, ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि 'पराऽस्य०', (इस ईश्वरकी पराशक्ति अनेकरूपोंमें श्रवण होती है) ऐसी श्रुति है। किञ्च 'व्याकरवाणि' यह उत्तम पुरुष भी ईश्वरपक्षमें संगत है। इसलिए नाम-रूपका स्रष्टा ईश्वर ही है, तो घट, पट आदिके प्रति कुलाल आदिमें निर्मातृत्व कैसे है? ईश्वरकी प्रेरणासे, हम ऐसा कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सबका कर्ता ईश्वर ही है॥ ९॥

श्रीभारतीतीर्थमुनि-प्रणीतवैयासिकन्यायमालाके द्वितीयाध्यायके चतुर्थ पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद॥ ४॥

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।



अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

(ये साधनाख्यायध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्तावैराग्यनिरूपणविचारश्च)

[साधन नामक इस तृतीय अध्यायके प्रथमपादमें जीवकी संसारगति, आगतिका विचार और वैराग्य निरूपण विचार किया जाता है।

(प्रथमे जीवस्य भूतसूक्ष्मवेष्टितस्यैव परलोकगमनागमनाधिकरणे सूत्राणि)

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥ प्राणगतेश्च ॥३॥ अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥ प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥ अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥ भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान्व्रजेत् ।
भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥१॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।
पञ्चमाहुतितोक्तेश्च जीवस्तैर्यातिवेष्टितः ॥ २ ॥

पूर्वपादप्रतिपादितप्राणोपाधिको जीवः शरीरान्तरप्राप्तिवेलायामितो निर्गच्छन्भाविशरीरबीजैः सूक्ष्मभूतैरवेष्टितो गच्छति । पञ्चभूतानां सर्वत्र सुलभत्वेनेतो नयनस्य निरर्थकत्वात् ।

तृतीय अध्यायके प्रथम पादमें प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—जीव मरनेके अनन्तर भूतोंसे अवेष्टित जाता है अथवा वेष्टित ?

पूर्वपक्ष—वह अवेष्टित ही जाता है, क्योंकि सूक्ष्म भूत सर्वत्र सुलभ हैं।

सिद्धान्त—जीव सूक्ष्म भूतोंसे वेष्टित-युक्त ही जाता है, क्योंकि भूतोंके सुलभ होनेपर भी देहके बीजभूत सूक्ष्मभूत सर्वत्र दुर्लभ हैं, निराधार इन्द्रियोंकी गति नहीं होती, और पञ्चम आहुतिकी उक्ति है।

पूर्वपक्षी—पूर्वपादमें प्रतिपादित प्राणोपाधिक जीव अन्य शरीरकी प्राप्तिके समय इस शरीरसे निकलते हुए भावी शरीरके बीजभूत सूक्ष्मभूतोंसे अवेष्टित होकर जाता है, क्योंकि पाँच भूत सर्वत्र सुलभ हैं, इसलिये उनको यहाँसे साथ ले जाना निरर्थक है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भूतमात्रस्य सुलभत्वेऽपि देहबीजानि न सर्वत्र सुलभानि। तस्मादितो नेतव्यानि। किंच जीवोपाधिभूतेन्द्रियाणां भूताधारमन्तरेण परलोकगमनं न संभवति। जीवदशायामदर्शनात्। श्रुतिश्चैवमाह—'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। अस्या अयमर्थः—द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितः पञ्च पदार्था उपासनायामग्नित्वेन परिकल्पिताः। तेष्वग्निषु स्वर्गाय गच्छन्पुनरागच्छंश्च जीव आहुतित्वेन परिकल्पितः। इष्टापूर्तकारी जीवः स्वर्गमारुह्योपभोगेन कर्मणि क्षीणे पर्जन्ये पतित्वा वृष्टिरूपेण भूमिं प्राप्य, अन्नद्वारेण पुरुषं प्राप्य रेतोद्वारेण योषितं प्रविश्य शरीरं गृह्णाति। ततोऽप्शब्दोपलक्षितानि देहबीजानि पञ्च भूतानि जीवेन सह द्युलोकादिपञ्चस्थानेषु गत्वा पञ्चमस्थाने शरीरभावं प्राप्य पुरुषशब्दवाच्यानि भवन्तीति। तस्माद्बीजैर्वेष्टित एव परलोकं गच्छति ॥ १ ॥

(द्वितीये स्वर्गादवरोहतो जीवस्य सानुशयत्वाधिकरणे सूत्राणि)

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥
चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥ सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सामान्यभूत सर्वत्र सुलभ होनेपर भी देहके बीजभूत सूक्ष्म भूत सर्वत्र सुलभ नहीं है, इससे यहांसे ले जाने चाहिए। किंच जीवके उपाधिभूत इन्द्रियोंका भूतोंके आधारके विना परलोक गमन संभव नहीं है। क्योंकि जीवनदशामें ऐसा देखा नहीं जाता। 'पञ्चम्यामाहुतौ०' (पांचवीं आहुतिमें जल शरीरसंज्ञक होता है) यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है। इसका यह अर्थ है—स्वर्गलोक, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पाँच पदार्थ उपासनामें अग्निरूपसे कल्पित हैं। उन अग्नियोंमें स्वर्गके प्रति जाता और आता हुआ जीव आहुतिरूपसे परिकल्पित है। इष्टापूर्तकारी जीव स्वर्गमें जाकर उपभोगद्वारा पुण्यकर्म क्षीण होनेपर मेघमें गिरकर वृष्टिरूपसे पृथिवीको प्राप्तकर पुनः अन्नद्वारा पुरुषको प्राप्तकर, पुनः रेतद्वारा स्त्रीमें प्रवेशकर शरीरका ग्रहण करता है। इसलिए अप्शब्दसे उपलक्षित देहके बीजरूप पाँच भूत जीवके साथ स्वर्गलोक आदि पाँच स्थानोंमें जाकर पाँचवें स्थानमें शरीरभाव प्राप्तकर पुरुष शरीर शब्दवाच्य होता है। इससे बीज रूप सूक्ष्मभूतोंसे वेष्टित जीव परलोक जाता है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ।
यावत्संपातवचनात्क्षीणानुशय इष्यते ॥ ३ ॥
जातमात्रस्य भोगित्वादेकमव्ये विरोधतः ।
चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ॥ ४ ॥

स्वर्गमुपभुज्य ततोऽवरोहन्पुरुषो निरनुशय इहाऽऽगच्छति । अनुशयो नाम कर्मशेषः । 'जीवमनुशेते' इति व्युत्पत्तेः । न च स्वर्गादवरोहतोऽनुशयः संभवति । अनुशयफलस्य सर्वस्य तत्रैवोपभुक्तत्वात् । अत एवावरोहविषया श्रुतिः—'यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते' (छा० ५।१०।५) इत्याह । 'संपतत्यनेन कर्मणा स्वर्गम्' इति संपातः कर्मसमूहः । संपातमनतिक्रम्य यावत्संपातं निःशेषं कर्मफलं भोक्तुं तत्रोषित्वेत्यर्थः । तस्मात्कर्मशेषरहितोऽवरोहति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—स्वर्गार्थमनुष्ठितस्य कर्मणः साकल्येनोपभोगेऽप्यनुपभुक्तानि संचितानि पुण्यपापानि बहून्यस्य विद्यन्ते । अन्यथा सद्यः समुत्पन्नस्य बालस्येह

सन्देह—स्वर्गसे लौटनेवाला जीव निरनुशय– शेष कर्मरहित आता है अथवा सानुशय-शेषकर्म सहित ?

पूर्वपक्ष—अनुशय रहित आता अभिप्रेत है, क्योंकि 'यावत्संपात०' ऐसा श्रुतिवाक्य है ।

सिद्धान्त—अन्य कर्मोंसे यह जीव सानुशय आता है, क्योंकि जन्म लेते बालकको सुख, दुःखका अनुभव होता है और 'एक ही जन्ममें सब कर्मानुशयका भोग होता है, इस मतमें विरोध है एवं चरणश्रुति है ।

पूर्वपक्षी—स्वर्गका उपभोग कर स्वर्गसे आता हुआ पुरुष अनुशय रहित संसारमें आता है । 'जीवमनुशेते' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे अनुशय शब्दका अर्थ कर्मशेष है । स्वर्गसे अवरोहण-आनेवालेका अनुशय नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुशयका सब फल स्वर्गमें ही भोग लिया गया है, अतएव अवरोह विषयक श्रुति—'यावत्संपातमु०' (वहाँपर निःशेष कर्मफलके भोगके लिए रहकर अर्थात् कर्मोंके क्षय होनेतक रहकर वे पुनः इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं) ऐसा कहती है । 'संपतत्यनेन कर्मणा स्वर्गम्' 'जिस कर्मसे स्वर्गको प्राप्त होता है' वह संपात-कर्म समूह है । 'संपातका अतिक्रमण न कर यावत्संपात-निःशेष कर्म फल भोगनेके लिए वहाँपर रहकर' ऐसा अर्थ है । इससे जीव कर्मशेष रहित ही लौटता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—स्वर्गके लिए अनुष्ठित कर्मका पूर्णरूपसे उपभोग होनेपर भी अनुपभुक्त संचित बहुत पुण्य पाप कर्म इसके विद्यमान है,

जन्मन्यनुष्ठितयोर्धर्माधर्मयोरभावात्सुखदुःखोपभोगो न स्यात् । यत्त्वत्र केश्चिदुच्यते—एकस्मिञ्जन्मन्यनुष्ठितः कर्मसमूह उत्तरस्मिन्नेव जन्मन्युपभोगेन क्षीयत इति । तदसत् । इन्द्रादिपदप्रापकाणामश्वमेधादीनाम्, विड्वराहादिदेहप्रापकाणां पापानां च युगपदुपभोगासंभवेन 'ऐकभविकः कर्माशयः' इति मतस्य विरुद्धत्वात् । ततश्चैकस्मिञ्जन्मन्यनुष्ठितानां मध्ये कस्मिंश्चिज्ज्योतिष्टोमादिकर्मणि भुक्तेऽपि कुतो न कर्मान्तराण्यवशिष्येरन् । यावत्संपातशब्दश्च स्वर्गप्रदकर्मविषयो नत्वितरकर्मविषयः । श्रुतिश्च स्वर्गादवरुह्य पंचम्यामाहुतौ शरीरं गृह्णतां पुरुषाणां तद्धेत्वोः पुण्यपापयोः सद्भावं दर्शयति—'य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" (छा० ५।१०।७) इति । रमणीयचरणाः सुकृतकर्माणः । कपूयचरणाः पापकर्माणः 'अभ्याशो ह यत्' इत्यव्ययसमुदायस्य क्षिप्रत्वमर्थं तदेवं सानुशया अवरोहन्तीती स्थितम् ॥ २ ॥

(तृतीये नापिनां स्वर्गे गत्यभावाधिकरणे सूत्राणि)

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥ स्मरन्ति

अन्यथा तत्क्षण उत्पन्न बालकको इस जन्ममें धर्माधर्मके अनुष्ठान न होनेसे सुख-दुःखका उपभोग नहीं होगा । जो कोई इस विषयपर कहता है—एक जन्ममें अनुष्ठित कर्म समूह आगेके जन्ममें उपभोगसे क्षय होता है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्र आदि पदके प्रापक अश्वमेध आदि और विड्वराह आदि देहके प्रापक पाप कर्मोंके युगपत् उपभोगका असंभव होनेसे 'ऐकभविक. कर्माशय' इस मतमें विरोध है । इससे एक जन्ममें अनुष्ठित कर्मोंके मध्यमें किसी ज्योतिष्टोम आदि कर्मके भुक्त होनेमें भी कर्मान्तर क्यों नहीं अवशेष रहें ? 'यावत्संपात' शब्द तो स्वर्गप्रद कर्म विषयक है, इतर कर्म विषयक नहीं है, 'य इह रमणीयचरणाः० (उन अनुशयी जीवोंमें जो यहाँ पुण्य कर्म करनेवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो यहाँ अशुभ आचरण (पापकर्म) वाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं, श्वयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं) इस प्रकार यह श्रुति स्वर्गसे आनेके अनन्तर पाचवीं आहुतिमें शरीर ग्रहण करनेवाले जीवोंके शरीरके हेतुभूत पुण्य-पापका सद्भाव दिखलाती है । रमणीयचरण-सुकृत कर्म, कपूयचरण-पापकर्म, 'अभ्याशो ह यत्' इस अव्यय समुदायका अतिशीघ्र अर्थ है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव सानुशय ही स्वर्गसे अवरोहण करते हैं ॥ २ ॥

च ॥ १४ ॥ अपि च सप्त ॥ १५ ॥ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥ न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥ स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥ दर्शनाच्च ॥ २० ॥ तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

चन्द्रं याति न वा पापी ते सर्वे इति वाक्यतः ।
पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥ ५ ॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ।
सर्वश्रुतिः सुकृतिना याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥ ६ ॥

"ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषी० १।२) इति श्रवणाच्चन्द्रलोकाख्ये स्वर्गे पापिनोऽपि गतिरस्ति । यद्यपि पापिनस्तत्र भोगो न संभवति, तथाऽपि पुनरागत्य शरीरग्रहणे पञ्चमाहुतिलाभाय स्वर्गगतिरभ्युपेया ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भोगार्थमेव हि स्वर्गगमनं न पञ्चमाहुतिलाभार्थम् । पञ्चमाहुतेर्व्यभिचारित्वात् । द्रोणादीनां योषिदाहुतेरभावात् । सीतादीनां पुरु-

---

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—पापी चन्द्रलोकमें जाता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जाता है, क्योंकि 'ते सर्वे' ऐसा श्रुतिवचन है, यद्यपि वहां भोगका अभाव है तो भी पांचवी आहुतिके लाभार्थ वह वहां जाता है ।

सिद्धान्त—भोगके लिए ही स्वर्ग गमन है और पांचवी आहुतिमें व्यभिचार है, अतएव 'ते सर्वे' यह श्रुति सुकृति पुरुषोंके लिए है, इससे पापी यमलोकमें जाता है, स्वर्गमें नहीं, ऐसी श्रुति है ।

पूर्वपक्षी—'ये वै के०' (जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रलोकमें ही जाते हैं) इस श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि चन्द्रलोक नामके स्वर्गमें पापी लोग भी जाते हैं, यद्यपि पापी लोगोंका स्वर्गमें भोग नहीं हो सकता, तथापि पुनः आकर शरीर ग्रहण करनेके लिए पांचवीं आहुति लाभार्थ स्वर्ग गमन स्वीकार करना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—भोगके लिए ही स्वर्ग गमन है न कि पांचवी आहुति लाभके लिए, क्योंकि द्रोण आदिमें योषित् स्त्रीरूप पांचवी आहुतिका अभाव है, सीता आदिमें तो पुरुष आहुतिका भी अभाव है, 'ते सर्वे' यह सर्व श्रुति

पातुतेरप्यभावात् । 'ते सर्वे, इति' सर्वश्रुतिस्तु सुकृतिविषया । पापिनां तु यमलोके गतिः श्रुता—"वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यत" इति पापजनैर्गन्तव्यं यमं प्रीणयत, इत्यर्थः । तस्मान्न पापिनां स्वर्गे गतिः ॥३॥

(अमुष्य स्वर्गावरोहे जीवस्याऽऽकाशादिभुल्यत्वाधिकरणे सूत्रम्)

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

> वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वाऽवरोहिणः ।
> वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात्तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥ ७ ॥
> सवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् ।
> अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥ ८ ॥

स्वर्गादवरोहप्रकार एवं श्रूयते—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" (छा० ५।१०।५-६) इति । यथेतं यथागतं तथेत्यर्थः । अत्र स्वर्गादवरोहतो जीवस्याऽऽकाशादिस्वरूपत्वं भवति । 'वायुर्भूत्वा इति तत्तद्भावप्रतिपत्तेः श्रुतत्वात् ।

तो सुकृति पुरुष विषयक है । 'वैवस्वतं संगमनम्' (पापीजनोंका समागम स्थान है, पापियोंके सम्यग्गम्य यमराजको हविषसे प्रसन्न करें) इस प्रकार यह श्रुति पापीजनोंका यमलोकमें गमन कहती है । पापीजनोंसे गन्तव्य यमको प्रसन्न करें । यह अर्थ है । इसलिए पापी लोगोंकी स्वर्गमें गति नहीं है ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—स्वर्गसे अवरोह करनेवाले जीव आकाश आदिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं अथवा उनके साम्यको ?

पूर्वपक्ष—'वायुर्भूत्वा' इत्यादि वाक्यसे ऐसा प्रतीत होता है कि तत् तत् भावको प्राप्त होते हैं ।

सिद्धान्त—अन्य अन्यका स्वरूप मुख्य नहीं हो सकता । किन्तु आकाशके समान सूक्ष्म, वायु वश और धूम आदिसे युक्त होता है ।

पूर्वपक्षी—स्वर्गसे अवरोहका प्रकार इस प्रकार सुना जाता है—'अथैतमेवाध्वानं, (कर्म फल भोगानन्तर पुनः इसी मार्गसे जिस प्रकार गया था उसी प्रकार लौटता है, वह पहले आकाशको प्राप्त होता है, आकाशसे वायुको, वायु होकर वह धूम होता है, और धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है) 'यथेतं-यथागतं' 'जैसे गया वैसे ही' यह अर्थ है । यहांपर स्वर्गसे लौटनेवाले जीवका

इति प्राप्ते ब्रूमः—अन्यस्यान्यस्वरूपत्वासंभवादाकाशप्रतिपत्तिर्नामाऽऽकाशवत्सौक्ष्म्यं रूपं विवक्षितम्। वायुभावो वायुवशता। धूमादिभावो धूमादिभिः संपर्कः, इति निर्णयः॥ ४॥

(पञ्चमे स्वर्गादवरोहता त्वराविलम्बाधिकरणे सूत्रम्)

नातिचिरेण विशेषात्॥ २३॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति।
तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात्॥ ९॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः।
विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते॥ १०॥

प्रवर्षणानन्तरं व्रीह्यादिभाव आम्नायते—" त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" (छा० ५।१०।६) इति। प्रागेतस्माद्व्रीह्यादिभावादाकाशादौ विलम्बत्वरयोर्नियामकाभावादनियतिः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—व्रीह्यादिभावमभिधायानन्तरम् 'अतो वै खलु दुर्नि-

---

आकाश आदि स्वरूप होता है, क्योंकि 'वायुर्भूत्वा' यह श्रुति तद् तद् भाव-स्वरूप बोधन करती है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अन्यमें अन्यकी स्वरूपताका संभव न होनेसे आकाश प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्मरूप विवक्षित है। वायुभावसे वायुवशता, धूमादिभाव—धूमादिसे संपर्क, ऐसा निर्णय है॥ ४॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—व्रीहि आदि भावसे पूर्व अनुशयी आकाश आदिमेंसे विलम्बसे अवरोह करता है अथवा अतिशीघ्रतासे ?

पूर्वपक्ष—इस विषयमें अनियम ही है, क्योंकि नियामकका अभाव है।

सिद्धान्त—व्रीहि आदि भावसे निकलना कठिन है, क्योंकि श्रुतिमें वहापर विलम्ब विशेषित कहा गया है। इससे पहलोमें अर्थात् सिद्ध होता है कि आकाश आदिसे शीघ्र उतरता है।

पूर्वपक्षी—प्रवर्षणके अनन्तर व्रीहि आदि भावकी श्रुति है 'त इह व्रीहियवा०' (वे अनुशयी जीव यहां धान, यव ओषध, वनस्पति, तिल, माषरूपसे उत्पन्न होते हैं) इस व्रीहि आदि भावसे पूर्व आकाश आदि भावोंमेंसे जीवके शीघ्र अथवा विलम्बसे अवरोहमें नियामक न होनेसे अनिर्णय है।

ष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) 'व्रीह्यादिभावान्निर्गमनं दुःखतम्' इति ब्रुवती श्रुतिर्व्रीह्यादौ विलम्बनं विशेषयति। ततोऽर्थात् 'पूर्वं त्वरा' इत्यवसीयते ॥५॥

(षष्ठे स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादौ संश्लेषाधिकरणे सूत्राणि)

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥ रेतः सिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥ योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत्।
जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥ ११ ॥
वैधात्र पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः।
'श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ॥ १२ ॥

आकाशादाविव व्रीह्यादौ न संश्लेषमात्रम्, किंतु व्रीह्यादिरूपेण मुख्यं जन्म विवक्षितम्। "जायन्ते" इति श्रवणात्। न च स्वर्गे सुकृतफलमनुभूयावरोहतः पापफलरूपस्य स्थावरजन्मनोऽसंभव, तद्धेतोः पशुहिंसादेर्विद्यमानत्वान्मुख्यं जन्म।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—व्रीहि आदि भावको कहकर 'अतो वै०' (निश्चय ही यहांसे निकलना अतिकठिन है) 'व्रीहि आदि भावसे निकलना दुष्कर है' ऐसा कहती हुई श्रुति व्रीहि आदिमें विलम्ब विशेषित प्रतिपादित करती है। इससे अर्थात् व्रीहि आदि भावोंसे पूर्व आकाशादिमें से अतिशीघ्रता निश्चित होती है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उन अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिमें मुख्य जन्म है अथवा संसर्गमात्र है ?

पूर्वपक्ष—मुख्य जन्म है, क्योंकि 'जायन्ते' ऐसी श्रुति है और पशुहिंसादि पापका योग है।

सिद्धान्त—वैध-विहित होनेसे पशुहिंसा आदिसे पापका सम्बन्ध नहीं है और कर्मके व्यापारका कथन नहीं है, श्वान, विप्र आदिमें ही मुख्य जन्म है। व्रीहि आदिमें नहीं, क्योंकि चरण-कर्मका व्यापार श्रुत है।

पूर्वपक्षी—आकाश आदिके समान व्रीहि आदिमें संसर्ग मात्र नहीं है। किन्तु व्रीहि आदि रूपसे मुख्य जन्म विवक्षित है, क्योंकि 'जायन्ते' यह श्रुति है। स्वर्गमें पुण्य फलका अनुभवकर अवरोह करनेवालोंको पाप फलरूप स्थावर जन्मका असंभव नहीं है, क्योंकि स्थावर जन्मका हेतु पशुहिंसा आदि विद्यमान हैं। अतः मुख्य जन्म है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वैधत्वान्न पशुहिंसादितः पापम् । अतः 'जायन्ते' इति श्रुत्या संश्लेषमात्रं विवक्षितम्, न तु मुख्यं जन्म । कर्मव्यापारानभिधानात् । यत्र तु मुख्यं जन्म व्यवस्थितम्, तत्र कर्मव्यापारमभिधत्ते—रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः' इति । तस्मात्स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादौ संश्लेषमात्रमिति स्थितम् ६

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	६	६३
सूत्राणि	२७	३११

(अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः)

(अत्र पादे तत्त्वपरिशोधनविचारः)

[इस पादमें 'तत्, त्वम्' पदार्थ परिशोधनका विचार है]

(प्रथमे स्वप्नसृष्टेर्मिथ्यात्वाधिकरणे सूत्राणि)

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥ मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥ सूचकश्च हि श्रुतेः, आचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥ पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥ देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् ।
जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥ १ ॥

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—शास्त्र विहित होनेसे यागमें पशुहिंसादिसे पाप नहीं होता । अतः 'जायन्ते' इस श्रुतिसे संसर्गमात्र ही विवक्षित है, मुख्य जन्म नहीं, क्योंकि कर्मव्यापारका अभिधान नहीं है, जहां मुख्य जन्म व्यवस्थित है, वहां 'रमणीयकरणाः, कपूयकरणाः, इस प्रकार कर्म व्यापारका अभिधान है । इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वर्गसे अवरोह करनेवाले अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिमे केवल संसर्गमात्र है ॥ ६ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि-प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके तृतीयाध्यायके प्रथम पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ १ ॥

देशकालाद्यनौचित्यादबाधितत्वाच्च सा मृषा।
अभावोक्तेर्द्वैतमात्रासाम्याज्जीवानुवादतः ॥ २ ॥

'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इति श्रुत्या स्वप्ने रथादीनां सृष्टिरीरिता, अतो वियदादिसृष्टिवद्व्यवहारदशायां सत्या भवितुमर्हति। न च जाग्रद्देशस्य स्वप्नदेशस्य च कंचिद्विशेषं पश्यामः। तत्काले भोजनादीनां तृप्त्याद्यर्थक्रियाकारित्वात्। अतो 'विमता सृष्टिः सत्या, ईश्वरकर्तृत्वात्, वियदादिसृष्टिवत्'।

इति प्राप्ते ब्रूमः—स्वप्नसृष्टिर्मृषा। कुतः। तदुचितदेशकालाद्यसंभवात्। न हि केशसहस्रांशपरिमितनाडीमध्ये गिरिनदीसमुद्रादीनामुचितो देशोऽस्ति, महानिशीथे शयानस्य सूर्यग्रहणोचित कालोऽस्ति। नाप्यनुपनीतस्य बालस्य पुत्रोत्सवादिहर्षनिमित्तान्युचितानि। किंच स्वप्नोपलब्धानां पदार्थानां स्वप्न एव बाधो दृश्यते। कदाचित्तरुत्वेनावसीयमानः पदार्थस्तदैव गिरित्वेनावसितो

द्वितीय पादमें प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—स्वप्न सृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या है ?

पूर्वपक्ष—सत्य है, क्योंकि श्रुति कहती है। जाग्रत् देशके समान स्वप्नसृष्टि ईश्वर द्वारा ही निर्मित है।

सिद्धान्त—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, क्योंकि देश-काल आदिका औचित्य नहीं है, बाधित है एवं अभावका कथन है, द्वैतसाम्यमात्रमें जीवका अनुवाद 'स एष' इत्यादिसे होता है।

पूर्वपक्षी—'अथ रथान्०' (वह रथ, रथके घोडे और मार्ग उत्पन्न करता है) इस श्रुतिसे रथ आदिकी सृष्टि कही गई है, अतएव आकाश आदि सृष्टिके समान व्यवहार दशामें सत्य हो सकते हैं, क्योंकि जाग्रत् देश और स्वप्नदेशमें कुछ भी विशेष नहीं देखते हैं। स्वप्नकालमें भोजनादि तृप्ति आदि अर्थ क्रियाकारी भी हैं। अतः 'विवादास्पद स्वप्नसृष्टि, सत्य है, ईश्वर कर्तृक होनेसे, आकाश आदि सृष्टिके समान।'

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—स्वप्नसृष्टि, मिथ्या है, किससे ? इससे कि उसके उचित देश-काल आदिका सभव नहीं है। केशके सहस्रभागके समान परिमित अतिसूक्ष्म नाडीके मध्यमें गिरि, नदी आदिका उचित देश नहीं है। अन्धकार की रातमें शयन करनेवालेको सूर्यका ग्रहण उचित काल नहीं है। उपनयन संस्कार रहित बालकके पुत्रोत्सव आदि हर्षके उचित निमित्त भी नहीं हैं। किञ्च स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थोंका स्वप्नमें ही बाध देखा जाता है। कदाचित् जो तरुरूपसे निश्चित पदार्थ है वही गिरिरूपसे निश्चित होता है। जो यह कहा गया है कि स्वप्नसृष्टिको श्रुति कहती

भवति। यदुक्तम्—'स्वप्नसृष्टिं श्रुतिर्ब्रूते' इति। तत्र साऽपि श्रुतिरभावपूर्विकामेव सृष्टिमाह "न तत्र रथाः, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति। 'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" इति। अतो वस्तुतोऽसन्तो रथाद्याः शुक्तिकारजतवदवभासन्त इति श्रुतेरभिप्रायः। यदपि जाग्रत्साम्यमुक्तम्। तदप्यप्रयोजकम्। अनुचितदेशकालादेर्भूयसो वैषम्यस्योक्तत्वात्। यदपि—ईश्वरनिर्मितत्वमुक्तम्। तदप्यसत्। 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५।८) इति जीवस्यैव स्वप्ननिर्मातृत्वेन श्रुत्याऽनूद्यमानत्वात्। तस्मात्स्वप्नसृष्टिर्मृषा ॥ १ ॥

(द्वितीये सुषुप्तौ जीवस्य हृत्पद्मब्रह्मणैकाधिकरणे सूत्रे)।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥ अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये।
समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥ ३ ॥
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति।
हृत्स्थे ब्रह्मणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता ॥ ४ ॥

है। वहाँ वह श्रुति भी अभाव पूर्वक ही सृष्टि कहती है—"न तत्र रथा०" (वहाँ रथ नहीं हैं रथके घोड़े नहीं हैं, वह रथ, रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है) अतः वस्तुतः न होते हुए भी रथ आदि शुक्तिका रजतके समान अवभासित होते हैं। ऐसा श्रुतिका अभिप्राय है। यद्यपि जाग्रत्का साम्य कहा गया है, तथापि वह प्रयोजन रहित है। क्योंकि अनुचित देश कालादिका बहुत वैषम्य कहा गया है। जो यह कहा गया है कि स्वप्नसृष्टि ईश्वर निर्मित है वह भी असत् है, कारण कि 'य एष सुप्तेषु०' (इन्द्रिय आदिके सुप्त होनेपर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंका निर्माण करता हुआ जागता रहता है) इस प्रकार श्रुतिमें जीव ही स्वप्नसृष्टिका निर्मातृरूपसे अनूद्यमान है। इसलिए स्वप्नसृष्टि मिथ्या है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन सुषुप्तिके लिए कल्पित हैं अथवा समुच्चित हैं?

पूर्वपक्ष—यव आदिके समान विकल्पित हैं, क्योंकि नाड़ी आदिका एक ही प्रयोजन है।

सिद्धान्त—नाड़ी आदि सुषुप्तिके लिए समुच्चित हैं, क्योंकि नाड़ीद्वारा जीव

"आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" (छा० ८।६।३) इति श्रुतौ सुषुप्तिकाले नाडीप्रवेशो गम्यते। 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृह० २।१।१६) इति श्रुतौ पुरीतति तदाश्रितत्वं प्रतीयते 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृह० २।१।१७) इति श्रुत्यन्तरादाकाशशब्दवाच्यब्रह्माश्रितत्वं प्रतीयते। तान्येतानि नाड्यादिस्थानानि विकल्पितानि भवितुमर्हन्ति, एकप्रयोजनत्वात्। यथा 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' इत्यत्र पुरोडाशनिष्पादकत्वस्य प्रयोजनस्यैकत्वेन विकल्प आश्रितस्तथाऽत्रापि सुषुप्त्याख्यं प्रयोजनमेकम्। तस्मात्— 'कदाचित्पुरीतति स्वपिति, कदाचिन्नाडीषु स्वपिति, कदाचिद्ब्रह्मणि' इति नाड्यादीनां विकल्पः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकप्रयोजनत्वमसिद्धम्। पृथगुपयोगस्य सुवचत्वात्। तथा हि—नाड्यस्तावच्चक्षुरादिषु संचरतो जीवस्य हृदयनिष्ठं ब्रह्म गन्तुं मार्गभूता भविष्यन्ति। अत एव श्रुत्यन्तरे—'ताभिः प्रत्यवसृप्य' इति तृतीयया साधनत्वं नाडीनां श्रुतम्। हृदयवेष्टनरूपं तु पुरीतत्प्रासादवदावरकं भविष्यति। ब्रह्म तु मञ्चकवदाधारः। अतो यथा द्वारेण प्रविश्य प्रासादे पर्यङ्के शेते, तथा

गमन कर पुरीतत्से वेष्टित हृदयमें स्थित ब्रह्मसे ऐक्यको प्राप्त होता है, विकल्प माननेपर तो अष्ट दोष प्रसक्त होंगे।

पूर्वपक्षी—'आसु तदा०' (उस समय वह इन नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) इस श्रुतिमें जीवका सुषुप्तिकालमें नाडीप्रवेश ज्ञात होता है, 'ताभिः प्रत्यवसृप्य०' (उन नाडियोंसे निकलकर पुरीतत्में शयन करता है) इस श्रुतिमें पुरीतत्में जीवका आश्रितत्व प्रतीत होता है। 'य एषोऽन्तर्हृदय०' (जो यह हृदयमें आकाश है उसमें सोता है) इस अन्य श्रुतिसे आकाशशब्द वाच्य ब्रह्माश्रितत्व ज्ञात होता है। अतः ये सब नाड़ी आदि स्थान विकल्पित होने चाहिए, क्योंकि एक ही प्रयोजन है। जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत०' (व्रीहि-धानसे याग करे अथवा यवोंसे याग करे) यहाँपर पुरोडाश निष्पादनरूप एक प्रयोजन होनेसे विकल्पका आश्रय लिया गया है, वैसे ही यहां भी सुषुप्ति नामक एक ही प्रयोजन है। इसलिए कभी पुरीतत्में सोता है, कभी नाडियोंमें सोता है और कभी ब्रह्ममें, इस प्रकार नाड़ी आदिका विकल्प है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परन्तु एक प्रयोजन सिद्ध है, क्योंकि उनका पृथक् उपयोग सुवचन है, जैसे कि नाडियाँ तो चक्षु आदिमें संचरणशील जीवके हृदयनिष्ठ ब्रह्मके प्रति गमनके लिए मार्गभूत हैं, अतएव अन्य श्रुतिमें 'उन नाडियोंद्वारा निकलकर' इस तृतीया विभक्तिद्वारा नाडियाँ साधन सुनी जाती हैं। हृदयके वेष्टनरूप पुरीतत् तो महलके समान आवरक होगा। ब्रह्म तो मञ्चके समान आधार है। अतएव

नाडीभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति ब्रह्मणि जीवः शयिष्यत इत्युपकारभेदान्नाड्यादीनां समुच्चयः। सुषुप्तौ ब्रह्मणि जीवावस्थाने कुत आधाराधेयभावो न प्रतिभातीति चेत्। 'एकीभावात्' इति ब्रूमः। यथा सोदककुम्भस्तडागजले प्रक्षिप्तो मग्नो न पृथग्भाति, तथाऽन्तःकरणोपाधिको जीव आवरकाज्ञानसंहिते ब्रह्मणि मग्नत्वान्न पृथगवभासते। अत एव श्रुत्यन्तरे सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मणा सह तादात्म्यप्रतिपत्तिमाह—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति। यस्तु विकल्पस्त्वयोक्तः, सोऽष्टदोषग्रस्तत्वादनुपपन्नः। तथा हि—यदा जीवो नाडीषु सुप्तो भवति, तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोःप्राप्तं प्रामाण्यं परित्यक्तव्यं स्यात्, अप्राप्तं चाप्रामाण्यं स्वीक्रियेत, यदा पुनः पुरीतद्ब्रह्मणोः शेते, तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोः पूर्वत्यक्तं प्रामाण्यं स्वीक्रियेत, पूर्वं स्वीकृतं चाप्रामाण्यं परित्यज्येत, इति प्राप्तपरित्यागः, अप्राप्तस्वीकारः, त्यक्तस्वीकारः, स्वीकृतपरित्यागश्चेति दोषचतुष्टयं पुरीतद्ब्रह्मवाक्यकोटौ। तथा नाडीवाक्यकोट्यामपि दोषचतुष्टये योजिते सत्यष्टौ दोषाः संपद्यन्ते। तस्मात्—समुच्चय एव ग्राह्यो नतु विकल्पः॥ २॥

(तृतीये सुप्तस्यैव जागरणाधिकरणे सूत्रम्)

जैसे द्वारमें प्रवेशकर प्रासादमें पर्यङ्कपर सोता है, वैसे नाड़ियोंद्वारा गमनकर पुरीतत्में ब्रह्ममें सोवेगा। इस प्रकार उपकारके भेदसे नाड़ी आदिका समुच्चय है। सुषुप्तिमें यदि ब्रह्म जीवका अवस्थान हो तो आधाराधेयभाव क्यों नहीं भासता है? यदि ऐसा कहो तो हम कहते हैं कि उस अवस्थामें एकीभाव है, जैसे तालाबमें प्रक्षिप्त उदकसे भरा कुम्भ डूबनेपर पृथक् प्रतीत नहीं होता, वैसे ही अन्तःकरणोपाधिक जीव आवरक अज्ञान सहित ब्रह्ममें मग्न होनेपर पृथक् अवभासित नहीं होता। अतएव 'सता सोम्य०' (हे सोम्य! सुषुप्ति कालमें जीव सद्ब्रह्मके साथ सम्पन्न होता है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें सुषुप्ति कालमें जीवकी ब्रह्मके साथ तादात्म्य प्रतिपत्ति कही गई है। तुमसे जो विकल्प कहा गया है—वह आठ दोषोंसे ग्रस्त होनेके कारण अनुपपन्न है जैसे कि जीव जब नाड़ियोंमें सुप्त होता है तब पुरीतत् और ब्रह्मवाक्योंमें प्राप्त प्रामाण्यका परित्याग होगा और अप्राप्त अप्रामाण्य स्वीकृत करना होगा। जब पुनः पुरीतत् और ब्रह्ममें शयन करेगा तब पुरीतत् और ब्रह्मवाक्योंमें पूर्वमें त्यक्त प्रामाण्य स्वीकार करना होगा तथा पूर्वमें स्वीकृत अप्रामाण्यका परित्याग होगा। इस प्रकार प्राप्तका परित्याग और अप्राप्तका स्वीकार, त्यक्तका स्वीकार और स्वीकृतका परित्याग। चार दोष पुरीतत् और ब्रह्मवाक्य कोटिमें होंगे, इस प्रकार नाड़ीवाक्य कोटिमें भी ये चार दोषोंकी योजना करनेपर आठ दोष प्रसक्त होते हैं। इससे समुच्चय ही ग्राह्य है विकल्प नहीं॥ २॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

य: कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा ।
उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तु कोऽपि बुध्यते ॥ ५ ॥
कर्मविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुर्विलक्षणः ।
स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात् ॥ ६ ॥

यथा समुद्रे प्रक्षिप्तो यो जलबिन्दुः स एव नियमेन पुनरुद्धर्तुमशक्यस्तथा सुषुप्तौ ब्रह्म प्राप्तो यो जीवः स एव बुध्यत इति नियन्तुमशक्यत्वाद्, यः कोऽपि बुध्यते ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषम उपन्यासः । चिद्रूपो जीवः कर्माविद्यावेष्टितो ब्रह्मणि निमज्जति, उदबिन्दुस्त्ववेष्टितः । इति वैषम्यम् । यथा गङ्गोदकपरिपूर्णः पिहितद्वारः काञ्चनकुम्भः समुद्रे निक्षिप्तः पुनरुद्धियते, तत्रत्य गङ्गाजलं तदेव

तृतीय अधीकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सुषुप्तिके अनन्तर अनियमसे जो कोई भी जागता है अथवा सोया हुआ ही जागता है ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्रमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुके नियमन करनेकी शक्ति नहीं है अर्थात् पुनः उसीका उद्धरण नहीं हो सकता, वैसे ही ब्रह्ममें लीन जीवका पुनः उठना संभव नहीं है, अतः अन्य कोई भी जीव उठता है ।

सिद्धान्त—कर्म और अविद्याके परिच्छेदसे जल बिन्दुका दृष्टान्त विषम है, अतः वही जीव जागता है, क्यों कि 'स इह व्याघ्रो वा०' इत्यादि शास्त्रसे यह सिद्ध होता है कि जिस उपाधिसे युक्त जीव सुषुप्तिमें जाता है उसी उपाधि विशिष्ट ही जीवका उसी शरीरमें पुनर्भव है ।

पूर्वपक्षी—जैसे जिस जलबिन्दुका समुद्रमें प्रक्षेप किया गया हो उसीका नियमसे पुनः उद्धरण नहीं किया जा सकता, वैसे ही सुषुप्तिमें जो जीव ब्रह्मको प्राप्त हुआ है वही पुनः जागता है । ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है । अतएव जो कोई भी जीव जागता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह उपन्यास विषम है अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्तभेद है । क्योंकि कर्म और अविद्यासे वेष्टित चिद्रूप जीव ब्रह्ममें ही लीन होता है और जलबिन्दु तो किसीसे वेष्टित समुद्रमें लीन नहीं होता, इससे यह दृष्टान्त विषम है । किञ्च जैसे गङ्गाजलसे परिपूर्ण मुख बन्द सुवर्ण कुम्भ यदि समुद्रमें प्रक्षिप्त हुआ पुनः उद्धृत (निकाला) किया जाय तो कलशस्थ वही गङ्गाजल

पुनर्विवेक्तुं शक्यते, तथा स जीवः प्रतिबुध्यताम् । अत एव श्रुतिराह—'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।६।३) इति । 'व्याघ्रादयो ये जीवाः सुप्तेः पूर्वं यच्छरीरं प्राप्य वर्तन्ते, त एव जीवाः सुप्तेरूर्ध्वं प्रबुध्यमानास्तदेव शरीरं प्राप्नुवन्ति' इत्यर्थः । न च सुषुप्तौ ब्रह्म प्राप्तस्य जीवस्य मुक्तवत्पुनरुद्भवानुपपत्तिः । अवच्छेदकस्योपाधेः सत्त्वेन तदुद्भवे जीवोद्भवसंभवात् । तस्मात् यः सुप्तः स एव प्रतिबुध्यते ॥ ३ ॥

(चतुर्थे मूर्छाया अवस्थान्तरत्वाधिकरणे सूत्रम्)

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

किं मूर्छैका जाग्रदादौ किंवाऽवस्थान्तरं भवेत् ।
अन्याऽवस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥ ७ ॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभानान्न सुप्तता ।
मुखादिविकृतेस्तेनावस्थाऽन्या लोकसंमता ॥ ८ ॥

पुनः पृथक् किया जा सकता है । इस प्रकार सुषुप्तिमें कर्म और अविद्यासे वेष्टित सोया जीव वही उठता है । अतएव 'त इह व्याघ्रो वा०' (वे इस लोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, दांस अथवा मच्छर जो जो भी [सुषुप्ति आदिसे पूर्व] हुए होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं) यह श्रुति ऐसा कहती है । 'व्याघ्र आदि जो जीव सुषुप्तिके पूर्व जो शरीर प्राप्त कर रहते हैं, वे ही जीव सुषुप्तिके अनन्तर जागते हुए उसी शरीरको पुनः प्राप्त होते हैं' यह अर्थ है । ऐसी शङ्का भी नहीं की जा सकती कि सुषुप्तिमें ब्रह्मको प्राप्त जीवका मुक्तके समान पुन. उद्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अवच्छेदक उपाधिके विद्यमान होनेपर उस उपाधिके उद्भव होनेपर जीवका उद्भव संभव है । अतः जो सोता है वही जीव जागता है । यह सिद्ध हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—मूर्च्छावस्था क्या जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अन्तर्भूत है अथवा अन्य अवस्था है ।

पूर्वपक्ष—लोकमें जाग्रत् आदिसे भिन्न अवस्था अप्रसिद्ध है, अतः जाग्रत् आदिमें मूर्च्छा एक अवस्था है ।

सिद्धान्त—मूर्च्छा जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें तो एक अवस्था नहीं है, क्योंकि उस अवस्थामें द्वैतका भान नहीं है, सुषुप्ति भी नहीं है, क्योंकि मुख आदिमें विकार भासता है । अतः मूर्च्छा लोक सम्मत अन्य अवस्था ही है ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्योऽन्यस्या अवस्थाया अप्रसिद्धत्वान्मूर्छाया जाग्रदादावन्तर्भावः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादवस्थान्तरमभ्युपेयम्। न तावज्जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भावः। द्वैतप्रतीत्यभावात्। नापि सुषुप्तौ, विलक्षणत्वात्। सुप्तः पुमान्प्रसन्नवदनः समश्वासो निष्कम्पशरीरो भवति। मूर्छितस्तु विकृतमुखो विषमश्वासः शरीरकम्पादियुक्तः। यद्यपि जाग्रदादिवद्दैनंदिनत्वाभावान्न मूर्च्छाया बालकादिषु प्रसिद्धिरस्ति, तथाऽपि कादाचित्कीं मूर्छावस्थां विज्ञाय वृद्धाश्चिकित्सन्ते। तस्मात्—अन्येयमवस्था।

तदेवमधिकरणचतुष्टयेन त्वंपदार्थः शोधितः। तत्र स्वप्नसृष्टेर्मिथ्यात्वेन सुखदुःखकर्तृत्वाद्यवभासेऽपि जीवोऽसङ्ग एवेति शोधितम्। सुषुप्तौ ब्रह्मैक्येन तदेवासङ्गत्वमनुभावितम्। तस्यैव पुनः प्रतिबोधेनानित्यत्वाशङ्का निराकृता। मूर्छाविचारेण श्वासादिसर्वव्यवहारलोपेऽपि मरणे जीवनाशो नाऽऽशङ्कनीय इति दर्शितम् ॥ ४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे अन्य अवस्था लोकमें अप्रसिद्ध है, अतः मूर्च्छा जाग्रत् आदि इन तीनोंमेंसे एक अवस्था है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परिशेषसे तीन अवस्थाओंसे मूर्च्छा पृथक् अवस्था स्वीकार करनी चाहिए, मूर्च्छाका जाग्रत् और स्वप्नमें अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि मूर्च्छामें द्वैतकी प्रतीति नहीं है। सुषुप्तिमें भी अन्तर्भाव नहीं है, कारण कि विलक्षण है। सुप्त पुरुष प्रसन्न वदन समश्वास, कम्पन रहित शरीरवाला है मूर्छित तो विकृत मुख, विषम श्वास [श्वासोंकी विषम गति] और शरीर कम्पन आदि दोषोंसे युक्त है। यद्यपि मूर्च्छा जाग्रत् आदिके समान प्रतिदिन नहीं होती, अतः मूर्च्छा बालकादिमें प्रसिद्ध नहीं है, तो भी कादाचित्क कभी-कभी मूर्च्छावस्थाको जानकर वृद्ध लोग उसकी चिकित्सा करते हैं। अतः यह मूर्च्छा अवस्था अन्य अवस्थाओंसे पृथक् है।

इस प्रकार चार अधिकरणोंसे 'त्वं' पदार्थका शोधन किया गया है। उसमें स्वप्न-सृष्टि मिथ्यारूपसे निश्चित होनेपर सुख दुःख कर्तृत्वका अवभास होनेपर भी 'जीव असङ्ग ही है' ऐसा शोधित किया है। सुषुप्तिमें ब्रह्मके साथ ऐक्यसे वही असङ्गत्व अनुभावित है। उसका ही पुनः प्रतिबोध होनेसे अनित्यत्वकी शङ्का निराकृत की गई है, मूर्च्छाके विचार द्वारा यह दिखलाया गया है कि श्वासादि सर्वव्यवहारका लोप होनेपर भी मरणमें जीव नाशकी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ ४ ॥

(पञ्चमे ब्रह्मणो नीरूपत्वाधिकरणे सूत्राणि)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥ अपि
चैवमेके ॥ १३ ॥ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥ १५ ॥ आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥
दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥ अत एव चोपमा
सूर्यकादिवत् ॥१८॥ अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥
दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

ब्रह्म किं रूपि चारूपं भवेन्नीरूपमेव वा ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद्ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥ ९ ॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।
रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥ १० ॥

"तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म" इत्यादिश्रुतयो रूपवद्ब्रह्म प्रतिपादयन्ति । "अस्थूलमनणु" इत्यादिश्रुतयो नीरूपम् । तस्मात्—वस्तुत उभयात्मकं ब्रह्म ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—नीरूपमेव शास्त्रप्रतिपाद्यम् । मानान्तरासिद्धत्वात् । जगत्कर्तृत्वादिरूपयुक्तं तु ब्रह्म 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' इत्यनुमाने-

---

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या ब्रह्म रूपवान् और रूपरहित उभयात्मक है अथवा रूपरहित है ?

पूर्वपक्ष—दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके सद्भाव होनेसे ब्रह्म रूपवान् और रूपरहित-उभयात्मक है ।

सिद्धान्त—वेदान्तोंसे ब्रह्म नीरूप ही प्रतिपादित है, क्योंकि अपूर्व-प्रमाणान्तरागम्य है, कहींपर रूपवान् श्रवण तात्पर्य वृत्तिसे नहीं अपितु केवल अनुवाद करता है, अतः ब्रह्ममें रूपवत्ता भ्रम है, क्योंकि उभयात्मकत्व विरुद्ध है ।

'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म' (ब्रह्म चतुष्पाद् है) इत्यादि श्रुतियां यत्र तत्र उपासना कालमें रूपवद् (सविशेष) ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं और 'अस्थूलमनणु०' (न स्थूल है और न अणु है) इत्यादिश्रुतियां नीरूप-निर्विशेष ब्रह्मका । इसलिए वस्तुतः ब्रह्म उभयात्मक है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—नीरूप-निर्विशेष ब्रह्म ही वेदान्तशास्त्रसे प्रतिपाद्य है । क्योंकि [दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्योऽन्यस्या अवस्थाया अप्रसिद्धत्वान्मूर्छाया जाग्रदादावन्तर्भावः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादवस्थान्तरमभ्युपेयम् । न तावज्जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भाव द्वैतप्रतीत्यभावात् । नापि सुषुप्तौ, विलक्षणत्वात् । सुप्तः पुमान्प्रसन्नवदनः समश्वासो निष्कम्पशरीरो भवति । मूर्छितस्तु विकृतमुखो विषमश्वासः शरीरकम्पादियुक्तः । यद्यपि जाग्रदादिवद्दैनंदिनत्वाभावान्न मूर्च्छाया बालकादिषु प्रसिद्धिरस्ति, तथापि कादाचित्की मूर्छावस्थां विज्ञाय वृद्धाश्चिकित्सन्ते । तस्मात्—अन्यैषावस्था ।

तदेवमधिकरणचतुष्टयेन त्वंपदार्थः शोधितः । तत्र स्वप्नसृष्टेर्मिथ्यात्वेन सुखदुःखकर्तृत्वाद्यवभासेऽपि जीवोऽसङ्ग एवेति शोधितम् । सुषुप्तौ ब्रह्मैक्येन तदेवासङ्गत्वमनुभावितम् । तस्यैव पुनः प्रतिबोधेनानित्यत्वाशङ्का निराकृता । मूर्छाविचारेण श्वासादिसर्वव्यवहारलोपेऽपि मरणे जीवनाशो नाऽऽशङ्कनीय इति दर्शितम् ॥ ४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे अन्य अवस्था लोकमें अप्रसिद्ध है, अतः मूर्च्छा जाग्रत् आदि इन तीनोंमेंसे एक अवस्था है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परिशेषसे तीन अवस्थाओंसे मूर्च्छा पृथक् अवस्था स्वीकार करनी चाहिए, मूर्च्छाका जाग्रत् और स्वप्नमें अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि मूर्च्छामें द्वैतकी प्रतीति नहीं है । सुषुप्तिमें भी अन्तर्भाव नहीं है, कारण कि विलक्षण है । सुप्त पुरुष प्रसन्न वदन समश्वास, कम्पन रहित शरीरवाला है मूर्छित तो विकृत मुख, विषम श्वास [श्वासोंकी विषम गति] और शरीर कम्पन आदि दोषोंसे युक्त है । यद्यपि मूर्च्छा जाग्रत् आदिके समान प्रतिदिन नहीं होती, अतः मूर्च्छा बालकादिमें प्रसिद्ध नहीं है, तो भी कादाचित्क कभी-कभी मूर्च्छावस्थाको जानकर वृद्ध लोग उसकी चिकित्सा करते हैं । अतः यह मूर्च्छा अवस्था अन्य अवस्थाओंसे पृथक् है ।

इस प्रकार चार अधिकरणोंमें 'त्व' पदार्थका शोधन किया गया है । उसमें स्वप्न-सृष्टि मिथ्यारूपसे निश्चित होनेपर सुख दुःख कर्तृत्वका अवभास होनेपर भी 'जीव असङ्ग ही है' ऐसा शोधित किया है । सुषुप्तिमें ब्रह्मके साथ ऐक्यसे वही असङ्गत्व अनुभावित है । उसका ही पुनः प्रतिबोध होनेसे अनित्यत्वकी शङ्का निराकृत की गई है, मूर्च्छाके विचार द्वारा यह दिखलाया गया है कि श्वासादि सर्वव्यवहारका लोप होनेपर भी मरणमें जीव नाशकी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ ४ ॥

(पञ्चमे ब्रह्मणो नीरूपत्वाधिकरणे सूत्राणि)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥ अपि चैवमेके ॥ १३ ॥ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥ १५ ॥ आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥ अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥ दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

ब्रह्म किं रूपि चारूपं भवेन्नीरूपमेव वा ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद्ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥ ९ ॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।
रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥ १० ॥

"तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म" इत्यादिश्रुतयो रूपवद्ब्रह्म प्रतिपादयन्ति । 'अस्थूलमनणु" इत्यादिश्रुतयो नीरूपम् । तस्मात्—वस्तुत उभयात्मकं ब्रह्म । इति प्राप्ते ब्रूमः—नीरूपमेव शास्त्रप्रतिपाद्यम् । मानान्तरासिद्धत्वात् । जगत्कर्तृत्वादिरूपयुक्तं तु ब्रह्म 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' इत्यनुमाने-

---

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या ब्रह्म रूपवान् और रूपरहित उभयात्मक है अथवा रूपरहित है ?

पूर्वपक्ष—दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके सद्भाव होनेसे ब्रह्म रूपवान् और रूपरहित-उभयात्मक है ।

सिद्धान्त—वेदान्तोंसे ब्रह्म नीरूप ही प्रतिपादित है, क्योंकि अपूर्व-प्रमाणान्तरागम्य है, कहींपर रूपवान् श्रवण तात्पर्य वृत्तिसे नहीं अपितु केवल अनुवाद करता है, अतः ब्रह्ममें रूपवत्ता भ्रम है, क्योंकि उभयात्मकत्व विरुद्ध है ।

'तदेतचतुष्पाद् ब्रह्म' (ब्रह्म चतुष्पाद् है) इत्यादि श्रुतियां यत्र तत्र उपासना कालमें रूपवद् (सविशेष) ब्रह्मका प्रतिपादन करती है और 'अस्थूलमनणु०' (न स्थूल है और न अणु है) इत्यादिश्रुतियां नीरूप-निर्विशेष ब्रह्मका । इसलिए वस्तुतः ब्रह्म उभयात्मक है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—नीरूप-निर्विशेष ब्रह्म ही वेदान्तशास्त्रसे प्रतिपाद्य है । क्योंकि [दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'

नाप्यवगन्तुं शक्यते ! अत एवोपासनायानूद्यते न तु तात्पर्येण प्रतिपाद्यते। न च अनुमानशास्त्रसिद्धयोरुभयोर्वास्तवत्वम्, एकस्मिन्वस्तुनि सरूपत्वनीरूपत्वयोर्विरुद्धत्वात्। तस्मात्–अतात्पर्यविषयस्य सरूपत्वस्य भ्रान्तत्वान्नीरूपमेव वस्तुतो ब्रह्म ॥ ५ ॥

(षष्ठे ब्रह्मणो निराकरणाविषयात्वाधिकरणे सूत्राणि)

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥ तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥ प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥ प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा न हि ।
द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्यते उभे अपि ॥ ११ ॥
वीप्सेयमितिशब्दोक्तं सर्वदृश्यनिषिद्धये ।
अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः ॥ १२ ॥

(वह निश्चय ही स्वयं प्रकाश, अमूर्त, बाह्य भीतर विद्यमान तथा अज पुरुष है)] इत्यादि प्रमाणान्तरो-प्रत्यक्ष श्रुतियोंसे ब्रह्ममें रूपवत्त्व प्रसिद्ध है। जगत्कर्तृत्वादिरूप विशिष्ट ब्रह्म तो 'क्षिति आदि, सकर्तृक हैं, कार्य होनेसे' इस अनुमानसे भी अवगत हो सकता है, अतएव उपासनामें वह रूप अनुवादित है। परन्तु तात्पर्यसे रूपवत्त्व प्रतिपादित नहीं है, किन्तु अनुमान और शास्त्रसे सिद्ध उभयात्मकत्व वास्तविक नहीं है। क्योंकि एक वस्तुमें सरूप और नीरूपत्व विरुद्ध हैं। इसलिए तात्पर्यका अविषय सरूपत्व भ्रान्त होनेसे वस्तुतः ब्रह्म नीरूप ही है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'नेति नेति' इस वाक्यसे ब्रह्मका भी निषेध होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—'नेति नेति' इस प्रकार द्विरुक्ति होनेसे ब्रह्म और जगत् दोनोंका निषेध होता है।

सिद्धान्त—सम्पूर्ण दृश्यके निषेधके लिए 'इति' शब्दसे कथित 'नेति नेति' यह वीप्सा-दो बार कथन है। इसलिए 'इद' शब्दका अविषय सत्यका भी सत्य अवधिरूप एक ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् उसका 'नेति' आदिसे निषेध नहीं होता है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे महता प्रबन्धेन पृथिव्यप्तेजोलक्षणं मूर्तरूपं वाय्वाकाशलक्षणममूर्तरूपं प्रपञ्च्य तदन्ते ब्रह्मोपदेष्टु-मिदमुक्तम्—'अथात आदेशो नेति नेति' इति। अस्यायमर्थः—'अथ रूपद्वय-कथनानन्तरमरूपिणो ब्रह्मणो वक्तव्यत्वात् 'नेति नेति' इत्ययं ब्रह्मोपदेश इति। तत्र पूर्वपक्षी मन्यते—प्रथम नेति शब्देन जगत एकस्यैव निषेध्यत्वे द्वितीयो 'नेति' शब्दो निरर्थकः स्यात्। अतो द्वितीयेन ब्रह्मापि निषिध्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावद्द्वितीयस्य निषेधस्य वैयर्थ्यं, वीप्सार्थत्वात्। सत्यां च वीप्सायां यद्यद्दृश्यते, इति शब्दनिर्देशार्हं च तत्सर्वं ब्रह्म न भवतीति निषिद्धं भविष्यति। विना तु वीप्सामेकेन नकारेण मूर्तामूर्तयोः प्रकृतत्वेनेति-शब्दनिर्देशार्हयोर्निषेधे सति मूर्ताद्यभावस्य मूलाज्ञानस्य चानिषिद्धत्वात्तयोर्ब्रह्मत्वं प्रसज्येत। ननु सत्यामपि वीप्सायामस्त्येव दोषः। वीप्साया निरङ्कुशत्वाद्-ब्रह्मापि निषिध्यत इति। तन्न, ब्रह्मणो दृश्यत्वाभावेन निषेध्यसमर्पकेतिशब्दा-नर्हत्वात्। किञ्च 'अथात आदेशः' इति महता संरम्भेण ब्रह्मोपदेष्टुं प्रतिज्ञाय तदेव ब्रह्म निषेधन्ती श्रुतिः कथं न व्याहन्येत। वाक्यशेषश्च न ब्रह्मनिषेधे

'द्वे वाव०' (ब्रह्मके दो ही रूप हैं मूर्त और अमूर्त) इस ब्राह्मणमें महान् प्रबन्ध-प्रयत्नसे पृथिवी, जल और तेज स्वरूप मूर्तरूप और वायु और आकाशरूप अमूर्तरूपका विचारकर उसके अन्तमें ब्रह्मके उपदेशके लिये 'अथात आदेशो०' (अब इसके अनन्तर 'नेति नेति' यह ब्रह्मका आदेश है) ऐसा कहा गया है। इसका यह अर्थ है—दो रूपोंके कथनके अनन्तर रूपरहित ब्रह्मके वक्तव्य कोटिमें होनेसे 'नेति-नेति' यह ब्रह्मोपदेश है। इसमें पूर्वपक्षी ऐसा मानता है कि प्रथम 'नेति' शब्दसे यदि एक ही जगत्का निषेध किया जाय, तो द्वितीय 'नेति' शब्द निरर्थक हो जायगा, इसलिए द्वितीय 'नेति' शब्दसे ब्रह्मका भी निषेध होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—द्वितीय निषेध व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसका प्रयोजन वीप्सा है। वीप्सा होनेपर जो जो दृश्य है और 'इति' शब्द निर्देशार्ह है, वह सब ब्रह्म नहीं हो सकता, इस प्रकार निषिद्ध होगा। यदि वीप्सा न हो तो एक 'नकार' से प्रकृत इति शब्दसे निर्देशार्ह मूर्त और अमूर्तका निषेध होनेपर मूर्तादि अभाव और मूलाज्ञानका निषेध न होनेसे दोनोंमें ब्रह्मत्व प्रसक्त होगा। वीप्साके होनेपर भी दोष है ही, क्योंकि वीप्सा निरंकुश है, इससे ब्रह्मका भी निषेध होगा ? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म दृश्य न होनेसे निषेध्यसे सम्बन्धित 'इति' शब्दके योग्य नहीं है। किञ्च 'अथात आदेशः' इस महान् समारोहसे ब्रह्मके उपदेशकी प्रतिज्ञा कर यदि उसी ब्रह्मका निषेध करे तो श्रुति अपने ही अर्थका विनाश क्यों नहीं करेगी !

संगच्छते। वाक्यशेषे च "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्" इत्यादिनाविवक्षितस्य ब्रह्मणो लौकिकसत्याद्गिरिनदीसमुद्रादेरधिकमात्यन्तिकं सत्यत्वं सूचयितुं नाम निर्दिष्टम्। सर्वनिषेधपक्षे सर्वमप्येतत्कदर्थितं स्यात्। तस्मान्न ब्रह्म निषिध्यते ॥ ६ ॥

(सप्तमे ब्रह्मातिरिक्तवस्तुनिकरणाधिकरणे सूत्राणि)

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥ सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥ बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥ उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥ तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥ अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

वस्त्वन्यद्ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् ।
सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च संबन्धाद्भेदवत्त्वतः ॥ १३ ॥
धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यै भेदसंगती ।
उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥ १४ ॥

यदेतद्ब्रह्म 'नेति नेति' इति दृश्यप्रतिषेधेन व्यवस्थापितम्, तस्मादपि ब्रह्मणोऽन्यद्वस्त्वस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः। सेतुत्वादिव्यपदेशेभ्यः। "अथ

और इस प्रकार ब्रह्मका निषेध करनेपर वाक्यशेष भी संगत नहीं होगा। क्योंकि वाक्यशेषमें 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्' इत्यादिसे विवक्षित ब्रह्मके गिरि, नदी, समुद्र आदि लौकिक सत्यकी अपेक्षा अधिक आत्यन्तिक सत्यत्व सूचित करनेके लिए नामका निर्देश किया गया है। सर्व निषेध पक्षमें तो यह सर्व भी व्यर्थ होगा, अतएव 'नेति' से ब्रह्मका निषेध नहीं है ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मसे अन्य वस्तु है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मसे अन्य वस्तु है, क्योंकि ब्रह्ममें सेतुत्व, उन्मान, सम्बन्ध और भेदका व्यपदेश है।

सिद्धान्त—जगद्विधारणसे सेतुत्व, उपासनाके लिए उन्मानका कथन है, उपाधिके उद्भवसे भेदका और उपाधिके विनाशसे सम्बन्धका व्यपदेश है, अतएव अन्यके निषेधसे ब्रह्मसे अन्य वस्तु नहीं है।

यद्यपि 'नेति नेति' इस प्रकार दृश्यके प्रतिषेधसे ब्रह्म व्यवस्थापित किया गया है, तथापि ब्रह्मसे अन्य वस्तु है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। किससे ? इससे कि सेतुत्व

य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इति सेतुत्वं व्यपदिश्यते। तत्र यथा लोके पारावाराजलस्य विधारकः सेतु, तं च सेतुं तीर्त्वा द्वितीयं जाङ्गलं प्रतिपद्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि सेतुत्वेन जगद्विधारकत्वाद्ब्रह्म तीर्त्वा गन्तव्येनान्येन केनचिद्भवितव्यम्। तथोन्मानव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण श्रूयते—'चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म' इति तच्चोन्मानं सद्वितीये गवादौ दृष्टचरम्, न त्वद्वितीये कुत्रचित्। तथा संबन्धव्यपदेशोऽपि ब्रह्मणः श्रूयते—"सता सोम्य तदा संपन्नो भवति" इति। स च संबन्धः सद्रूपाद्ब्रह्मणोऽन्यस्य विद्यमानतायामवकल्प्यते। तथा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य." इति द्रष्टृद्रष्टव्यभेदव्यपदेशोऽपि। तस्मात्—नाद्वितीयं ब्रह्म।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावद्ब्रह्मणः सेतुत्वं मुख्यं संभवति। मृद्दारुमयत्वप्रसङ्गात्। केनचित्सेतुसामान्येन सेतुत्वविवक्षायां विधारकत्वमात्रं विवक्षितम्। न तु सद्वितीयत्वम्। 'सेतुर्विधृति.' इति श्रवणात्। उन्मानं तूपास्त्यै व्यपदिश्यते, उपासनाप्रकरणत्वात्, न तु तत्त्वावबोधार्थम्। भेदव्यपदेशश्चोपाध्युद्भवमपेक्ष्य घटाका-

---

आदिका व्यपदेश है। 'अथ य आत्मा' (जो आत्मा है वह विधारक सेतु है) इस श्रुतिसे सेतुत्वका व्यपदेश है। यहाँ लोकमें जैसे जलका विधारक पारावारवान् सेतु होता है, उस सेतुको पारकर दूसरे जाङ्गल-देशको प्राप्त होता है। वैसे ब्रह्म भी सेतुरूपसे जगद्विधारक है, अतः ब्रह्मको पारकर किसी अन्य गन्तव्यका प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार 'चतुष्पाद् ब्रह्म' (ब्रह्म चतुष्पाद है, ब्रह्म षोडशकलाओंवाला है) इस श्रुतिसे ब्रह्ममें उन्मानका व्यपदेश भी है। वह उन्मान सद्वितीय गो आदिमें दृष्ट है। कहीं भी अद्वितीय वस्तुमें नहीं है। तथा 'सता सोम्य' (हे सोम्य! सुषुप्तिकालमें सत्के साथ सम्पन्न होता है) इस श्रुतिसे ब्रह्ममें सम्बन्धका व्यपदेश भी है। वह सम्बन्ध सद्रूप ब्रह्मसे अन्य वस्तुके विद्यमान होनेपर ही हो सकता है। इस प्रकार 'आत्मा वा अरे०' (हे मैत्रेयी! आत्मा द्रष्टव्य है) इससे द्रष्टा और द्रष्टव्य रूपसे भेदका व्यपदेश भी है। इसलिए ब्रह्म अद्वितीय नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्ममें मुख्य सेतुत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो ब्रह्ममें मृद् और दारुमयत्व प्रसङ्ग होगा। किसी सेतुके सादृश्यसे सेतुत्वकी विवक्षामें विधारकत्व मात्र विवक्षित है, सद्वितीयत्व नहीं, क्योंकि 'सेतुर्विधृतिः' (विधारक सेतु है) ऐसी श्रुति है। उन्मान तो उपासनाके लिए व्यपदिष्ट है, कारण कि उपासनाका प्रकरण है, तत्त्वके ज्ञानार्थ नहीं है। भेदव्यपदेश तो उपाधिके उद्भवकी अपेक्षासे घटाकाश महाकाशके समान उपपन्न होता है। सम्बन्ध व्यपदेश उपाधि विनाशकी अपेक्षा घटनाश होनेपर घटाकाश महाकाशके समान

शमहाकाशवदुपपद्यते। संबन्धव्यपदेशश्चोपाधिनाशमपेक्ष्य घटभङ्गे घटाकाशमहाकाशवदुपचर्यते। तस्मात्—ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुसाधकहेतूनामन्यथासिद्धत्वात्। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यन्यवस्तुनिषेधाच्चाद्वितीयमेव ब्रह्म ॥ ७॥

(अष्टमे कर्माराधितेश्वरस्यैव फलदातृत्वाधिकरणे सूत्राणि)

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥ धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥ पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः।
अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥ १५ ॥
अचेतनात्फलासूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात्।
कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥ १६ ॥

अनुक्षणविनाशिनोऽपि कर्मणोऽपूर्वव्यवधानेनापि कालान्तरभाविफलादातृत्वसंभवादीश्वरकल्पने गौरवम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अचेतनस्य कर्मणोऽपूर्वस्य वा तारतम्येन प्रतिनियतं फलं दातुं न सामर्थ्यमस्ति। लोके सेवादिक्रियायामचेतनायां तददर्शनात्। ततः सेवितराजवत्पूजितेश्वरात्फलसिद्धिरभ्युपेया। न च कल्पनागौरवम्। शास्त्रसिद्ध-

---

उपचार होता है। इसलिए ब्रह्मके अतिरिक्त वस्तुके साधक हेतुओंके अन्यथासिद्ध होनेसे और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इससे अन्य वस्तुके निषेधसे एक ही अद्वितीय ब्रह्म है' यह सिद्ध है ॥ ७॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं

सन्देह—फलदाता कर्म ही है अथवा कर्मोंसे आराधित ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—अपूर्व अवान्तर द्वारा कर्म ही फलदाता है, ईश्वर नहीं।

सिद्धान्त—अचेतन कर्म फलदाता नहीं हो सकता, अतएव कर्म द्वारा आराधित शास्त्र प्रमाण सिद्ध ईश्वर ही कालान्तरमें फलदाता होगा, इसलिए अपूर्वकी कल्पना अयुक्त है।

यद्यपि कर्म क्षणिक है—प्रतिक्षण विनाशी है, तो भी अपूर्वद्वारा कालान्तर भावी फलदाता हो सकता है। अतः ईश्वरकी कल्पना करनेमें गौरव है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अचेतन कर्म अथवा अपूर्वमें तारतम्यसे प्रतिनियत फल देनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि लोकमें सेवा आदि अचेतन क्रियाओंमें वैसा देखा नहीं जाता है। इससे सेवित राजाके समान पूजित ईश्वरसे फल-

स्वेनेश्वरस्याकल्पनीयत्वात्। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं, यमधो निनीषते' इति श्रुतिरीश्वरस्यैव धर्माधर्मयोः फलदातृत्वं तत्कारयितृत्वं चाभिदधाति। सति चेश्वरस्य प्रामाणिकत्वे तवैव प्रत्युताश्रुतस्यापूर्वस्य कल्पने गौरवं भवेत्। तस्मात्कर्मभिराराधित ईश्वरः फलदाता।

तदेवमधिकरणचतुष्टयेन तत्पदार्थः शोधितः। तत्र प्रथमेन ब्रह्मणो नीरूपत्वम्, द्वितीयेन निषेधाविषयत्वम्, तृतीयेनाद्वितीयत्वम्, चतुर्थेन व्यवहारदशायां कर्मफलदातृत्वम्, शाखाचन्द्रन्यायेनोपलक्षणत्वाय प्रतिपादितम्। इत्येवं 'तत्त्वंपदार्थौ शोधितौ' इति स्थितम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	८	१०१
सूत्राणि	४१	३६०

सिद्धि माननी चाहिए और ईश्वरके माननेमें कल्पना गौरव भी नहीं है, क्योंकि शास्त्र सिद्ध होनेसे ईश्वर अकल्पनीय है। 'एष ह्येव०' (वही जिसे इन लोकोंसे ऊपर ले जाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है और वही जिसे नीचे ले जाना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है) यह श्रुति ईश्वरको ही धर्माधर्मका फलदाता और उसका कारयिता कहती है। इस प्रकार ईश्वर प्रामाणिक सिद्ध होनेपर अब तुमको ही अश्रुत अपूर्वकी कल्पना करनेमें गौरव होगा। इससे यह सिद्ध हुआ है कि कर्मोंसे आराधित ईश्वर ही फलदाता है।

इस प्रकार चार अधिकरणोंसे 'तत्' पदार्थ शोधित किया गया है। उनमें प्रथमसे ब्रह्ममें नीरूपत्व, द्वितीयसे निषेधाविषयत्व, तृतीयसे अद्वितीयत्व और चतुर्थसे व्यवहारदशामें कर्मफल दातृत्व शाखाचन्द्रन्यायसे उपलक्षणत्वके लिए प्रतिपादित है। इस प्रकार 'तत्' और 'त्वं' पदार्थोंका शोधन किया गया है, यह सिद्ध हुआ ॥८॥

इति श्री भारतीतीर्थमुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके तृतीयाध्यायके द्वितीय पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥२॥

(अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः)

(अत्र परापरब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्)

[इस पादमें पर और अपर ब्रह्मविद्याके गुणोंके उपसंहारका विवरण है]

(प्रथमे सर्ववेदान्तप्रत्ययोपासनाया एकत्वाधिकरणे सूत्राणि)

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥ दर्शयति च ॥४॥

तृतीयपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता ।
अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥ १ ॥

विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् ।
शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥ २ ॥

छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः—पञ्चाग्न्युपासनमाम्नायते । तदेकं न भवति, नामभेदात् । 'कौथुमम् ।' इति छान्दोग्यगतस्य नाम । 'वाजसनेयकम्' इति बृहदारण्यकगतस्य नाम । तथोपासनान्तरेषु योजयितव्यम् । धर्मभेदोऽप्युपासनाभेदगमकः शिरोव्रतलक्षणो मुण्डकशाखायां श्रूयते—'तेषामेवैतां ब्रह्म-

---

तृतीय पादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सब वेदान्तोंमें उपासना अनेक हैं अथवा एक ?

पूर्वपक्ष—अनेक हैं, क्योंकि कौथुम आदि नाम और शिरोव्रत आदि धर्म भिन्न-भिन्न हैं।

सिद्धान्त—सब वेदान्तोंमें उपासना एक है, क्योंकि विधि, रूप और फल एक है, और नाम श्रुति प्रतिपादित नहीं है, शिरोव्रत नामक धर्म स्वाध्यायका अङ्ग है उपासनाका नहीं, अतः उपासना एक ही है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें पञ्चाग्नि नामकी उपासना सुनी जाती है, परन्तु नामके भेदसे वह एक नहीं है—'कौथुम' यह छान्दोग्यगत उपासनाका नाम है और 'वाजसनेयक' बृहदारण्यकगत उपासनाका नाम है। इसी प्रकार अन्य उपासनाओंमें भी योजना करनी चाहिए। धर्म भेद भी उपासनाके भेदका बोधक है। शिरोव्रतरूप विषयमें 'तेषामेवैतां' (जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उन्हींसे ही यह ब्रह्मविद्या

(द्वितीये शाखान्तरोक्तस्याप्युपसंहाराधिकरणे सूत्रम्)

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ ।
अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥ ३ ॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत् ।
विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥ ४ ॥

वाजसनेयके प्राणविद्यायामधिको गुणो रेतआख्यः श्रुतः—"रेतो होच्चक्राम" इति । नासौ छान्दोग्ये प्राणविद्यायामुपसंहर्तव्यः । अत्रानुक्तत्वात् । विद्योपकारस्त्वत्र श्रुतैरेव प्राणवागादिभिर्गुणैर्भविष्यति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एतच्छाखायामश्रवणेऽपि शाखान्तरे श्रुतत्वादुपसंहार्य एव । अग्निहोत्राद्यनुष्ठानेषु शाखान्तरोक्तगुणयुक्ततयैवानुष्ठानदर्शनात् । न च स्वशाखोक्तगुणैरेव विद्योपकारसिद्धौ गुणोपसंहारो निरर्थक इति वाच्यम् । 'कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्' इति न्यायेन स्वशाखोक्तगुणवत्परशाखोक्तगुणानामप्युपकारकत्वात् । तस्माद् गुणोपसंहारः कर्तव्यः ॥ २ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—एक उपासनामें श्रुत गुणोंका अन्यत्र उपसंहार (ग्रहण) करना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका श्रुतिमें कथन नहीं है, और श्रुतगुणोंसे ही उपासनाका उपकार होगा ।

सिद्धान्त—अन्य शाखामें गुणोंका श्रवण होनेसे अग्निहोत्रके समान उन गुणोंका एक उपासनामें उपसंहार होना चाहिए, क्योंकि विशिष्ट विद्याका उपकार स्वशाखोक्त गुणोंके समान है । अतः गुणोंका उपसंहार युक्त है ।

वाजसनेयकमें प्राणविद्यामें 'रेतो होच्चक्राम' इत्यादिसे रेत नामक अधिक गुण श्रुत है, वह छान्दोग्य प्राणविद्यामें उपसंहार योग्य नहीं है, क्योंकि वह यहाँपर उक्त नहीं है । विद्योपकार तो यहाँ श्रुत प्राण, वाग् आदि गुणोंसे होगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि इस शाखामें अश्रुत हैं तथापि अन्यशाखामें श्रुत होनेसे उन गुणोंका उपसंहार होना चाहिए । क्योंकि अग्निहोत्र आदि अनुष्ठानोंमें अन्य शाखामें उक्त गुणोंसे युक्तरूपसे अनुष्ठान देखा जाता है । अपनी शाखामें उक्त गुणोंसे विद्योपकार सिद्ध होनेपर गुणोपसंहार निरर्थक है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कर्मके आधिक्यसे फलका आधिक्य होता है, इस

(तृतीय उद्गीथविद्याया भिन्नताधिकरणे सूत्राणि)

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥ न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥ संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

ऐका भिन्नाऽथवोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः ।
एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः ॥ ५ ॥
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा ।
वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ॥ ६ ॥

'उद्गीथविद्या' इति समाख्याया एकत्वाच्छान्दोग्यकाण्वशाखयोर्विद्यैक्यमुचितम् । अथ समाख्या न श्रौती, तथाऽपि श्रौताः संग्रामादय उभयत्र समानाः । तथा हि—छान्दोग्ये देवासुरभावं क्रमेण सात्त्विकेन्द्रियवृत्तीनां तामसेन्द्रियवृत्तीनां चाङ्गीकृत्य तत्संग्रामं निरूप्य वागादिदेवानामसुरविद्धत्वमुक्त्वा प्राणस्यैव तदविद्धत्वमुक्तम् । एतत्सर्वं काण्ववेदेऽपि समानम् । तस्मात्—उभयत्र विद्यैक्यम् ।

न्यायसे अपनी शाखामें उक्त गुणोंके समान अन्य शाखामें उक्त गुण भी उपकारक होते हैं, इससे गुणोंका उपसंहार (ग्रहण) करना चाहिए ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें कथित उद्गीथ विद्या एक है अथवा भिन्न है ?

पूर्वपक्ष—एक है, क्योंकि समान नाम है और संग्राम आदि भी समान हैं ।

सिद्धान्त—उद्गीथ विद्या भिन्न है, क्योंकि उद्गीथावयव ओंकार और उद्गाता इन दोनोंका भेद है, वेदके भेद होनेपर संग्राम आदि अर्थवादको समानता विद्याके एकत्वमें प्रयोजक नहीं है ।

'उद्गीथविद्या' इस प्रकारका नाम छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें एक होनेसे दोनोंमें उद्गीथविद्या एक ही उचित है । यद्यपि नाम श्रौत नहीं है, तथापि श्रौत संग्राम आदि दोनोंमें समान हैं । जैसे कि छान्दोग्यमें सात्त्विक इन्द्रियवृत्ति और तामस इन्द्रियवृत्तियोंमें क्रमशः देवासुरभाव अङ्गीकार कर उनके संग्रामका निरूपणकर वाग् आदि देव असुरोंपापोंसे विद्ध-युक्त हुए यह कहकर प्राणका ही अविद्ध कहा गया है । यह सब बृहदारण्यकमें भी समान है । उससे दोनोंमें विद्या एक है ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भिन्नेयमुद्गीथविद्या । वेद्यस्वरूपभिन्नत्वात् । छान्दोग्ये तावत्सामभागविशेषस्योद्गीथस्यावयव ओंकारः । स एव प्राणदृष्ट्योपासनीयः । काण्ववेदे तु कृत्स्नोद्गीथभक्तेर्यः उद्गाता, वागिन्द्रियप्रेरकः प्राणः स उद्गातृत्वेनोपास्य इति वेद्यभेदः । यत्तु सर्वासां साम्यमुक्तम् तदप्रयोजकम्, अर्थवादत्वात् । यदपि प्राणस्यासुरविद्धत्वाभावनं चेष्टनम् । एवमप्युपास्यत्वम्, तथाऽप्युक्तस्य वेद्यभेदस्यानिराकरणात्—भिन्नैवोद्गीथविद्या ॥ ३ ॥

(चतुर्थे उद्गीथस्योंकारविशेषणत्वाधिकरणे सूत्रम्)

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाऽथ विशेषणता ।
अक्षरस्यात्र नास्त्येवं नियतं हेत्वभावतः ॥७॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशेष्यते ।
अध्यासादौ फलं कल्प्यं सन्निकृष्टा च लक्षणा ॥८॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यक्षरोद्गीथयोः सामा-

---

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह उद्गीथविद्या भिन्न है, क्योंकि वेद्य-उपास्यका स्वरूप भिन्न भिन्न है । छान्दोग्यमें तो सामभाग विशेष उद्गीथावयव ओंकार है और वही प्राणदृष्टिसे उपासनीय है । काण्ववेद शाखावाला बृहदारण्यक-में सम्पूर्ण उद्गीथ भक्तिका जो उद्गाता वाग् इन्द्रियका प्रेरक प्राण है, वह उद्गातृ-रूपसे उपास्य है, इस प्रकार वेद्यका भेद है । और जो सबमें समता विद्याके एकत्वकी साधिका कही गई है । वह अर्थवादमात्र होनेसे उद्गीथविद्याके एकत्वमें प्रयोजक नहीं है । यद्यपि प्राण असुरोंसे अविद्ध होना आदि समान है और वह उपास्य है, तो भी उक्त वेद्यभेदका निराकरण नहीं है, अतः ये विद्या भिन्न ही है ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुतिमें अक्षर और उद्गीथका सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, क्या वह अध्यास है, बाध है, ऐक्य है अथवा विशेषण है ।

पूर्वपक्ष—यहाँ किसी पक्षका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि निर्णायक हेतु नहीं है ।

सिद्धान्त—उद्गीथ शब्द यहाँ ओंकारका विशेषण है, क्योंकि ऋग्वेदादि वेदोंमें ॐकार अक्षर व्याप्त है, अध्यास आदिमें फलकी कल्पना है और विशेषणमें सन्निकृष्ट लक्षणा है । इसलिए विशेषण पक्ष सङ्गत है ।

'ओमित्येतदक्षरमु०' (ॐ इस उद्गीथावयव ओंकारकी उपासना करनी चाहिए)

नाधिकरण्यं श्रूयते। तत्र चतुर्धा संशयः। तथा हि—"नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यत्र नाम्नि ब्रह्मदृष्टध्यासाय सामानाधिकरण्यं श्रुतम्। तथा बाधादिष्वप्युदाह्रियते—'यश्चोरः स स्थाणुः' इति चोरत्वस्य बाधः। 'यो जीवस्तद्ब्रह्म' इत्येकत्वम्। 'यन्नीलं तदुत्पलम्' इति विशेष्यता। अतोऽक्षरस्य चतुर्धा संदेहे सति 'इदमेव' इत्यत्र नास्त्यध्यवसायः। नियामकस्य हेतोरभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अक्षरस्योद्गीथेन विशेष्यता नियन्तुं शक्यते। ओंकारो हि ऋग्यजुःसामसु त्रिषु पठ्यते। तत्र 'कस्योपास्यत्वम्' इत्यपेक्षायाम्, 'उद्गीथभागस्थितस्य, न त्वितरस्य' इति सामवेदगतस्य विशेषणीयत्वात्। अध्यासबाधैक्यपक्षेषु फलमपि कल्पनीयं प्रसज्येत, स्वतन्त्रोपासनत्वेन फलस्याऽऽकाङ्क्षितत्वात्। विशेषणपक्षे तु वक्ष्यमाणरसतमत्वादिगुणोपासनाय प्रतीकत्वेनोंकार उद्गीथेन विशेष्यते न तु स्वतन्त्रमुपासनम्। ततो न पृथक्त्वं कल्पनीयम्। ननु उद्गीथशब्दः कृत्स्नभक्तिवाचकः। ओंकारस्तु तदवयवः। एवं चोंकारं विशेष्टुमुद्गीथशब्देन तदंशलक्षणा स्वीकरणीया स्यात्। बाढम्। तथाऽप्यध्या-

---

इस प्रकार अक्षर और उद्गीथका सामानाधिकरण्य सुना जाता है। यहांपर चार प्रकारका संशय होता है, जैसेकि 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' यहांपर नाममें ब्रह्मदृष्टिके अध्यासके लिए सामानाधिकरण्य श्रुत है। इस प्रकार बाध आदिमें भी उदाहरण हैं—'यश्चोरः स स्थाणुः' (जो चोर है वह स्थाणु है) यहां चोरत्वका बाध है। 'यो जीवस्तद्ब्रह्म' (जो जीव है वह ब्रह्म है) यह एकत्व है। 'यन्नील तदुत्पलम्' यह विशेषण विशेष्य भाव है। इस प्रकार अक्षरमें चार प्रकारका संदेह होनेपर इनमेंसे यही गृहीत हैं, ऐसा यहां कोई निर्णय नहीं है, क्योंकि इस विषयमें कोई नियामक हेतु नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अक्षरकी उद्गीथके साथ विशेष्यता नियमित हो सकती है अर्थात् उद्गीथ और अक्षरका परस्पर विशेषण विशेष्यभाव हो सकता है। क्योंकि ॐकार ऋक्, यजु और साम तीनोंमें पठित है, उसमें कौन उपास्य है? इस प्रकार अपेक्षा होनेपर उद्गीथभागमें स्थित ओंकारकी अपेक्षा है अन्यकी अपेक्षा नहीं है। इस तरह सामवेदगत विशेषण हो सकता है। अध्यास, बाध और ऐक्य पक्षोंमें फलकी कल्पना भी प्रसक्त होगी, क्योंकि स्वतन्त्र उपासना होनेसे फलकी आकाङ्क्षा होती है। विशेषणपक्षमें तो वक्ष्यमाण रसतमत्वादि गुणोंकी उपासनाके लिए प्रतीकरूपसे ॐकार उद्गीथसे विशेषित होता है किन्तु स्वतन्त्र उपासना नहीं है इससे पृथक् फलकी कल्पना भी नहीं है। परन्तु उद्गीथ शब्द सम्पूर्ण भक्तिका वाचक है और ओंकार तो उसका अवयव है। इससे उद्गीथ शब्दके साथ ओंकारको विशेषित करनेके लिए उद्गीथावयवमें लक्षणा अवश्य स्वीकरणीय होगी? ठीक है। तथापि

सपक्षात्समीचीनो विशेषणपक्षः। अध्यासपक्षे तु यथा विष्णुशब्दः स्वार्थं सर्वं परित्यज्यार्थान्तरभूतां शिलाप्रतिमां लक्षयति, तथोद्गीथशब्दोऽपीति विप्रकर्षः। अंशलक्षणायां तु स्वार्थैकदेशस्यैव परित्याग इति संनिकर्षः। ओंकारादितरदक्षरजातं यदस्ति सोऽयं परित्यक्तव्यस्तदेकदेशः। तस्माद्वेदान्तरगतोकारव्यावृत्त्यर्थमुद्गीथावयवत्वेनैतदक्षरं विशिष्यते ॥ ४ ॥

(पञ्चमे वसिष्ठत्वादीनामाहार्यताधिकरणे सूत्रम्)।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः।
उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥ ९ ॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि तेन तत्।
एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते ॥ १० ॥

प्राणविद्यायां छान्दोगा काण्वाश्च वसिष्ठत्वप्रतिष्ठादिकान्गुणानामनन्ति, न त्वैतरेयककौषीतक्यादयः तत्र वसिष्ठत्वादिकं नोपसंहर्तव्यम्। कुतः। 'य एवं वेद' इत्येवंशब्देन तत्तच्छाखोक्तगुणानामेव परामर्शात्।

अध्यासपक्षसे विशेषणपक्ष समीचीन है। अध्यास पक्षमें तो जिस प्रकार विष्णुशब्द सब स्वार्थका परित्यागकर अन्यार्थभूत शिलाकी प्रतिमाका लक्षणासे बोध कराता है। इस प्रकार उद्गीथ शब्द भी होगा, तब तो विप्रकृष्ट लक्षणा होगी। अंशलक्षणा-अवयव लक्षणामें तो स्वार्थके एक देशका परित्याग है, अतः सन्निकृष्ट है। ओंकारसे भिन्न जो अक्षर समुदाय है, वह परित्याज्य है, यह ओंकार एकदेश है। इससे अन्य वेदगत ओंकार की व्यावृत्तिके लिए उद्गीथावयवरूपसे यह ओंकार अक्षर विशेषित होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वसिष्ठत्व आदि गुणोंका ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—'एवम्' शब्दसे उक्तका ही परामर्श होनेसे वसिष्ठत्व आदिके उक्त न होनेसे उपसंहारके योग्य नहीं हैं।

सिद्धान्त—वसिष्ठ आदि प्राण द्वारा बुद्धिस्थ हैं, अन्य नहीं, अतः वे वसिष्ठत्व आदि 'एवम्' शब्दसे परामर्शके योग्य हैं, इसलिए उनका उपसंहार करना चाहिए।

प्राणविद्यामें छान्दोग्य और काण्व वसिष्ठत्व प्रतिष्ठादि गुणोंको कहते हैं और ऐतरेयक एवं कौषीतकी आदि नहीं कहते हैं। ऐसी परिस्थितिमें वसिष्ठत्व आदिका ऐतरेयक आदि प्राणविद्यामें उपसंहार करना चाहिए कि नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्षमें ऐतरेयक आदिमें वसिष्ठत्व आदि गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्तगुणवदनुक्ता अपि गुणा एवं शब्दपरामर्शयोग्याः। कुतः। गुणिनः प्राणस्यैकत्वेन तद्द्वारा गुणानां बुद्धिस्थत्वात्। यथा देवदत्तो मथुरायामध्यापयन्दृष्टः पुनर्माहिष्मत्यामनध्यापयन्नप्यध्यापकत्वेनैव प्रत्यभिज्ञायते, तथा छान्दोग्यादौ वसिष्ठत्वादिगुणयुक्ततयोपलब्ध., पुनरैतरेयादौ केवल उपलभ्यमानोऽपि तद्गुणविशिष्टतयैव बुद्धिस्थो भवेत्। तस्मात्—एवं शब्दपरामर्शयोग्यत्वाद्वसिष्ठत्वादिकमुपसंहर्तव्यम् ॥ ५ ॥

(षष्ठ आनन्दादीनामुपसंहाराधिकरणे सूत्राणि)

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥ प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥ इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

नाऽऽहार्या उत वाऽऽहार्या आनन्दाद्या अनाहृति ।
वामनीसत्यकामादेरिवैतेषा व्यवस्थिते. ॥ ११ ॥
विधीयमानधर्माणा व्यवस्था स्याद्यथाविधि ।
प्रतिपत्तिफलाना तु सर्वशाखासु संहृतिः ॥ १२ ॥

क्योंकि 'य एव वेद' इसमें पठित 'एवम्' शब्दसे तत्-तत् शाखामें उक्त गुणोंका ही परामर्श होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर हम कहते हैं—उक्त गुणोंके समान अनुक्त गुण भी 'एवम्' शब्दसे परामर्शके योग्य हैं। क्योंकि गुणीभूत प्राणके एकत्व होनेसे प्राण द्वारा गुण बुद्धिस्थ होते हैं। जैसे मथुरामें पढाता हुआ देखा गया देवदत्त पुन कदाचित् माहिष्मतिमें पढाता हुआ नहीं देखा जाय तो भी अध्यापकरूपसे उसका प्रत्यभिज्ञान होता है। वैसे छान्दोग्यादिमें वसिष्ठत्वादि गुण युक्ततया उपलब्ध प्राण पुन ऐतरेय आदिमें केवल उपलब्ध होनेपर भी वसिष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त ही बुद्धिस्थ होते हैं। इसलिए 'एवम्' शब्दसे परामर्श योग्य होनेसे वसिष्ठत्वादि गुणोंका ऐतरेय आदिकी प्राणविद्यामें उपसंहार करना चाहिए ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—तैत्तिरीयककी परब्रह्म विद्यामें पठित आनन्दादिका ऐतरेयकादिमें उक्त परब्रह्मविद्यामें उपसंहार होना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—आनन्दादिका उपसंहार नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनकी व्यवस्था वामनी, सत्यकामादिके समान हो सकती है।

सिद्धान्त—विधियमान धर्मोंकी व्यवस्था सगुणविद्यामें विधिके अनुसार होगी, प्र— फलवाले आनन्दादिका तो सभी शाखाओंमें उपसंहार होना चाहिए।

'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।१०) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१) इत्यानन्दसत्यत्वादयस्तैत्तिरीयके परब्रह्मविद्यायां पठ्यन्ते, ते "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यैतरेयकादिप्रोक्तासु परब्रह्मविद्यासु नोपसंहर्तव्याः। वामनीत्वादिवद्व्यवस्थोपपत्ते। "एष उ एव वामनी", एष उ एव भामनी' इति कामनेतृत्वभासकत्वादयो गुणा उपकोसलविद्यायामाम्नाताः। "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति सत्यकामादयो गुणा दहरविद्यायां समाम्नाताः। तत्र यथा परस्परं गुणानुपसंहार एवमानन्दादीनां व्यवस्थाऽस्तु।

इति प्राप्ते ब्रूम —विषमो दृष्टान्तः। वामनीत्वादिना ध्येयत्वेन विधीयमानत्वाद्यथाविधि व्यवस्था युक्ता। आनन्दादयस्तु प्रतिपत्तिफला इति न विधीयन्ते। अतो व्यवस्थापकविध्यभावात्प्रतिपत्तिफलस्य सर्वत्र समानत्वाच्चाऽऽनन्दादय उपसंहर्तव्या ॥ ६ ॥

(सप्तमे पुरुषस्यैव ज्ञेयताधिकरणे सूत्रे)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥ आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

सर्वा परम्पराऽज्ञादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा।
ज्ञया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहूनि हि ॥ १३ ॥

'आनन्दो ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार आनन्द, सत्यत्वादि तैत्तिरीयक परब्रह्मविद्यामें पठित हैं। वे 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि ऐतरेयक आदिमें प्रोक्त परब्रह्मविद्यामें उपसंहारके योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनकी व्यवस्था वामनीत्व आदिके समान हो सकती है। 'एष उ एव वामनी' एष उ एव भामनी' इस प्रकार कामनेतृत्व-कामसिद्धृत्व भासकत्व आदि गुण उपकोसल विद्यामें कहे गये हैं 'सत्यकाम सत्यसङ्कल्प' इस प्रकार सत्यकाम आदि गुण दहरविद्यामें कहे गये हैं। जैसे यहां परस्पर गुणोंका उपसंहार नहीं है, वैसे आनन्दादिकी भी व्यवस्था होगी अर्थात् उनका भी परस्पर तैत्तिरीयक और ऐतरेयकमें उक्त परब्रह्मविद्यामें उपसंहार नहीं होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह दृष्टान्त विषम है, क्योंकि वामनीत्वादि ध्येयरूपसे विधियमान हैं, अतः उनकी व्यवस्था विधिके अनुसार युक्त है। आनन्दादि तो ज्ञान फलवाले हैं, अतः उनका विधान नहीं है। इसलिए व्यवस्थापक विधिके अभावमें ज्ञानफलवाले सर्वत्र समान होनेसे आनन्दादिका उपसंहार होना चाहिए ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—इन्द्रिय आदिकी सर्व परम्परा ज्ञेयरूपसे प्रतिपाद्य है अथवा केवल पुरुष ही श्रुति प्रतिपाद्य है ?

पुमर्थं पुरुषज्ञानं यतः श्रुतो महान्।
तद्बोधाय श्रतोऽस्मादिर्वेद्य एव पुमांस्ततः ॥ १४॥

कठवल्लीषु पठ्यते—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (३।१०।११) इति।

अस्यायमर्थः — मनसा विषयानभि[illegible] पश्चादिन्द्रियैर्बाह्यान्विषयानाप्नोति। तत्र बाह्यविषयेभ्य [illegible] प्रसिद्धम्। इन्द्रियेभ्यश्चाभिलष्यमाणत्वद[illegible] । तेभ्योऽप्यभिलाषात्मिका मनोवृत्तिरान्तरा। वृत्ते[illegible] अभ्यन्तरा। बुद्धेरपि बुद्ध्युपादानभूतो महच्छब्दवाच्यो हैरण्यगर्भ[illegible] । मह[illegible]ऽपि तदुपादानभूतमव्यक्ताख्यं मूलाज्ञान[illegible] । [illegible] तदधिष्ठानभूतश्चिद्रूपः पुरुषोऽभ्यन्तरः। पुरुषादभ्य[illegible] तारतम्यस्य विश्रान्तिभूमिः।

पूर्वपक्ष—[illegible] परम्परा [illegible] प्रतिपाद्य है क्योंकि वह श्रुत है और अनेक वाक्य भी हैं।

सिद्धान्त— [illegible] महान् यत्न श्रुति प्रतिपादित है। अतः इन्द्रिय [illegible] पुरुषके ज्ञानके लिए श्रुत है अतः केवल पुरुष ही वेदरूपी श्रुति प्रतिपाद्य है इन्द्रियादि परम्परा नहीं।

इन्द्रियेभ्यः परा (इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ हैं विषयों से मन पर है मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट सूक्ष्म है महत्से अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है पुरुषसे पर कुछ नहीं है। वही (सूक्ष्मता) पराकाष्ठा और वही परा गति है) इस प्रकार कठवल्लीमें कहा गया है। इसका यह अर्थ है—मनुष्य मनसे विषयोंकी अभिलाषाके अनन्तर इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयोंका [illegible] करता है। उनमें बाह्यविषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ आन्तर हैं यह उनमें परत्व प्रसिद्ध है। इन्द्रियोंसे अभिलष्यमाण दशापन्न विषय आन्तर हैं उनसे भी अभिलाषात्मिका मनोवृत्ति आन्तर है वृत्तिसे भी वृत्तिवाली बुद्धि अभ्यन्तर है बुद्धिमें बुद्धिका उपादानभूत महत् शब्दवाच्य हिरण्यगर्भरूप आत्मा अभ्यन्तर है महत्से भी उनका उपादान भूत अव्यक्त नामक मूलाज्ञान अभ्यन्तर है। अव्यक्तसे भी उसका अधिष्ठानभूत चैतन्यस्वरूप पुरुष अभ्यन्तर है पुरुषसे कोई भी आन्तर नहीं है। पुरुष ही तारतम्यकी विश्राम भूमि है।

'पुरुषार्थकामे परमो गन्तव्यश्च' इति। तत्र यथा पुरुषः श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपाद्य, एवमिन्द्रियादिपरम्पराऽपि प्रतिपाद्यैव। अन्यथा तदुपन्यासवैयर्थ्यात्। बहूनां प्रतिपादने वाक्यभेदः स्यादिति चेत्। बाढम्। सन्त्येव तानि बहूनि वाक्यानि। एकवाक्यत्वासंभवात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पुरुषज्ञानस्याशेषसंसारनिदानभूताज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरुष एव ज्ञेयतया प्रतिपाद्यः। अत एव वाक्यशेषे पुरुषज्ञानायैव महता प्रयत्नेन योग उपदिष्टः—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ इति॥

अस्यायमर्थः—'सर्वाभ्यन्तरत्वेन गूढोऽयमात्मा बहिर्मुखाणां न प्रकाशते। अन्तर्मुखा ये सूक्ष्मतत्त्वदर्शनशीलास्तैर्योगाभ्यासेनैकाग्र्यमापन्नया बुद्ध्या सूक्ष्मवस्तुविषयया द्रष्टुं शक्यते' इति। न च पुरुषस्यैव प्रतिपाद्यत्वे परम्परोपदेशवैयर्थ्यम्। बहिर्मुखस्य चित्तस्य पुरुषप्रवेशं प्रति परम्पराया साधनत्वात्। तस्मात्पुरुष एव ज्ञातव्यः॥ ७॥

इसलिए 'पुरुषार्थकामे परमो गन्तव्य' (मोक्षकामनावाले द्वारा परम पुरुषको जानना चाहिए) इस प्रकार अन्य श्रुति कहती है। पूर्वपक्षी—जिस प्रकार यहाँ पुरुष तात्पर्य वृत्तिसे श्रुति प्रतिपाद्य है। इस प्रकार इन्द्रियादि परम्परा भी तात्पर्यवृत्तिसे श्रुति प्रतिपाद्य है, अन्यथा इन्द्रियादि परम्पराका उपन्यास व्यर्थ हो जायगा। यदि कहो कि अनेकार्थ प्रतिपादनमें वाक्यभेद होगा। तो ठीक है, क्योंकि ये बहुत वाक्य हैं ही, अतः उनकी एकवाक्यता हो ही नहीं सकती।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पुरुषज्ञान सम्पूर्ण संसारके कारण भूत अज्ञानका निवर्तक होनेसे पुरुष ही ज्ञेयरूपसे श्रुति प्रतिपाद्य है। अतएव वाक्यशेषमें पुरुषज्ञानके लिए महान् प्रयत्नसे योगका उपदेश किया गया है। 'एष सर्वेषु०' (सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता, यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है) इसका यह अर्थ है—'सर्वाभ्यन्तररूपसे छिपा हुआ यह आत्मा बहिर्मुख पुरुषोंके लिए यह प्रकाशित नहीं होता। जो सूक्ष्मतत्त्वदर्शन शील अन्तर्मुख हैं उन्हीं द्वारा योगाभ्याससे एकाग्रतापन्न सूक्ष्मवस्तुविषयक बुद्धिसे देखा जा सकता है'। केवल पुरुषके श्रुतिप्रतिपाद्य होनेसे इन्द्रियादि परम्परा उपदेश व्यर्थ नहीं है, क्योंकि बहिर्मुख चित्तका पुरुष प्रवेशके प्रति उक्त परम्परा साधन है। अतएव पुरुष ही ज्ञातव्य है॥ ७॥

(अष्टम ईश्वरस्यैवाऽऽत्मशब्दवाच्यताधिकरणे सूत्रे)

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥ अन्वयादिति चेत्स्याद-वधारणात् ॥ १७ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट्स्यादथवेश्वरः
भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥ १५ ॥
भूतोपसंहृतेरीशः स्यादद्वैतावधारणात् ।
अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥ १६ ॥

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐ०१।१) इत्यत्र विराडेवाऽऽत्मशब्दवाच्यो नेश्वरः। कुतः। 'स ऐक्षत, लोकान्नु सृजै' (ऐ० १।१) इति पञ्चभूतसृष्टिमनुक्त्वा लोकमात्रसृष्टेरभिधानात्। ईश्वरप्रकरणे तैत्तिरीयच्छान्दोग्यादिषु भूतसृष्टयभिधानदर्शनात्। "ताभ्यो गामानयत्" (ऐ० ३।२) इति प्रोक्तं गवाद्यानयनं शरीरिणो विराजो घटते, न त्वशरीरस्य परमेश्वरस्य। इति प्राप्ते ब्रूम —'एक एवाग्र आसीत्' इत्यद्वैतावधारणादीश्वरोऽत्राऽऽत्मशब्दार्थः। तथा च सति शाखान्तरोक्तभूतसृष्टिरत्रोपसंहर्तुं शक्यते। यत्तु गवा-

---

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'आत्मा वा इदमेक'० इस श्रुतिमें आत्मशब्दसे विराट्का ग्रहण है अथवा ईश्वरका ?

पूर्वपक्ष—विराट्का ग्रहण है ईश्वरका नहीं, क्योंकि गवानयन आदि शरीरसे ही हो सकता है और भूत सृष्टिका निरूपण नहीं है।

सिद्धान्त—विराट्का ग्रहण नहीं, किन्तु ईश्वरका ही ग्रहण है, क्योंकि अद्वैतका अवधारण होने और भूतोंका उपसंहार होनेमें ब्रह्मात्मा ही विवक्षित है, गवानयन आदि कथन तो अर्थवादमात्र है।

'आत्मा वा इदमेक'० (सृष्टिके पहले एक आत्मा ही था) यहाँ विराट् ही आत्मा शब्दवाच्य है ईश्वर नहीं। किससे ? इससे कि 'स ऐक्षद०' (उसने ईक्षण किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस प्रकार पाँच भूतोंकी सृष्टि न कहकर केवल लोकसृष्टिका ही कथन है। तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदिमें ईश्वरके प्रकरणमें भूत सृष्टिका अभिधान देखा जाता है। 'ताभ्यो०' (उन देवताओंके लिए गौ लाया) यह कहा गया गौ आदिका आनयन शरीर सहित विराट्में ही घटता है शरीर रहित परमेश्वरमें नहीं।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'एक एवाग्र आसीत्' इस प्रकार अद्वैतका अवधारण होनेसे यहाँ ईश्वर ही आत्मशब्दका अर्थ है अर्थात् आत्मशब्द

द्यानयनम् । तदर्थवादरूपम् । तद्वेदनस्य स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थत्वाभावात् । अथ भूतार्थवादत्वं मन्येथास्तर्हि विराडादिद्वारा परमेश्वर एव गवादिमानयतु अथ श्रूयमाणस्य गवानयनप्रपञ्चस्यार्थवादत्वे श्रुतेर्विवक्षितार्थः कोऽपि न सिध्ये-दिति चेत् । न, जीवब्रह्मैक्यस्य विवक्षितत्वात् । "आत्मा वै" इत्युपक्रम्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० १।३।१३) प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ ३।५।४) इत्युपसंहारात् । तस्मादीश्वर एवाऽऽत्मशब्दवाच्यः ।

द्वितीयवर्णकमाह—

द्वयोर्वस्त्वस्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोः ।
उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमात् ॥ १७ ॥
साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः ।
वाक्यशेषदात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेनयोः ॥ १८ ॥

काण्वषष्ठाध्याये "कतम आत्मा, 'इत्यात्माऽऽत्मा प्रपञ्चितः । छान्दोग्य-

---

वाच्य है इसलिए अन्य शाखामें उक्त भूत सहित यहाँ उपसंहार हो सकता है, जो गवादिका आनयन है वह केवल अर्थवादमात्र है । उसका ज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं है । यदि भूतार्थवाद मानो तो भी विराट् आदि द्वारा परमेश्वर ही गवादि लाएगा । श्रूयमाण गवानयन प्रपञ्च अर्थवाद होनेपर तो श्रुतिका कोई भी विवक्षितार्थ सिद्ध नहीं होगा, यदि ऐसी शङ्का करो तो नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीव ब्रह्मकी एकता विवक्षित है । 'आत्मा वै०' इस प्रकार उपक्रमकर स एतमेव०' (इस प्रकार उसने इस पुरुषको ही पूर्णतम ब्रह्मरूपसे देखा, प्रज्ञान ब्रह्म है) ऐसा उपसंहार है । इससे ईश्वर ही आत्मशब्दवाच्य है ॥ ८ ॥

द्वितीय वर्णक कहते हैं—

सन्देह—बृहदारण्यक और छान्दोग्यके छठे अध्यायमें जो आत्मा और सत्का वर्णन किया गया है, वे दोनों एक ही हैं अथवा पृथक् पृथक् ?

पूर्वपक्ष—छान्दोग्यमें 'सत्' शब्दसे और बृहदारण्यकमें 'आत्मा' शब्दसे उपक्रम होनेसे दोनो स्थलोंमें पृथक्-पृथक् वस्तु है ।

सिद्धान्त—'सत्' शब्द यद्यपि आत्मा और अनात्मा दोनोंका वाचक होनेसे साधारण है, तथापि 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है, तू वह है) इस वाक्यशेषमें आत्माका वाचक होना चाहिए । इससे बृहदारण्यक और छान्दोग्यमें 'आत्मा' और 'सत्' एक ही वस्तु है ।

बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें 'कतम आत्मा' (आत्मा कौन है) इस प्रकार आरम्भकर आत्माका विस्तृत वर्णन किया गया है, छान्दोग्यके छठे अध्यायमें तो 'सदेव-

षष्ठे तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (६।२।१) इत्युपक्रम्य सद्वस्तु प्रपञ्चितम्। न लोके सच्छब्दात्मशब्दौ पर्यायौ। तस्मात्-वस्तुभेदः।

इति प्राप्ते ब्रूमः–सच्छब्दोऽयमात्मानात्मसाधारणत्वात्संदिग्धः। स च वाक्यशेषे 'स आत्मा तत्त्वमसि (६।८।७) इति श्रवणादात्मवाची भविष्यति। तस्मात्—एकमवोभयत्र वस्तु ॥ ८ ॥

(नवमे प्राणविद्यायामनग्नतावुद्धेरेव विधेयत्वाधिकरणे सूत्रम्)

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

नवमाधिकरणमारचयति—

अनग्नबुद्ध्याचमने विधेये बुद्धिरेव वा।
उभे अपि विधीयेते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥ १६ ॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्यार्थमनूद्य तत्।
अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते ॥ २० ॥

प्राणविद्यायां वाक्यशेषे श्रूयते—"अशिष्यन्नाचामेत्। अशित्वा चाऽऽचा

सोम्येदम०'(हे सोम्य ! सृष्टिके पहले यह सब सत् ही था) इस प्रकार उपक्रमकर सत् वस्तुका ही विस्तृत वर्णन किया गया है। लोकमें 'सत्' और 'आत्मा' शब्द पर्यायवाची नहीं है। अतः दोनों वस्तुओंमें भेद है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि यह 'सत्' शब्द आत्मा और अनात्मा दोनोंमें साधारण होनेसे किसका वाचक है, इस प्रकार संदिग्ध है, तथापि वह 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस वाक्य शेषमें इस प्रकार श्रवण होनेसे आत्माका वाचक होगा। इससे बृहदारण्यक और छान्दोग्य दोनोंमें 'सत्' और 'आत्मा' एक ही वस्तु है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अशिष्यन्नाचामेत्' 'अशित्वा आचामेत्' 'एतमेव तदनमनग्नं कुरुते' (भोजन करनेके पूर्वमें आचमन करना चाहिए और भोजनकर आचमन करना चाहिए, इसी प्राणको उस आचमनसे हम आच्छादित करते हैं ऐसा मानते हैं) इस श्रुतिमें प्राणकी अनग्नता बुद्धि और आचमन दोनोंका विधान है अथवा केवल अनग्नता बुद्धि ही विधेय है ?

पूर्वपक्ष—इस श्रुतिमें प्राणकी अनग्नता बुद्धि और आचमन दोनोंका श्रवण है, अतः यहाँ दोनोंका विधान प्रतीत होता है।

सिद्धान्त—शुद्धताके लिये स्मृतिसे आचमन प्राप्त है उसका अनुवादकर प्राणोपासनाके प्रति प्राणोपासक अपूर्व होनेसे अनग्नता बुद्धिका विधान करते हैं।

मेत् । एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति । तत्र प्राणस्यानग्नताबुद्धिराचमनं चेत्युभयं विधेयम् । द्वयोः श्रुतत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इति न्यायेन मानान्तराप्राप्तमनग्नताचिन्तनमेव विधेयम् । भोजनात्प्रागूर्ध्वं चाऽऽचमनीयास्वप्सु वासोबुद्धिं कृत्वा तेन वाससा प्राणस्यानग्नत्वं ध्यायेदित्यर्थः । आचमनं तु शुद्धयर्थतया स्मृतिबलादेव प्राप्तमिति न विधीयते । न च तस्याः स्मृतेरियं श्रुतिर्मूलमिति शंकनीयम् । वर्णाश्रमधर्मप्रकरणत्वाभावेन भिन्नविषयत्वात् । मूलभूतं [तु] श्रुत्यन्तरमनुमेयम् । तस्मादाचमनस्य प्राप्तत्वादनग्नताबुद्धिरेव प्राणोपासकं प्रति विधेया ॥ ६ ॥

(दशमे शाण्डिल्यविद्यायाः समानताधिकरणे सूत्रम्)

समान एवं चाभेदात् ॥ १६ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा ।
द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वे विद्ये इति गम्यते ॥ २१ ॥

'बृहदारण्यककी प्राणविद्यामें' वाक्यशेषमें 'अशिष्यन्नाचमेत्' (भोजन करनेके पूर्व आचमन करना चाहिए, भोजनके अनन्तर आचमन करते हैं, वे उसो प्राणको अनग्न करते हैं) ऐसी श्रुति है । उक्त श्रुतिमें प्राणकी अनग्नता बुद्धि और आचमन इन दोनोंका विधान है अथवा केवल अनग्नता बुद्धिका ? पूर्वपक्षी—दोनोंका विधान है, क्योंकि दोनोंका श्रवण है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' (अप्राप्त विषयमें शास्त्र सार्थक होता है) इस न्यायसे अन्य प्रमाणसे अप्राप्त अनग्नता चिन्तन ही यहाँ विधेय है । 'भोजनके पहले और भोजनके अनन्तर आचमन योग्य जलमें वस्त्र बुद्धिका उस वस्त्रसे प्राणकी अनग्नताका ध्यान करना चाहिए' ऐसा अर्थ है । आचमन तो शुद्धिके लिए स्मृति बलसे ही प्राप्त है, इसलिये उसका विधान नहीं किया जाता है, उस स्मृतिको यह श्रुति मूल है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वर्णाश्रम धर्मका प्रकरण न होनेसे भिन्न विषय है । उक्त स्मृतिकी मूलभूत दूसरी श्रुतिका अनुमान करना चाहिए । इसलिए आचमन स्मृतिसे प्राप्त होनेसे अनग्नता बुद्धि ही प्राणोपासकके प्रति विधेय है ॥ ६ ॥

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—काण्वोंकी शाण्डिल्यविद्या दो प्रकारकी है अथवा एक प्रकार की ?

पूर्वपक्ष—एक शाखामें पुनरुक्तिके भयसे दो विद्याएं हैं, ऐसा ज्ञात होता है ।

एकामनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत् ।
विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः ॥ २२ ॥

काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणे शाण्डिल्यविद्या पठ्यते—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरम्' इति । तथा तेषामेव बृहदारण्यके सैव विद्या पठिता—'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः' (बृह०५।६।१) इति । तत्र पौनरुक्त्यभयाद्विद्याभेदः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मनोमयत्वादिकस्य वेद्यस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञानादेकैव विद्या । न च पुनरुक्तिः । एकत्र विद्यां विधायापरत्र तदनुवादेन सत्यत्व-सर्वेशानत्वादिगुणानां विधातुं शक्यत्वात् "अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति" इत्यादिवत् । तस्मात्–एकविधैव शाण्डिल्यविद्या ॥ १० ॥

(एकादशे नाम्नोर्व्यवस्थाधिकरणे सूत्राणि)

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥ न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाम्नारहरहं त्विति ।
विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥ २३ ॥

सिद्धान्त—मनोमयत्व आदिके प्रत्यभिज्ञानसे एक ही विद्या है, एक शाखामें-अग्नि-रहस्य ब्राह्मणमें विद्याकी विधि है और अन्यत्र-बृहदारण्यकमें गुणकी विधि है ।

काण्वोंके अग्निरहस्य ब्राह्मणमें शाण्डिल्यविद्या 'स आत्मानमुपासीत' (वह मनोमय प्राण शरीर, प्रकाशरूप आत्माकी उपासना करे) इस प्रकार पढ़ी जाती है । उन्हीं प्रकार उन्हींकी बृहदारण्यकमें वही विद्या 'मनोमयोऽयं०' (प्रकाश ही जिसका सत्य-स्वरूप है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है) इस प्रकार पढी गई है । इस लिए यहाँ पुनरुक्तिके भयसे विद्या भिन्न है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—मनोमयत्वादि वेद्यस्वरूपके प्रत्यभिज्ञानसे एक ही विद्या है । यहाँ पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि एक स्थलमें विद्याका विधान कर अन्यत्र उसके अनुवादसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' (अग्निहोत्र होम करे, दधिसे होम करे) इत्यादिके समान सत्यत्व-सर्वेश्वरत्व आदि गुणोंका विधान हो सकता है । इससे शाण्डिल्यविद्या एक प्रकारकी ही है ॥ १० ॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'अहः' और 'अहम्' इन दोनों नामोंका दोनों स्थलोंमें उपसंहार होना चाहिए अथवा व्यवस्था होनी चाहिए, अर्थात् जो जहाँपर वहाँपर हो हो ।

पूर्वपक्ष—एक विद्या होनेसे अध्यात्म और अधिदैव नामोंका दोनों स्थलोंमें उपसंहार है ।

तस्योपनिषदित्येवं भिन्नस्थानत्वदर्शनात् ।
स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥ २४ ॥

बृहदारण्यके सत्यविद्यायामाधिदैविकस्य पुरुषस्याऽऽदित्यस्य 'अहः' इत्येतन्नाम ध्यानायोपदिश्यते । आध्यात्मिकस्य त्वक्षिपुरुषस्य 'अहम्' इत्येतन्नाम । तत्र विद्यैकत्वेन द्वयोर्नाम्नोः पुरुषद्वयं उपसंहारः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः' इत्युपक्रम्य तस्योपनिषदहः' (बृह० ५।५।३) इति तच्छब्देन मण्डलस्थमेव परामृश्य तस्यैव नामविशेष उपदिष्टः । तथा 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' इत्युपक्रम्य 'तस्योपनिषदहम्' (बृह० ५।५।४) इति तच्छब्देनाक्षिनिष्ठमेव परामृश्य नामविशेष उपदिष्टः । अतो विद्यैकत्वेन वेद्यस्य सत्याख्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि स्थानविशेषे कटाक्षेण नामविधानादाध्यात्मिकाधिदैविकयोर्व्यवस्थिते नामनी । न तु तयोरुपसंहारोऽस्ति । यथा लोके गुरोरुपास्यस्यैकत्वेऽपि तिष्ठतो गुरोर्यं उपचारो नासावासीनस्य युज्यते । आसीनस्य य उपचारः पादम्पदनादिर्नासौ तिष्ठतो भवति, तद्वत् । तस्मात्—नाम्नोर्व्यवस्था द्रष्टव्या ॥ ११ ॥

सिद्धान्त—'तस्य उपनिषद्' (उसका उपनिषद्-रहस्य नाम अहः और अहम् है) इस प्रकार भिन्न स्थान देखनेसे बैठे हुए खड़े हुए गुरुकी उपासनाके समान दोनों नामोंकी व्यवस्था है ।

बृहदारण्यकमें सत्यविद्यामें अधिदैविक आदित्य पुरुषका 'अहः' यह नाम ध्यानके लिए उपदिष्ट है और आध्यात्मिक अक्षिपुरुषका 'अहम्' यह नाम उपदिष्ट है । यहाँपर एक विद्या होनेसे दोनों नामोंका दो पुरुषोंमें उपसंहार है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'य एष०' (जो यह इस आदित्य मण्डलमें पुरुष है) ऐसा उपक्रमकर 'तस्योपनिषदहः' (उसका उपनिषद् नाम अहः है) इस प्रकार श्रुतिस्थ 'तत्' शब्दसे आदित्य मण्डल स्थित पुरुषका ही परामर्श कर उसीका नाम विशेष उपदिष्ट है । वैसे 'योऽयं०' (जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है) ऐसा उपक्रमकर 'तस्योपनिषदहम्' (उसका नाम अहम् है) यहां श्रुतिस्थ 'तत्' शब्दसे अक्षिनिष्ठ पुरुषका परामर्शकर नाम विशेषका उपदेश किया गया है । इसलिए विद्याके एक होनेसे वेद्य सत्य नामक ब्रह्मके एक होनेपर भी किसी स्थान विशेषमें केवल कटाक्षसे नामके अभिधानसे आध्यात्मिक और आधिदैविक नामोंकी व्यवस्था हो सकती है । परन्तु उनका उपसंहार नहीं हो सकता । जैसे लोकमें उपास्य गुरुके एक होनेपर भी खड़े हुए गुरुके लिए जो उपचार है, वह बैठे हुए गुरुके लिए युक्त नहीं है । बैठे गुरुके लिए पैर दबाना आदि जो उपचार है वह खड़े गुरुके लिए नहीं होता, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए । इससे नामोंकी व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ ११ ॥

(द्वादशे संभृत्यादीनामनुपसंहाराधिकरणे सूत्रम्)

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ।

द्वादशाधिकरणमारचयति—

आहार्या वा न वाऽन्यत्र संभृत्यादिविभूतयः ।
आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादावबारणात् ॥ २५ ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यतः ।
अनाहार्या ब्रह्ममात्रसंबन्धोऽतिप्रसञ्जकः ॥ २६ ॥

राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते—"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान" इति । अस्यायमर्थः—'यानि लोके वीर्याणि हरिहरकमलासनादिदेहेषु प्रसिद्धानि, तानि सर्वाणि ब्रह्मपुरःसराण्येव संभृतानि संभवन्ति । नहि सशक्तिकं ब्रह्मानपेक्ष्य वीर्याणि संभवन्ति । तच्च ब्रह्म ज्येष्ठं पूर्वं दिवं व्याप्यावस्थितम्' इति । अत्र—आधिदैविकस्य ब्रह्मणः संभृतिद्युव्याप्त्यादयो गुणा उपास्यत्वेनावगम्यन्ते । शाण्डिल्यादिदहरादिविद्यास्वाध्यात्मिकं हृदयान्तर्वर्ति ब्रह्मोपास्यतया श्रुतम् । तत्र ब्रह्मण एकत्वात्संभृत्यादयो गुणाः शाण्डिल्यदहरादिविद्यासूपसंहर्तव्याः ।

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—शाण्डिल्यादि अन्य विद्याओंमें संभृति आदि गुणोंका उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—संभृति आदि ब्रह्मधर्म हैं, अतः उनका शाण्डिल्यादि विद्याओंमें उपसंहार होना चाहिए ।

सिद्धान्त—शाण्डिल्यादि विद्याओंमें उन सम्भृति आदि असाधारण धर्मोंकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, अतः वे उपसंहारके योग्य नहीं हैं और ब्रह्ममात्रका सम्बन्ध अतिप्रसक्त है ।

राणायनीयोंके खिलोंमें 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या०' (ब्रह्म ही जिनका कारण है, ऐसे पराक्रम विशेष आकाशको उत्पन्न करना, निर्विघ्न समृद्ध हुए वह ज्येष्ठ ब्रह्म देवताओंकी उत्पत्तिके पूर्व स्वर्गमें व्याप्त हुआ) ऐसा पढ़ा जाता है । इसका यह अर्थ है—'लोकमें हरि-हर कमलासन ब्रह्मा आदि देहोंमें जो प्रसिद्ध वीर्य हैं, वे सब ब्रह्मके ही आधारपर निर्भर रह सकते हैं, क्योंकि शक्ति सम्पन्न ब्रह्मकी अपेक्षा किये बिना वीर्य नहीं रह सकते । वह ब्रह्म ज्येष्ठ है पूर्व द्युलोकको व्यापकर अवस्थित है' यहाँ आधिदैविक ब्रह्मके सम्भृति, द्युव्याप्ति आदि गुण उपास्यरूपसे अवगत होते हैं। शाण्डिल्यादि, दहरादि विद्याओंमें आध्यात्मिक हृदयान्तर्वर्ती ब्रह्म उपास्यरूपसे श्रुत है । यहाँ ब्रह्मके एक होनेसे सम्भृति आदि गुण शाण्डिल्य, दहर आदि विद्याओंमें उपसंहार करने चाहिए

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्संभृत्यादिगुणानामन्यतमोऽपि शाण्डिल्यादिविद्यासूपलभ्यते। अतो विद्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावाद्गुणा नोपसंहर्तव्याः। ब्रह्मैकत्वमात्रेणोपसंहृतौ न क्वाप्यनुपसंहार इति प्रसङ्गः। तस्मात्संभृत्यादेर्नोपसंहारः ॥ १२ ॥

(त्रयोदशे पुरुषविद्याया विभिन्नत्वाधिकरणे सूत्रम्)

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

पुंविद्यैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताण्डिनोः।
मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥ २७ ॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात्।
न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥ २८ ॥

अस्ति तैत्तिरीये पुरुषविद्या—'तस्यैव विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः' इति। तथा ताण्डिशाखायामपि श्रूयते—'पुरुषो वाव यज्ञः' इति। सेयमेकैव पुरुषविद्या। 'यन्मरणं तदवभृथः' 'मरणमेवावभृथः' इत्युभयत्र समानधर्मश्रवणात्। प्रातः सवनादीनां च समानत्वात्।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सम्भृति आदि गुणोंमेंसे एक भी शाण्डिल्य आदि विद्याओंमें उपलब्ध नहीं होता है। अतः विद्याके एकत्वकी प्रत्यभिज्ञा न होनेसे सम्भृति आदि गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए। ब्रह्मके एकत्व मात्रसे उपसंहार होनेपर कहींपर भी अनुपसंहार न होनेका प्रसङ्ग होगा। इससे सम्भृति आदिका उपसंहार नहीं है ॥ १२ ॥

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—तैत्तिरीयक और ताण्डी शाखामें पठित पुरुषविद्या एक है अथवा भिन्न है ?

पूर्वपक्ष—दोनोंमें मरणरूप अवभृथत्व आदि धर्म समान हैं, ऐसा ज्ञात होता है।

सिद्धान्त—रूपभेदके बाहुल्यसे किञ्चित् साम्य बाधित है, अतः विद्या एक नहीं है, तैत्तिरीयकमें तो केवल ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा है।

तैत्तिरीयमें 'तस्यैवं विदुषो॰' (उस ऐसा जाननेवालेके यज्ञका आत्मा यजमान है) ऐसी पुरुषविद्या है। इसी प्रकार ताण्डी शाखामें भी 'पुरुषो वाव यज्ञः' (पुरुष ही यज्ञ है) ऐसी श्रुति है। सो यह एक ही पुरुषविद्या है, क्योंकि 'जो मरण है वह अवभृथ (स्नान) है, 'मरण ही अवभृथ है, इस प्रकार दोनोंमें धर्मोंका श्रवण है। और प्रातः सवन आदि भी समान हैं।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वेदस्य रूपस्य सुमानत्र भेदः प्रयते। तथा हि—'विदुषो यो यज्ञस्तस्य यज्ञस्याऽऽत्मा' इति तैत्तिरीयके व्यधिकरणे षष्ठयौ। अन्यथा 'आत्मा यजमानः' इति व्याघातात्। 'विद्वानेव यज्ञः, स एव यजमानः' इति कथं न व्याहन्येत। ताण्डिना तु पुरुषयज्ञयोः सामानाधिकरण्यं श्रुतमित्येको रूपभेदः। आत्मयजमानादिकं च सर्वत्र श्रुतम्, ताण्डिना नोपलभ्यते। यत्तु ताण्डिनामुपलभ्यते त्रेधाविभक्तस्याऽऽयुषः सवनत्रयत्वमित्यादि, तन्न किंचिदपि तैत्तिरीयके पश्यामः। अतो मरणावभृथत्वाद्यल्पसाम्यबाधाद्विद्ययोर्भेद एवोचितः। अपि च न तैत्तिरीयाणामुपासनमिदम्, किं तर्हि ब्रह्मविद्याप्रशंसा 'तस्यैवं विदुषः' इति ब्रह्मविद उत्कर्षणात्। तस्मान्न विद्यैक्यशङ्काया अप्यवकाशोऽस्ति ॥ १३ ॥

(चतुर्दशे वेधाद्यधिकरणे सूत्रम्)

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु।
विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणी ॥ २६ ॥

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते—वेदरूपका अधिक भेद यहां सुना जाता है। जैसेकि 'विद्वान् जो यज्ञ, उस यज्ञका आत्मा' इस प्रकार तैत्तिरीयकमें व्यधिकरण षष्ठी है, अन्यथा 'आत्मा यजमान' इसके व्याघातसे 'विद्वान् ही यज्ञ है और वही यजमान है' ऐसा व्याघात क्यों न होगा। और ताण्डी शाखावालोंके तो पुरुष और यज्ञका सामानाधिकरण्य श्रुत है, यह एक रूपभेद है। आत्मा यजमान है इत्यादि तो सर्वत्र श्रुत है, परन्तु ताण्डीशाखावालोंके उपलब्ध नहीं है। जो ताण्डियोंके तीन प्रकारसे विभक्त आयुष्यके तीन सवन आदि उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनका किञ्चित् भी तैत्तिरीयकमें हम नहीं देखते हैं। अतएव मरणावभृथत्व आदि अल्प साम्यका बाध होनेसे विद्याका भेद मानना ही उचित है। तैत्तिरीयकोंकी भी यह उपासना नहीं है, किन्तु ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा ही है। 'तस्यैवं विदुषः' (ऐसा जाननेवाले उस विद्वान्के) इससे ब्रह्मवित्‌का केवल उत्कर्ष सूचित होता है। इसलिए यहां एक विद्याकी शङ्काका भी अवकाश नहीं है ॥ १३ ॥

चतुर्दश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वेधमंत्र प्रवर्ग्यादि विद्याके अङ्ग हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—विद्याकी संनिधिमें पाठ होनेसे मन्त्र और कर्म (वेधमन्त्र प्रवर्ग्य आदि) विद्याके अङ्ग हैं।

लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम् ।
विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥ ३० ॥

आथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" इत्यादय आभिचारिकमन्त्राः पठिताः। काण्वानामुपनिषदादौ प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठितम्। एवमन्यदप्युदाहर्तव्यम्। तत्र विद्यासंनिधिवशान्मन्त्रकर्मणोर्विद्याङ्गत्वम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—हृदयवेधादिमन्त्राणां लिङ्गादभिचारकर्मणि विनियोगः। प्रवर्ग्यस्य "पुरस्तादुपसदां प्रवृणक्ति" इत्यग्निष्टोमे विनियोगो दृश्यते। 'लिङ्गवाक्ये च संनिधेर्बलीयसी' इति पूर्वकाण्डे श्रुतिलिङ्गाधिकरणे व्यवस्थापितम्। तस्मान्न विद्याङ्गत्वं मन्त्रकर्मणोः ॥ १४ ॥

(पञ्चदशे हानिः कर्मणां ह्यन्युपायनाधिकरणे सूत्रम्) ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानव-
त्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

प्रथमवर्णकमाह—

उपायनमनाहार्यं हानायाऽऽह्रियतेऽथवा ।
अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाऽऽहृतिः ॥ ३१ ॥

सिद्धान्त—लिङ्गरूप प्रमाणसे मन्त्रोंका वाक्यप्रमाणसे कर्मोंका अन्यत्र विनियोग होनेसे संनिधि बाधित है, अतः उन दोनोंको विद्याके प्रति अङ्गत्व नहीं है ।

आथर्वणिकोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'सर्वं प्रविध्य०' (हे देव ! मेरे शत्रुके सब अङ्गोंको छिन्न-भिन्नकर विशेषतः हृदयको विदीर्ण कर) इत्यादि आभिचारिक मन्त्र पढ़े गये हैं। काण्वोंके उपनिषद्के आदिमें प्रवर्ग्य ब्राह्मण पढ़ा गया है। इस प्रकार अन्यत्र भी उदाहरण समझने चाहिए। इससे यहाँ विद्याकी संनिधिमें पाठ होनेसे मन्त्र और कर्म विद्याके अङ्ग हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—लिङ्गके बलसे हृदय वेधादि मन्त्रोंका अभिचार कर्ममें विनियोग है और प्रवर्ग्यका 'पुरस्तादुपसदां प्रवृणक्ति' इससे अग्निष्टोममें विनियोग देखा जाता है। लिङ्ग और वाक्य संनिधिसे बलवान् हैं। इस प्रकार पूर्वकाण्डमें 'श्रुतिलिङ्ग' अधिकरणमें व्यवस्था की गई है। इसलिए मन्त्र और कर्म विद्याके अङ्ग नहीं हैं ॥ १४ ॥

पञ्चदश अधिकरणकी रचना करते हैं—प्रथम वर्णक कहते हैं—

सन्देह—उपायनका उपसंहार नहीं करना चाहिए अथवा हानके लिए करना चाहिए ?

विद्याभेदेऽप्यर्थवाद ग्राह्यार्थः स्तुतिसाम्यतः।
हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥ ३२॥

शाट्यायनिनः पठन्ति—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति। अस्यायमर्थः—ज्ञानिनः पुत्रस्थानीयाः सर्वे प्राणिनस्तदीयं वित्तस्थानीयं कर्म यथायोग्यं गृह्णन्ति'। ताण्डिनस्तु पठन्ति-"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरम्" (छा० ८।१३।१) इति। तथाऽऽथर्वणिकाः पठन्ति—"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परं साम्यमुपैति" इति निरञ्जनो भाविजन्मकारणरहितः। साम्यं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। तत्र तत्त्वज्ञानिनः पापपुण्यपरित्यागप्रतिपादिकासु श्रुतिषु परित्यक्तयोः पुण्यपापयोरितरपुरुषस्वीकारो नोपसंहर्तव्यः। त्यागश्रुतिषु क्वाप्यन्यस्वीकारस्याश्रुतत्वात्। अश्रुतमप्याक्षिप्यत इति चेत्। न। अनुपपत्तेरभावात्। इतरस्वीकारमन्तेणापि ज्ञानिनां परित्याग उपपद्यत एव। किंचेतरस्वीकारवाक्यं

पूर्वपक्ष—श्रुत न होनेसे आक्षेप न होनेसे, विद्याका भेद होनेसे उपायनका उपसंहार नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्त—विद्याका भेद होनेपर भी अर्थवादमें उपायनका उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि स्तुति साम्य है और एकविंशादि अर्थवादके समान हानकी प्रत्यभिज्ञा होती है।

शाट्यायनी शाखावाले 'तस्य पुत्रा०' (मृतक ब्रह्मज्ञानीके पुत्र-शिष्य धन प्राप्त करते हैं, सुहृद पुण्यकर्म और शत्रु पापकर्म प्राप्त करते हैं) ऐसा पढते हैं। इसका यह अर्थ है—ज्ञानीके पुत्रस्थानीय सब प्राणी उसके वित्तस्थानीय कर्मोंका यथा योग्य ग्रहण करते हैं। ताण्डी शाखावाले तो 'अश्व इव रोमाणि०' (जिस प्रकार अश्व अपने रोएँ झाडकर-रोमकम्पन द्वारा श्रम और धूलि आदि दूरकर निर्मल हो जाता है, वैसे ही हार्द ब्रह्मके ज्ञानसे धर्माधर्मरूप पापको झाडकर तथा राहुके मुखसे निकले चन्द्रमाके समान अनर्थके आश्रयभूत इस शरीरका त्यागकर कृतकृत्य हो ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है) ऐसा पढते हैं। इस प्रकार आथर्वणिक—'तदा विद्वान्पुण्यपापे०' (तब विद्वान् पुण्यपापसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य निरञ्जन पुरुषके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है) यहांपर तत्त्वज्ञानी पुरुषके पुण्यपापके परित्यागकी प्रतिपादक श्रुतियोंमें परित्यक्त पुण्यपापका जो इतर पुरुष द्वारा स्वीकार है उसका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि त्यागश्रुतियोंमें अन्य स्वीकारका कहीं पर भी श्रवण नहीं है। यदि कहो कि अश्रुतका भी आक्षेप किया जाता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अनुपपत्ति नहीं है, अन्य द्वारा

सगुणविद्यायां पठितम्। त्यागवाक्यं तु निर्गुणविद्यायाम्। तस्मात्केवलायां हानौ श्रूयमाणायामुपायनं नोपसंहर्तव्यम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सत्यं विद्याभेदोऽस्ति। अत एव न वयमुपायनमनुष्ठेयधर्मतयोपसंहरामः। किन्त्वर्थवादत्वेन। यथा श्रूयमाणेन पुण्यपापपरित्यागेन ब्रह्मविद्या स्तूयते, तथेतरस्वीकारेणापि स्तोतुं शक्यत एव। नचार्थवादत्वमात्रेण हानोपायनश्रुत्योः स्वार्थे तात्पर्याभावः। मानान्तरप्रसिद्धिविरोधयोरभावेन भूतार्थवादत्वात् यत्तु हानश्रुतिषु न क्वाप्युपायनं श्रुतमित्युक्तम्। तदसत्, कौषीतकीश्रुतौ हानोपायनयोरुभयोरवगमात्—"तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्" इति। तत्तत्र. ब्रह्मलोकप्राप्तिवेलायामित्यर्थः। एवं च सति कौषीतकिश्रुतस्य हानस्याऽऽथर्वणिकताण्डिशाखयोः प्रत्यभिज्ञानात्कौषीतकीप्रोक्तस्योपायनस्योपसंहारो युक्तः। ननु अर्थवादान्तरापेक्षोऽर्थवादो न क्वचिद्दृष्टचर इति चेत्, न। सामोपासितस्तावकत्वेन श्रुतस्य 'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २।१०।५) इत्यर्थवादस्यैक-

स्वीकार न होनेपर भी ज्ञानियोंका परित्याग उपपन्न होता है। किंच इतर स्वीकार-वाक्य सगुणविद्यामें पठित है और त्यागवाक्य तो निर्गुणविद्यामें पठित है, इसलिए केवल हानके श्रूयमाण होनेपर उपायनका उपसंहार नहीं होना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह सत्य है कि विद्याका भेद है। अतएव हम उपायनका अनुष्ठेय धर्मरूपसे उपसंहार करना नहीं चाहते, किन्तु अर्थवादरूपसे जैसे श्रूयमाण पुण्यपापके परित्यागसे ब्रह्म विद्याकी स्तुति की जाती है, वैसे अन्य द्वारा स्वीकार करनेसे भी ब्रह्मविद्याकी स्तुति की जा सकती है। अर्थवाद-मात्रसे हानोपायन श्रुतिका स्वार्थमें तात्पर्याभाव नहीं है, क्योंकि अन्य प्रमाण और प्रसिद्धिके विरोधके न रहनेसे वह भूतार्थवाद है। जो यह कहा गया है कि हान श्रुतियोंमें कहींपर भी उपायन श्रुत नहीं है- वह युक्त नहीं है, क्योंकि कौषीतकी श्रुतिमें हान और उपायन दोनोंका अवगम है 'तत्सुकृतदुष्कृते०' (वहाँ सुकृत और दुष्कृतका हान करता है उसके प्रिय ज्ञातिवाले सुकृतको प्राप्त करते हैं और शत्रु पापकर्मको)। 'तत्-तत्र ब्रह्मलोककी प्राप्तिके समय' यह अर्थ है। ऐसा होने पर कौषीतकीमें श्रुत हानका आथर्वणिक और ताण्डिशाखामें प्रत्यभिज्ञा होनेसे कौषीतकीमें उक्त उपायनका उपसंहार करना युक्त है। परन्तु अन्य अर्थवादसे सापेक्ष अर्थवाद कहींपर नहीं देखा गया है। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि सामकी उपासनाका स्तावकरूपसे श्रुत 'एकविंशो वा०' (इस लोकसे वह आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है) इस अर्थवादमें एकविंशत्व निर्णय

विशदत्वनिर्णयाय तैत्तिरीयकगतसत्रप्रकरणस्यार्थवादापेक्षत्वात्। "द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः" इति हि तत्र संख्यानिर्वाह उक्तः। तस्मादर्थवादत्वेऽप्युपायनमुपसंहर्तव्यम्।

द्वितीयवर्णकमाह—

विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत्।
दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात्॥ ३३॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात्।
कर्ता न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति॥ ३४॥

'सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४) इत्यत्र विधूननशब्दस्य 'दोधूयन्ते' इत्यादाविव चालनमर्थः, नतु परित्यागः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वाक्यशेषे श्रूयमाणस्येतरस्वीकारस्य विना परित्यागमनुपपत्तेश्चालनवाचिना विधूननशब्देन परित्याग उपलक्ष्यते॥ १५॥

(षोडश उपासकानां कामत्यागव्यवस्थाधिकरणे सूत्रे)

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथाह्यन्ये॥ २७॥ छन्दत उभयाविरोधात्॥ २८॥

के लिए तैत्तिरीयक गत सत्र प्रकरणमें स्थित अर्थवादकी अपेक्षा है—'द्वादश मासा॰' (बारह वर्ष, पाँच ऋतु, तीन ये लोक और यह आदित्य इक्कीसवाँ है) इस प्रकार उस स्थलमें साङ्ख्यका निर्वाह कहा गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थवाद होनेपर भी उपायनका उपसंहार करना चाहिए।

द्वितीय वर्णक कहते हैं—

सन्देह—विधूनन शब्दका अर्थ चालन है अथवा हान-त्याग ?

पूर्वपक्ष—विधूनन शब्दका अर्थ चालन है क्योंकि 'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' (ध्वजाके अग्रभागको चालन करते हैं। इत्यादिस्थलमें हान शब्दार्थ चालन देखा जाता है।

सिद्धान्त—विधूनन शब्दका अर्थ हान है, क्योंकि वाक्यशेषमें अन्य उपायनका श्रवण है जबतक कर्ता परित्याग न करे तबतक अन्य स्वीकार नहीं कर सकता है।

'सुकृतदुष्कृते विधूनने॰' यहाँपर विधूनन शब्दका 'दोधूयन्ते' इत्यादिके समान चालन अर्थ है, परित्याग नहीं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वाक्यशेषमें श्रूयमाण हानका स्वीकार परित्यागके बिना नहीं हो सकता है। अतः यहाँ चालनवाची विधूनन शब्दसे परित्याग ही उपलक्षित होता है॥१५॥

षोडश अधिकरणकी रचना करते हैं—

षोडशाधिकरणमारचयति—

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा।
उत्तीर्य विरजां त्यागस्तथा कौषीतकीश्रुतेः॥ ३५॥
कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात्।
ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो बाध्यः कौषीतकीक्रमः॥ ३६॥

पूर्वाधिकरणोक्तः सुकृतदुष्कृतपरित्यागो ब्रह्मलोकमार्गस्य मध्ये भवितुमर्हति। तल्लोकसमीपवर्तिनद्युत्तरणानन्तरं तच्छ्रवणात्। 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते'.(कौ० १।४) इति। तस्मान्मार्गमध्ये परित्यागः।

इति प्राप्ते ब्रूमः-ब्रह्मलोकमार्गमध्ये ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तस्य सुकृतदुष्कृताभ्यां प्राप्तव्यफलस्याभावात्तयोर्नदीपर्यन्तनयनं निरर्थकम्। किंच मरणात्प्राक्परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोर्मार्गमध्ये परित्यागस्य साधनं न संभवति। देहराहित्ये साधनस्यानुष्ठातुमशक्यत्वात्। न च मरणात्पुरा तत्त्यागे प्रमाणाभावः। 'अश्व

सन्देह—ब्रह्मलोकमें जाते समय मार्गमें कर्मका त्याग होता है अथवा मरणसे पहले?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मलोकमें जाते विरजा नदीको पारकर मार्गके मध्यमें कर्मका त्याग होता है, क्योंकि ऐसा कहनेवाली कौषीतकी श्रुति है।

सिद्धान्त—कर्मसे प्राप्य फलका अभाव होनेसे और मार्गके मध्यमें साधनके न होनेसे मरणसे पूर्व ही कर्मका त्याग होता है। क्योंकि कौषीतकी श्रुत्युक्त क्रम ताण्डिश्रुतिसे बाध्य है।

पूर्व अधिकरणमें उक्त सुकृत-दुष्कृतका परित्याग ब्रह्मलोक मार्गके मध्यमें होना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मलोकके समीपवर्ती नदीके पार करनेपर ही कर्मत्यागका श्रवण है— 'स आगच्छति०' (वह विरजा नदीको आता है उस नदीको मनसे ही पार करता है और उससे वहां सुकृत, दुष्कृतका परित्याग करता है) इससे प्रतीत होता है कि मार्गके बीचमें ही कर्मका त्याग करता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं— ब्रह्मलोकके मार्गके बीचमें ब्रह्मप्राप्तिसे अतिरिक्त सुकृत और दुष्कृत कर्मसे प्राप्तव्य फलका अभाव होनेसे कर्मोंका नदी पर्यन्त नयन निरर्थक है। किञ्च मरणके पूर्वमें परित्यक्त सुकृत और दुष्कृतका मार्गके मध्यमें परित्याग करनेमें कोई साधन नहीं हो सकता। क्योंकि देहके बिना साधनका अनुष्ठान नहीं हो सकता। मरणके पहले कर्मके परित्यागमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा

इव रोमाणि' (छा० ८।१३।१) इति ताण्डिश्रुतौ तदवगमात् । तथा च श्रुत्या 'नदीमुत्तीर्य परित्या :' इत्ययं कौपीतकीप्रोक्तः क्रमो बाधनीयः । तस्मान्मरणात्प्रागेवोपास्ये साक्षात्कृते तयोः परित्यागः ॥ १६ ॥

(सप्तदश उपासनया ब्रह्मलोकगन्तृणामेव मार्गव्यवस्थाधिकरणे सूत्रे)

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

सप्तदशाधिकरणमारचयति—

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः ।
सम एवोत्तरो मार्गः एतयोः कर्महानवत् ॥ ३७ ॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु ।
आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥ ३८ ॥

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे वक्ष्यमाणोऽर्चिरादिमार्गः सगुणब्रह्मोपासकस्य निर्गुणब्रह्मतत्त्वविदश्च समान एव । सुकृतदुष्कृतकर्महानवत्समानत्वसंभवात् । इति प्राप्ते ब्रूमः—उपास्तिप्राप्यस्य ब्रह्मलोकफलस्य देशान्तरवर्तित्वाद्युक्त-

---

नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अश्व इव रोमाणि' इस ताण्डिश्रुतिसे कर्मत्याग अवगत होता है। इसी प्रकार श्रुतिसे 'नदीमुत्तीर्य परित्यागा०' (नदीको पारकर कर्मोंका परित्याग होता है) यह कौशीतकीमें उक्तक्रम बाध्य है अर्थात् कौषीतकीका सामान्य वर्णन क्रमवर्णनका साधक नहीं है। इसलिए मरणसे पूर्व ही उपास्यके साक्षात्कार होने पर सुकृत और दुष्कृतका परित्याग होता है ॥१६॥

सप्तदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपासना और तत्त्वज्ञानका अर्चिरादि मार्ग समान ही है अथवा पृथक् ?

पूर्वपक्ष—सुकृत और दुष्कृत कर्मोंके त्यागके समान इन दोनोंका अर्चिरादि मार्ग समान ही है।

सिद्धान्त—उपासनाओंमें देशान्तर रूप फल प्राप्तिके लिए मार्गकी कल्पना युक्त है, ज्ञानका फल तो रोग निवृत्तिके समान अविद्याकी निवृत्ति ही है, इससे मार्ग व्यवस्थित है।

छान्दोग्यके चतुर्थ अध्यायके तृतीयपादमें वक्ष्यमाण अर्चिरादिमार्ग सगुण ब्रह्म उपासक और निर्गुण ब्रह्मतत्त्ववित्के लिये समान ही है, क्योंकि सुकृत और दुष्कृत कर्मके त्यागकी भाँति दोनोंमें समानता संभव है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर हम कहते हैं—उपासनासे प्राप्य ब्रह्मलोक रूप

स्तत्र मार्गः ।- यद्यज्ञानफलं तु रोगनिवृत्तिवदविद्यानिवृत्तिमात्रमिति किं तत्र मार्गेण करणीयं स्यात् । तस्मात्—उपासकस्यैव, न तु ज्ञानिन इति व्यवस्थितो मार्गः ॥ १७ ॥

(अष्टादशे सर्वास्वेवोपासनासु मार्गकल्पनाधिकरणे सूत्रम्)

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

अष्टादशाधिकरणमारचयति—

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् ।
श्रुतेष्वेव प्रकरणाद्द्विःपाठोऽस्य वृथाऽन्यथा ॥ ३६ ॥
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः ।
तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुपकोशलविद्यायां चोत्तरमार्गः पठितः । शाण्डिल्यवैश्वानरादिविद्यासु न पठितः । तथा च प्रकरणवशाद्यासु विद्यासु श्रुतस्तास्वेव मार्गो व्यवतिष्ठते, न त्वन्यत्रोपसंहर्तव्यः । उपसंहारे च सकृत्पठितस्यैव सर्वत्रोपसंहर्तुं शक्यतया विद्याद्वये पाठो निरर्थकः स्यात् । तस्माद् श्रुतस्थलेष्वेव मार्गः ।

देशान्तरवर्ती है, अतः वहांपर मार्ग होना युक्त है । किन्तु यदि ज्ञानका फल तो रोगकी निवृत्तिके समान केवल अविद्याकी निवृत्तिमात्र है, इसलिए वहांपर मार्गका क्या प्रयोजन है, अतएव अर्चिरादि मार्ग उपासकके लिए है ज्ञानीके लिए नहीं, इस प्रकार मार्गकी व्यवस्था है ॥ १७ ॥

अष्टादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—श्रुति प्राप्त जिन विद्याओंमें अर्चिरादि मार्ग श्रुत है, उन्हीं सगुण उपासनाओंमें अर्चिरादि मार्ग व्यवस्थित है अथवा सब उपासनाओंमें ?

पूर्वपक्ष—प्रकरणसे जिन उपासनाओंमें अर्चिरादि मार्ग श्रुत है उन्हींमें उसकी व्यवस्था है । यदि सब उपासनाओंमें उसकी व्यवस्था हो तो दो विद्याओंमें उसका कथन व्यर्थ हो जायगा ।

सिद्धान्त—'ये चेमे' इस वाक्यसे अन्य विद्यामें अर्चिरादि मार्ग कहा गया है, इससे प्रकरण बाध्य है, दो वार पाठ तो उपास्य मार्गके चिन्तनके लिए है ।

छान्दोग्यमें पञ्चाग्नि विद्या और उपकोशलविद्यामें उत्तर मार्ग अर्चिरादि मार्ग पठित है, शाण्डिल्य, वैश्वानर आदि विद्याओंमें पठित नहीं है । प्रकरणवश जिन उपासनाओंमें अर्चिरादि मार्ग श्रुत है उन्हीं उपासनाओंमें ही मार्ग व्यवस्थित है, उसका अन्य उपासनाओंमें उपसंहार नहीं होना चाहिए । यदि उपसंहार मानें तो एक बार पठितका

इति प्राप्ते ब्रूमः—पञ्चाग्निविद्यावाक्यशेषे पञ्चाग्न्युपासकानामुत्तरमार्गं ब्रुवती श्रुतिर्विद्यान्तरशालिनां च मुरात एवाचिरादिमार्गमुदाजहार—'तद्य इत्थं विदुः, *ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' (छा०५।१०।१) इति। अस्यायमर्थः—'य उपासका इत्थं पञ्चाग्नीनुपासते, ये चारण्ये श्रद्धा तप इत्येवमादिधर्मयुक्ताः सन्तोऽप्युपासनान्तरेषु प्रवर्तन्ते, ते सर्वेऽप्यर्चिरादिमार्गं प्राप्नुवन्ति' इति। ततश्च मार्गप्रतिपादकवाक्येन प्रकरणं बाधितव्यम्। न च द्विःपाठवैयर्थ्यं, उपास्यगुणचिन्तनार्थत्वोपपत्तेः। तस्मात्सर्वोपास्तिपूत्तरो मार्गोऽवगन्तव्यः ॥ १८ ॥

(एकोनविंशे तत्त्वज्ञानिनां मुक्तिर्नैयत्याधिकरणे सूत्रम्)

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

एकोनविंशाधिकरणमारचयति—

ब्रह्मतत्त्वविदो मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा।
पाक्षिक्यपान्तरतमः प्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥ ४१ ॥

ही सर्वत्र उपसंहार किया जा सकता है तो दो विद्याओंमें उसका पाठ निरर्थक हो जायगा। इसलिये श्रुत स्थलोंमें ही अर्चिरादि मार्ग व्यवस्थित है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पञ्चाग्नि विद्याके वाक्यशेषमें पञ्चाग्निके उपासकोंके लिये अर्चिरादि मार्गको कहती हुई श्रुति 'तद्य इत्थं विदुः०' (यहाँ इस लोकके प्रति उपस्थित हुए अधिकारी गृहस्थोंमें जो इस प्रकार पञ्चाग्निको जानते हैं) 'ये चेमेऽरण्ये०' (और जो अरण्यसे उपलक्षित वैखानस और परिव्राजक त्रिदण्डी श्रद्धा और तपसे उपलक्षित ब्रह्मका ध्यान करते हैं, वे अर्चि मार्गको प्राप्त करते हैं) इस तरह अन्य विद्यावालोंके लिए मुखसे अर्चिरादि मार्गका प्रतिपादन करती है। इसका यह अर्थ है—जो उपासक इस प्रकार पञ्चाग्निकी उपासना करते हैं और जो अरण्यमें श्रद्धा, तप इत्यादि धर्मोंसे युक्त होते हुए भी अन्य उपासनाओंमें प्रवृत्त होते हैं, वे सभी अर्चिरादि मार्गको प्राप्त होते हैं। इससे मार्ग प्रतिपादक वाक्यसे प्रकरणका बाध होना चाहिए। दो बार पाठ भी व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उपास्य गुण अथवा मार्गके चिन्तनके लिए उसकी उपपत्ति है। इसलिये सभी सगुण उपासनाओंमें अर्चिरादि मार्ग जानना चाहिए ॥ १८ ॥

एकोनविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मतत्त्व ज्ञानियोंकी मुक्ति पक्षकी-अनियत है अथवा नियत है ?

---

* अत पञ्चाग्निविदो गृहस्थाः, ये चेमेऽरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः श्रद्धा तप इत्येवमाद्युपासते। श्रद्धानाः तपस्विनश्चेत्यर्थः।

नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः।
मुक्त्वाऽधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः॥ ५२॥

पुराणेषु अपान्तरतमा नाम वेदप्रवर्तक आचार्यो विष्णोराज्ञया द्वापरान्ते कृष्णद्वैपायनरूपेण शरीरान्तरं जग्राहेति स्मर्यते। तथा सनत्कुमारः स्कन्दरूपेण पार्वतीपरमेश्वराभ्यामजायत। एवमन्येऽपि वसिष्ठादयस्तत्त्वज्ञानिन एव सन्तस्तत्र तत्र शापद्वारा स्वेच्छया वा शरीरान्तराणि जगृहुरिति स्मरणान्मुक्तिरतत्त्वविदां पाक्षिकी।

इति प्राप्ते ब्रूमः—य एते त्वयोदाहृताः पुरुषास्ते सर्वे जगन्निर्वाहकारिणः। ते च पूर्वस्मिन्कल्पे महता तपसा परमेश्वरमुपास्यास्मिन्कल्पे नानादेहोपभोग्यमधिकारिपदं भेजिरे। क्षीणे प्रारब्धे कर्मणि मोक्ष्यन्ते। तथाऽनारब्धकर्मणां तत्त्वज्ञानेन दाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात्तत्त्वविदां मुक्तिर्नियतैव॥ १६॥

(विशे नियमोपसंहाराधिकरणे सूत्रम्)

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्॥ ३३॥

पूर्वपक्ष—ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओंकी मुक्ति अनियत ही है, क्योंकि अपान्तरतमा आदिका जन्म कहा गया है।

सिद्धान्त—ईश्वरोपासना जन्य अनेक शरीरोंसे भोक्तव्य फलके उपभोगके अनन्तर तत्त्वज्ञानी अधिकारी पुरुष मुक्त होते हैं, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत है।

पुराणोंमें अपान्तरतमा नामवाले वेद प्रवर्तक आचार्यने द्वापरके अन्तमें भगवान् विष्णुकी आज्ञासे कृष्णद्वैपायनके रूपसे अन्य शरीरको ग्रहण किया, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार सनत्कुमार स्कन्दरूपसे पार्वती और महेश्वरसे उत्पन्न हुए। एवं अन्य वसिष्ठ आदि तत्त्वज्ञानी होते हुये भी शापवश अथवा स्वेच्छासे तत्र तत्र अन्य शरीर ग्रहण किये, ऐसा भी सुना जाता है। इससे तत्त्वविदोंकी मुक्ति अनियत है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जो तुमने इतने पुरुषोंका उदाहरण दिया है वे सब जगत्के निर्वाह करनेवाले हैं। वे पूर्वकल्पमें महान् तपसे परमेश्वरकी उपासनाकर इस कल्पमें अनेक देहोंसे उपभोग्य अधिकारी पदको भोग रहे हैं। अन्तमें प्रारब्धकर्मके क्षीण होनेपर मोक्षको प्राप्त करते हैं। तत्त्वज्ञानसे अनारब्धकर्मोंका दाह निवृत्त नहीं किया जा सकता, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत ही है॥१६॥

१. 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति' (छा० ६।१४।२) 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्। (बृह० १।४।१०) इत्यादि श्रुति, स्मृति प्रमाण हैं।

निषेधाधिकरणमारचयति—

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः।
आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥ ४३ ॥
श्रुतानामाहृतानां च निषेधानां समा यतः।
आत्मलक्षणता तस्माद्दार्ढ्यायास्तूपसंहृतिः ॥ ४४ ॥

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृह० ३।८।८) इत्यादिना ब्रह्मावबोधनाय गार्गीब्राह्मणे केचिन्निषेधाः श्रुताः। तथा च कठवल्लीषु-'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (३।१५) इति। एवमन्यत्राप्युदाहर्तव्यम्। तत्र निषेधानां परस्परमुपसंहारो नास्ति। आनन्दसत्यत्वादिधर्मवदात्मस्वरूपत्वाभावेनोपसंहारे प्रयोजनाभावात्। इति प्राप्ते ब्रूमः—यथा स्वशाखायां श्रूयमाणानां निषेधानामात्मस्वरूपत्वाभावेऽप्यात्मोपलक्षकत्वम्, तथा-शाखान्तरेभ्य उपसंहृतानां निषेधानामपि तत्समानम्। न च स्वशाखोक्तनिषेधैरेवोपलक्षणसिद्धावितरोपसंहारवैयर्थ्यम्। इतरोपसंहारस्य दार्ढ्यार्थत्वात्। अन्यथा स्वशाखायामपि द्वित्रप्रतिषेधमात्रेण तत्सिद्धावितरवैयर्थ्यं प्रसज्येत। तस्मान्निषेधा उपसंहर्तव्याः ॥ २० ॥

सन्देह—'अस्थूलम०' इत्यादि निषेधोंका उपसंहार होता है अथवा उपसंहार नहीं होता ?

पूर्वपक्ष—उपसंहार नहीं होता, क्योंकि आनन्दादिके समान इनमें आत्मत्व संभव नहीं है।

सिद्धान्त—जैसे स्वशाखामें श्रुत निषेध आत्मस्वरूप होते हुए भी आत्माके लक्षक हैं, वैसे ही अन्य शाखामें उपसंहृत निषेध भी उनके समान लक्षक हैं। इसलिए दृढ़ताके लिए उनका उपसंहार होना चाहिए।

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्०' (न स्थूल न अणु और न ह्रस्व है) इत्यादिसे ब्रह्मके अवबोधके लिए गार्गीब्राह्मणमें कुछ निषेध सुने जाते हैं। इस प्रकार 'अशब्दम०' (शब्द रहित स्पर्शरहित रूपरहित अव्यय है) इत्यादिसे कठवल्लीमें सुने जाते हैं। इस प्रकार अन्यत्र भी उदाहरण समझने चाहिए। परन्तु यहाँ निषेधोंका परस्पर उपसंहार नहीं होता है, क्योंकि आनन्द, सत्यत्व आदि धर्मोंके समान आत्मस्वरूप न होनेसे उनके उपसंहार होनेमें कोई प्रयोजन नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जैसे अपनी शाखामें श्रूयमाण निषेध आत्मस्वरूप नहीं है, तो भी आत्माके उपलक्षक हैं, वैसे ही अन्यशाखामें उपसंहृत निषेध भी उनके समान ही उपलक्षक हैं। स्वशाखाओंमें उक्त निषेधोंसे ही उपलक्षणकी सिद्धि होनेपर इतरोंका उपसंहार निष्प्रयोजन है, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि इतरोंका उपसंहार दृढ़ताके लिए है। अन्यथा स्वशाखामें भी दो तीन निषेध

(एकविंशे मन्त्रद्वयस्य विद्यैक्यताधिकरणे सूत्रम्)

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

एकविंशाधिकरणमारचयति—

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता।
भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावित्ति विद्ये उभे इमे ॥ ४५ ॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये।
इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥ ४६ ॥

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" इत्यस्मिन्मन्त्रे द्विवचनेन द्वयोर्भोक्तृत्वं प्रतीयते। 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्मिन्मन्त्रे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्येकस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वम्। इतरस्य तु 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यभोक्तृत्वम्। ततो वेद्यस्वरूपभेदाद्विद्याभेदः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे तृतीयाधिकरणे—'पिबन्तौ' इति शब्दस्य जीवब्रह्मपरत्वेन भोक्त्रभोक्तारावर्थं इत्युक्तम्। अतो न वेद्यभेदः। द्वित्वसंख्या चोभयत्र प्रत्यभिज्ञायते। तस्मादेका विद्या ॥ २१ ॥

मानसे कार्यसिद्धि होनेपर मन्त्रोंका वैयर्थ्य प्रसक्त होगा। इससे निषेधोंका उपसंहार करना चाहिए ॥ २० ॥

एकविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'ऋतं पिबन्तौ' 'द्वा सुपर्णा' इस प्रकार दो विद्याएं प्रतीत होती हैं अथवा एक ?

पूर्वपक्ष—एक श्रुतिमें दो भोक्ताओंकी दूसरी श्रुतिमें एक भोक्ता और एक अभोक्ताकी प्रतीतिसे ये दो विद्याएं हैं।

सिद्धान्त—समन्वयमें 'पिबन्तौ' इस शब्दका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता किया गया है। भोक्ताका दोनोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है, इसलिए दोनों मन्त्रोंमें एक ही विद्या है।

'ऋतं पिबन्तौ०' (ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म स्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण दो-तत्त्व हैं) इस मन्त्रमें द्विवचनसे दोनोंमें भोक्तृत्व प्रतीत होता है। 'द्वा सुपर्णा०' (दो सुन्दर पंखवाले) इस मन्त्रमें 'तयोरन्यः०' (उनमेंसे एक तो क्षेत्रज्ञ स्वादिष्ट कर्मफल भोगता है) एकमें ही कर्मफल भोक्तृत्व और अन्यमें 'अनश्नन्नन्यो०' (दूसरा कर्मफल न भोगकर केवल साक्षीरूपसे देखता रहता है) इस प्रकार अभोक्तृत्व प्रतीत होता है। इससे वेद्यस्वरूपके भेदसे विद्याका भी भेद है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्मसूत्रके प्रथमाध्यायके द्वितीयपादके तृतीय अधिकरणमें 'पिबन्तौ' इस शब्दको जीव और ब्रह्मपरक मानकर

(द्वाविंश उपस्तकहोलयोर्विद्यैक्याधिकरणे सूत्रे)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥ अन्यथा भेदानु-
पपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

द्वाविंशाधिकरणमारचयति—

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुपस्तकहोलयोः ।
समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥ ४७ ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः ।
शङ्काविशेषनुत्यै द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥ ४८ ॥

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येकस्यां शाखायामेवोपस्तब्राह्मणे कहोलब्राह्मणे च पठितम् । 'अपरोक्षात्' इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययेन 'अपरोक्षम्' इत्यर्थः । तयोरुभयोर्ब्राह्मणयोरन्यूनानतिरिक्ततया पठितस्य वाक्यस्य पौनरुक्त्यपरिहाराय विद्याभेदः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्वयोरपि ब्राह्मणयोः सर्वान्तरत्वं प्रतिपाद्यते । तच्चैकस्मिन्नेव वस्तुनि संभवति । द्वयोस्तु वस्तुनोरेकतरस्य बहिर्भावोऽवश्यंभावी । तस्मात्सर्वान्तरस्य वेद्यस्यैकत्वान्न विद्याभेदः । न च पुनरुक्तिः । यथा शाखान्तरे

उसका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता, ऐसा किया गया है, अतएव वेद्यका भेद नहीं है । इयत्ता-द्वित्वसंख्या तो दोनों स्थलोंमें प्रत्यभिज्ञात होती है । इसलिए एक ही विद्या है ।२१।

द्वाविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपस्त और कहोल ब्राह्मणोंमें विद्याका भेद है अथवा विद्या एक है ?

पूर्वपक्ष—समान वस्तुके दो बार कथनसे विद्याका भेद प्रतीत होता है ।

सिद्धान्त – दोनों ब्राह्मणोंमें सर्वान्तरत्वके होनेसे एक विद्या है । शङ्का विशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके समान दो बार पाठ है । अतः पुनरुक्ति नहीं है ।

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म०' (जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है) इस प्रकार एक ही शाखामें उपस्त और कहोल ब्राह्मणोंमें पठित है । 'अपरोक्षात्' इसमें विभक्तिके व्यत्याससे 'अपरोक्ष' ऐसा अर्थ है । उन दोनों ब्राह्मणोंमें न न्यून न अधिक समानरूपसे पठित वाक्यकी पुनरुक्तिके परिहारके लिए विद्याभेद मानना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—दोनों ब्राह्मणोंमें भी सर्वान्तरत्वका प्रतिपादन है । वह एक ही वस्तुमें हो सकता है । दो वस्तुओंमें एकका बहिर्भाव अवश्यंभावी है । इसमें सर्वान्तर वेद्यके एक होनेसे विद्याके भेद नहीं है ।

तद्विशेषशङ्कापनुत्त्यर्थम् "तत्त्वमसि" इति नवकृत्व उपन्यस्तम्, तथाऽत्राप्युपपत्तेः। उषस्तब्राह्मणेन देहाद्यात्मत्वशङ्काशोधने। कहोलब्राह्मणेन देहादिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मत्वमापाद्यते। वाक्यशेषयोस्तथादर्शनात्। तस्मात्—एका विद्या ॥ २२ ॥

(श्रयोविंशे देहादित्यमण्डलवर्त्युपासनायां विद्याभेदाधिकरणे सूत्रम्)

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

त्रयोविंशाधिकरणमारचयति—

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा ।
वस्त्वैक्यादेकधैवास्य दार्ढ्याय व्यतिहारगीः ॥ ४९ ॥
ऐक्येऽपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वेधेशस्य जीवता ।
युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यं मायिकम् ॥ ५० ॥

ऐतरेयके पठ्यते—"त्वद्वा अहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति। अस्यायमर्थः—'य एव देहेन्द्रियसाक्षी जीवात्मा स एवाऽऽदित्यमण्डलवर्ती परमात्मा। यो

पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि जैसे छान्दोग्यमें उस शङ्का विशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार उपन्यास किया गया है, वैसे यहां भी उपपन्न हो सकता है। उपस्तब्राह्मणमें देह आदिमें आत्मत्वकी शङ्का निवृत्त की जाती है और कहोलब्राह्मणमें देह आदिसे व्यतिरिक्त वस्तुमें ब्रह्मत्वका आपादन किया जाता है, क्योंकि वाक्यशेषोंमें ऐसा ही देखा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि विद्या एक ही है ॥ २२ ॥

त्रयोविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—स्वदेह और रविमण्डलमें अन्योऽन्य व्यतिहारमें एक प्रकारकी बुद्धि-उपासना है अथवा दो प्रकार की ?

पूर्वपक्ष—वस्तु एक होनेसे एक प्रकारकी ही बुद्धि होनी चाहिए, व्यतिहार कथन तो वस्तुकी दृढताके लिए है।

सिद्धान्त—ऐक्य होनेपर भी व्यतिहार उक्तिसे दो प्रकारकी बुद्धि होनी चाहिए और ईश्वरमें जीवत्वका प्रतिपादन उपासनाके लिए युक्त है। वाचनिकी मूर्तिके समान दृढता तो मायिक हो सकती है।

ऐतरेयकमें—'त्वद्वा अहं सोऽसौ०' (जो मैं हूँ वही आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है और जो वह है वह मैं हूँ) ऐसा पठित है। इसका यह अर्थ है—'जो यह देह, इन्द्रियका साक्षी जीवात्मा है, वही आदित्य-मण्डलवर्ती परमात्मा है, जो आदित्यमण्डलवर्ती है

मण्डलवर्ती स एवास्मद्देहादिवर्ती' इति। तत्र स्वदेहरविमण्डलयोरन्योन्यव्यतिहारे श्रूयमाणेऽपि जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य वस्तुन एकत्वादेकधैव बुद्धिः कर्तव्या। न च व्यतिहारपाठवैयर्थ्यम्। एकस्यापि वस्तुनो दार्ढ्याय तदुपपत्तेः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न खल्विदं तत्त्वावबोधप्रकरणम्। येनैकत्वप्रतिपत्तिदार्ढ्यमपेक्षते। किं तर्हि सगुणोपास्तिप्रकरणम्। उपास्तिश्च यथावचनमनुष्ठेया। ततो व्यतिहारेण द्वेधा बुद्धिः कर्तव्या। नन्वेवं सति जीवस्य ब्रह्मैक्यमुत्कर्षाय कल्पते, ब्रह्मणस्तु जीवैक्यमपकर्षाय स्यादिति चेत्। नायं दोषः। यथा देहादिरहितस्याप्युपासकचित्तस्थैर्यार्थं चतुर्भुजाष्टभुजादिमूर्त्युपदेशेऽपि नापकर्षस्तथा वचनबलादीशस्य जीवत्वोपासनेन तव का हानिः। यद्युपासनाय व्यतिहारेऽनुष्ठीयमानेऽर्थाज्जीवब्रह्मणोरेकत्वप्रतिपत्तिर्दृढा भवेत्तर्हि चरितार्थाः संपद्यामहे। तस्मात्—व्यतिहारेण द्विधा बुद्धिः कर्तव्या ॥ २३ ॥

(चतुर्विंशे सत्यविद्याधिकरणे सूत्रम्)

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

चतुर्विंशाधिकरणमारचयति—

वही हमारे देहादिमें रहनेवाला है।' यहांपर अपने देह और रविमण्डलका अन्योऽन्य व्यतिहार श्रूयमाण होनेपर भी जीवब्रह्मैक्यरूप वस्तुके एक होनेसे एक प्रकारकी बुद्धि-उपासना करनी चाहिए। व्यतिहार पाठ व्यर्थ नहीं है, क्योंकि एक वस्तुकी दृढताके लिए भी उपपन्न हो सकता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह प्रकरण तत्त्वके अवबोधके लिए नहीं है। जिससे कि एकत्व प्रतिपत्तिकी दृढताके लिए अपेक्षित हो, किन्तु यह सगुण उपसनाका प्रकरण है। उपासना तो वचन-श्रुतिके अनुसार अनुष्ठेय है। इसलिए व्यतिहारके द्वारा दो प्रकारकी उपासना करनी चाहिए। परन्तु ऐसा होनेपर जीवका ब्रह्मैक्य तो उत्कर्षके लिए हो सकता है किन्तु ब्रह्मका जीवैक्य तो अपकर्षके लिए होगा, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि उपासकके मनकी स्थिरताके लिए देहादि रहित ब्रह्मका भी चतुर्भुज, अष्टभुज आदि मूर्तिरूपसे उपदेश होनेपर भी अपकर्ष नहीं है, वैसे ही श्रुति बलसे ईश्वरको जीवरूप उपासनासे तुम्हारी कौनो सी हानि है? उपासनाके लिए अनुष्ठीयमान व्यतिहारमें यदि अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकत्व-प्रतिपत्ति दृढ हो जाय तो हम कृतकृत्य हो जायगे। इसलिए व्यतिहारसे दो प्रकारकी उपासना करनी चाहिए ॥ २३ ॥

चतुर्विंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

द्वे सत्यविद्ये एका वा महदक्ष्यादिवाक्ययोः ।
फलभेदादुभे लोकजयपापक्षये पृथक् ॥ ५१ ॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽर्थवादतः ।
अर्थवादोऽथवा मुख्यो मुक्तोऽपि स्वाधिकारतः ॥ ५२ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते—"स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, जयतीमाँल्लोकान्" इति । यक्षं पूज्यम् । प्रथमजं हिरण्यगर्भरूपेण प्रथममुत्पन्नमित्यर्थः । अनेन वाक्येन सत्यविद्यां प्रतिपाद्य पश्चादिदं प्रतिपाद्यते—'तद्यत्तत्सत्यम् । असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' इति । तत्तत्रेत्यर्थः । एवं वाक्यद्वयोक्ते सत्यविद्ये द्वे भवतः । कुतः । फलभेदात् । महद्वाक्ये लोकजयः फलमुक्तम् । रविवाक्ये च "हन्ति पाप्मानं जहाति च" इति पापघातलक्षणं पृथक् फलं श्रूयते । तस्मात्—विद्याभेदः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्या । "तद्यत्तत्सत्यम्" इति प्रकृतं सत्यं ब्रह्मानूद्य "असौ स आदित्यः" इति रविरूपत्ववर्णनात् । न चात्र फलभेदोऽस्ति ।

सन्देह—यक्ष और रवि आदि वाक्योंसे दो सत्यविद्याएँ प्रतीत होती हैं अथवा एक?

पूर्वपक्ष—लोक जय और पापनाशरूप फल भेदसे दो वाक्योंसे दो विद्याएँ समझनी चाहिए ।

सिद्धान्त—एक ही विद्या है, क्योंकि प्रकृतका आकर्षण है, रविरूपका वर्णन है, पापघात तो उपासनाका फल होनेसे अर्थवादमात्र है । अथवा अधिकारीका स्तवन होनेसे मुख्य उपासना विधि है ।

बृहदारण्यकमें—'स यो०' (जो कोई अधिकारी इस महत्, पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए सत्य ब्रह्मको इस प्रकार जानता है वह इन लोकोंको जय करता है) ऐसा सुना जाता है । 'यक्ष-पूज्य, प्रथमज हिरण्यगर्भरूपसे प्रथम उत्पन्न' ऐसा अर्थ है । इस वाक्यसे सत्यविद्याका प्रतिपादनकर अनन्तर 'तद्यत्तत्सत्यम्०' (वहाँ जो वह सत्य है [redacted] यह आदित्य है जो यह इस मण्डलमें पुरुष है जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है) यह प्रतिपादन किया जाता है । 'तत्-तत्र-उसमें' यह अर्थ है । इस प्रकार दो वाक्योंसे उक्त सत्यविद्याएँ दो हैं । क्योंकि फलका भेद है । यक्षवाक्यमें लोकजय फल कहा गया है और रविवाक्यमें 'हन्ति पाप्मानं जहाति०' (वह पापका नाश करता है) इस प्रकार पापनाशरूप पृथक् फल सुना जाता है । इससे विद्याका भेद है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह सत्यविद्या एक ही है । 'तद्यत्तत्सत्यम्' इससे प्रकृत सत्य ब्रह्मका अनुवादकर 'असौ स आदित्यः' इससे रविरूपत्वका वर्णन किया है । यहाँपर फलका भेद नहीं है, क्योंकि पापनाश उपासनाका फल

पापघातस्योपास्तिफलत्वेनार्थवादत्वात् । 'अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः' इतिन्यायेनाविवक्षितत्वात् । अथवाऽत्रोपासनायामधिकार्यश्रवणाच्छ्रूयमाणफलस्यैव कामोपबन्धमध्याहृत्याधिकारिणि कल्पयितव्ये सति 'पापघातलोकजयकाम उपासीत' इयि वक्तुं शक्यत्वाद्विशिष्टफलस्य विवक्षितत्वम् । तस्मादेकैवेयं सत्यविद्या ॥ २४ ॥

(पञ्चविंशे दहरहार्दाकाशयोरुपसंहाराधिकरणे सूत्रम्)

कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पञ्चविंशाधिकरणमारचयति—

प्रसंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः ।
उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ ५३ ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः ।
दहराकाश आत्मेव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥ ५४ ॥

छान्दोग्ये "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इति हृदयान्तर्गतत्वेन श्रुतस्य दहराकाशस्य सत्यकामत्वादयो गुणा उक्ताः । बृहदारण्यके तु—"य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्युक्तस्य हार्दाकाशस्य वशित्वादयो गुणा उक्ताः । तत्र न परस्परगुणोपसंहारः । दहराकाशस्योपास्यत्वेन, हार्दाकाशस्य ज्ञेयत्वेन विद्याभेदात् ।

है, अतः अर्थवाद है । 'अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः' (अङ्गोंमें फलश्रुति अर्थवाद है) इस न्यायसे वह अविवक्षित है । अथवा इस उपासनामें अधिकारीका श्रवण नहीं है, अतः श्रूयमाण फलके ही 'कामोपबन्धका-इच्छाविषयत्वका अध्याहार कर अधिकारीकी कल्पना होनेपर 'पापनाश और लोकजयकी कामनावाला उपासना करे' इस प्रकार कह सकनेसे विशिष्ट फल विवक्षित है । इसलिए एक ही यह सत्यविद्या है ॥ २४ ॥

पंचविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सत्यकामत्व, वशित्व आदि गुण जो दहराकाश और हृदयाकाशके हैं, उनका परस्पर उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—उपास्य और ज्ञेयके भिन्न होनेसे उन गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता ।

सिद्धान्त—कहीं पर उपसनाके लिए और अन्यत्र स्तुतिके लिए उपसंहार होगा ही, दहराकाश आत्मा ही है और हृदयाकाश भी अन्य नहीं है अर्थात् आत्मा ही है ।

छान्दोग्यमें 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः०' (इस हृदयमें जो सूक्ष्म आकाशाख्य ब्रह्म है) इस प्रकार हृदयान्तर्गतरूपसे श्रुत दहराकाशके सत्यकामत्व आदि गुण कहे गये हैं, और बृहदारण्यकमें तो 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (हृदयके अन्तर जो यह आकाश है) इस तरह उक्त हृदयाकाशके वशित्व आदि गुण कहे गये हैं । इससे यहां परस्पर गुणोंका

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्र वशित्वादीनां दहराकाशे उपसंहार उपास्त्यै भविष्यति । सत्यकामत्वादीनां तु हार्दाकाशे उपसंहारः स्तुत्यर्थः । न च प्रयोजनवत्त्वेऽपि विद्याभेदो दुष्परिहर इति वाच्यम् । विद्याभेदेऽप्युभयत्राऽऽकाशशब्दवाच्यस्याऽऽत्मन एकत्वात् । दहराकाशस्य तावदात्मत्वं दहराधिकरणे—(ब्र० सू० १।३।१५) वर्णितम् । हार्दाकाशस्यापि "महानज आत्मा" इत्युपक्रमादात्मत्वमवगन्तव्यम् । तस्मादुभयत्रोपसंहारः ॥ २५ ॥

(षड्विंश उपवासे प्राणाहुतिलोपाधिकरणे सूत्रे)

आदरादलोपः ॥ ४० ॥ उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

षड्विंशाधिकरणमारचयति—

न लुप्यते लुप्यते वाऽप्राणाहुतिरभोजने ।
न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥ ५५ ॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते ।
भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते ॥ ५६ ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यावाक्यशेषे—"यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां

उपसंहार नहीं हो सकता है, क्योंकि दहराकाश उपास्यरूपसे और हृदयाकाश ज्ञेयरूपसे कहा गया है । इससे विद्याका भेद है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहांपर वशित्व आदि गुणोंका दहराकाशमें उपसंहार उपासनाके लिए होगा । और सत्यकाम आदि गुणोंका हृदयाकाशमें उपसंहार तो स्तुतिके लिए होगा । उपासना और स्तुतिरूप प्रयोजन होनेपर भी विद्याका भेद दुष्परिहार्य है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि विद्याभेद होनेपर भी आकाश शब्द वाच्य आत्मा दोनों स्थलोंमें एक है । दहराकाश आत्मा है । इसका 'दहराधिकरणमें वर्णन किया गया है । हार्दाकाश भी 'महानज आत्मा' इस उपक्रमसे आत्मा अवगत होता है, इससे दोनो स्थलोंमें उपसंहार है ॥ २५ ॥

षड्विंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप होता है अथवा लोप नहीं होता ?

पूर्वपक्ष—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप नहीं होता, क्योंकि 'अतिथिके पूर्व भोजन करे' इस प्रकार आदरोक्ति है ।

सिद्धान्त—भोजनके लिए उपस्थित अन्नका प्राणाहुति उपजीवी है, अतः भोजनका लोप होनेपर प्राणाहुतिका भी लोप इष्ट है । भोजन पक्षमें पूर्व भोजनमें आदर भी उपपन्न होता है । इससे भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप होता है ।

छान्दोग्यमें वैश्वानरके वाक्यशेषमें —'यां प्रथमामाहुतिं०' (उस समय वह भोक्ता

जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति" इति प्राणाहुतयः पठ्यन्ते । तत्र केनचिन्निमित्तेन भोजनलोपेऽप्युपासकस्य प्राणाहुतिर्न लुप्यते । "पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्" इत्यतिथिभोजनात्पूर्वमुपासकस्य यजमानस्य भोजनं प्रतिपादयन्त्याः श्रुतेः प्राणाहुतावादरदर्शनात् । तमादरं प्रख्यापयितुमेवातिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दति– 'यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयात्, तादृक्तत्स्यात्' इति । तस्मात्प्राणाहुतेरलोपः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः–'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' इतिभोजनार्थान्नस्य होमद्रव्यत्वश्रवणाद्भोजनलोपे द्रव्याभावादाहुतिर्लुप्यते । आदरस्तु भोजनपक्षे प्राथम्यविधानाय भविष्यति । तस्मात्—भोजनलोपे प्राणाहुतिर्लुप्यते ॥२६॥

(सप्तविंशेऽङ्गावबद्धोपास्त्यनैयत्याधिकरणे सूत्रम्)

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सप्तविंशाधिकरणमारचयति—

निरया अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत ।
पर्णवत्क्रतुसंबन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मता ॥ ५७ ॥

जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर आहुति दे) इस प्रकार प्राणाहुतिका पाठ किया गया है । यहांपर किसी निमित्तसे भोजनके लोप होनेपर भी उपासकको प्राणाहुति लुप्त नहीं होती, क्योंकि 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' (अतिथिके पूर्व भोजन करे) इस प्रकार अतिथि भोजनके पूर्व उपासक यजमानके लिए भोजनका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे प्राणाहुतिमें आदर दिखलाया गया है । उस आदरकी प्रसिद्धिके लिए ही श्रुति अतिथि भोजनमें प्राथम्यकी निन्दा करती है । 'यथा ह वै०' (जैसे अपने अग्निहोत्र होमको विना किये दूसरेका अग्निहोत्र होम करे, वैसे ही वह है) इससे भोजनके अभावमें भी प्राणाहुतिका लोप नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तद्यद्भक्त०' (अतः भोजनके समय जो अन्न पहले आये उसका होम करना चाहिए) इससे भोजनार्थ अन्न होमद्रव्य है, ऐसा श्रवण होनेसे भोजनके लोप होनेपर द्रव्यका अभाव हो जानेसे आहुति लुप्त होती है । आदर तो भोजन पक्षमें प्राथम्य विधानके लिए होगा । इससे यह सिद्ध हुआ कि भोजनका लोप होनेपर प्राणाहुतिका लोप होता है ॥ २६ ॥

सप्तविंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—कर्माङ्गोंसे सम्बन्धित उपासनाएँ नित्य हैं अर्थात् नियमसे अनुष्ठेय हैं अथवा कर्मोंमें अनियत हैं ?

पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् ।
उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनोः ॥ ५८ ॥

उद्गीथादिषु कर्माङ्गेषु प्रतिमादिवत्प्रतीकभूतेषु विधीयमाना देवतोपास्तयोऽङ्गावबद्धाः । ताश्च कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्माङ्गवन्नियमेनानुष्ठातव्याः । कर्मप्रकरणमारभ्याध्ययनाभावेऽपि वाक्यात्क्रतुसंबन्धोपपत्तेः । यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इत्यनारभ्याधीतस्याप्यव्यभिचारिजुहूद्वारा वाक्यात्क्रतुसंबन्धस्तथा 'य एवं विद्वानुद्गायति, य एवं विद्वान्साम गायति' इत्यादिष्वव्यभिचरितक्रतुसंबन्धिसामोद्गीथादिद्वारा तदुपासनाना क्रतुसंबन्धः प्रतीयते । तस्मात्कर्मसु नियता उपास्तयः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—गोदोहनादिवदनियता उपास्तयः । यथा 'चमसेनापः प्रणयेत्, गोदोहनेन पशुकामस्य', इत्यपाम्प्रणयनमाश्रित्य विधीयमानमपि

पूर्वपक्ष—पर्णताके समान क्रतुके साथ वाक्य द्वारा उनका सम्बन्ध है, अतः वे कर्मोंमें नित्य नियमसे अनुष्ठेय समझनी चाहिए ।

सिद्धान्त—पृथक्-पृथक् फलके श्रवणसे गोदोहनके समान ये उपासनाएँ नित्य नहीं हैं, क्योंकि 'उभौ कुरुत.' (दोनों-उपासक और अनुपासक कर्म करते हैं) इस प्रकार उपासक और अनुपासक दोनोंके लिए कर्म कहा गया है, इससे कर्माङ्गोंसे सम्बन्धित उपासनाएँ हैं ।

प्रतिमादिके समान प्रतीकभूत उद्गीथ आदि कर्मके अङ्गोंमें विधीयमान देवतोपासनाएँ अङ्गोंमें सम्बद्ध हैं, इसलिए अनुष्ठीयमान कर्मोंमें कर्माङ्गके समान नियमतः उनका अनुष्ठान करना चाहिए । यद्यपि कर्मप्रकरणका प्रारम्भकर उनका अध्ययन नहीं किया गया है, तो भी वाक्यसे क्रतु सम्बन्ध हो सकता है । जैसे 'यस्य पर्णमयी०' (जिसकी जुहू-यज्ञपात्र पर्णमयी-पलाश की होती है) इस प्रकार अनारभ्याधीत होनेपर भी (पर्णमयीत्वको) अव्यभिचारी जुहू द्वारा वाक्यसे क्रतुके साथ सम्बन्ध है, वैसे ही 'य एवं०' (जो इस प्रकार जाननेवाला उद्गान करता है, जो ऐसा जानकर सामका गान करता है) इत्यादिमें व्यभिचार रहित क्रतु सम्बन्धी साम और उद्गीथ द्वारा उन उपासनाओंका क्रतुके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है । इससे उपासनाएँ कर्मोंमें नियमत प्राप्त हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—गोदोहनके समान उपासनाएँ अनियत हैं । जैसे 'चमसेनाप' प्रणयेत्' 'गोदोहनेन पशुकामस्य' (चमस-यज्ञपात्रसे जलका प्रणयन-नयन करे, पशुकामनावाला गोदोहन नामक पात्रसे करे) इस प्रकार यहाँ-

गोदोहनमक्रत्वर्थत्वादैच्छिकम्, न तु प्रणयनादिवन्नियतम्। तथा कर्माङ्गान्याश्रित्य विधीयमाना उपास्तयो न क्रत्वर्थाः, किंतु पुरुषार्थाः। कर्मफलात्पृथक्फलश्रवणात्। 'वर्षति हास्मै' इति पञ्चविधे सामनि वृष्टिदेवतामुपासीनस्य कामवृष्टिः क्रतुफलात्पृथक्फलत्वेन श्रूयते। किंच 'तेनोभौ कुरुतो यस्त्वेतदेवं वेद, यश्च न वेद' इत्यस्मिन्नङ्गावबद्धोपास्तिवाक्यशेषे उपासकानुपासकयोरुपास्याधारभूतेन तेनाङ्गेन कर्मानुष्ठानं विस्पष्टमाम्नायते। तस्मात्कर्मस्वनियता उपास्तयः॥ २७॥

(अष्टाविंशे वायुप्राणोपासनयोः प्रयोगभेदाधिकरणे सूत्रम्)

प्रदानवदेव तदुक्तम्॥ ४३॥

अष्टाविंशाधिकरणमारचयति—

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम्।
तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम्॥ ५९॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्छ्रुतेः।
प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत्॥ ६०॥

पर अप्प्रणयनका आश्रयणकर विधियमान भी गोदोहन क्रत्वर्थ न होनेसे ऐच्छिक है। अप्प्रणयन आदिके समान नियत नहीं है। वैसे कर्मके अङ्गोंका आश्रयकर विधीयमान उपासनाएं क्रत्वर्थ नहीं हैं किन्तु पुरुषार्थ हैं, क्योंकि उनका कर्मफलसे पृथक् फल श्रवण है। 'वर्षति हास्मै' इस तरह पाँच प्रकारके साममें वृष्टि देवताकी उपासना करनेवाले ऐच्छिकवृष्टि क्रतुफलमें पृथक् फलस्वरूपसे सुनी जाती है, किञ्च 'तेनोभौ कुरुतः०' (जो उद्गीथके अवयवभूत इस ॐ अक्षरको रसतमत्वादि विशिष्ट जानता है अथवा जो नहीं जानता वे दोनों ही उनके द्वारा कर्म करते हैं) अङ्गाश्रित इस उपासना वाक्यशेषमें उपासक और अनुपासकके लिए उपास्यके आधारभूत उस अङ्गसे कर्मका अनुष्ठान स्पष्टरूपसे कहा गया है। इससे कर्मोंमें उपासनाएं अनियत हैं॥ २७॥

अट्ठाईसवें अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वायु और प्राणका चिन्तन एकरूपसे करना चाहिए अथवा पृथग्रूपसे?

पूर्वपक्ष—वायु और प्राणका अनुचिन्तन एकरूपसे करना चाहिए, क्योंकि वे दोनों एक ही तत्त्व हैं।

सिद्धान्त—अध्यात्म और अधिदैवरूप अवस्था भेदसे उनका पृथक् चिन्तन है, क्योंकि ऐसी श्रुति है, और राजा आदि गुणवाले इन्द्रके प्रदानके समान प्रयोगका भेद भी युक्त है।

संवर्गविद्यायाम्—अधिदैवं वायुरुपास्यत्वेन श्रुतः, अध्यात्मं च प्राणः। तत्र प्राणस्य वायुकार्यत्वेन तत्त्वभेदाभावादुभयोरेकीकरणेन चिन्तनम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वभेदाभावेऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन चावस्थाभेदस्य सद्भावात् 'इत्यधिदैवम्। अथाध्यात्मम्' इति विविच्य पृथगनुचिन्तनाय श्रुतिर्विविनक्ति। तस्मात्—इन्द्रप्रदानवत्प्रयोगभेदो द्रष्टव्यः। यथा—'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालम्, इन्द्रायाधिराजाय, इन्द्राय स्वराज्ञे' इतीन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजादिगुणभेदात्पृथक्पुरोडाशप्रदानं कृतम्, तथा एकस्यापि वायुतत्त्वस्य स्थानभेदात्पृथक्चिन्तनं भविष्यति ॥ २८ ॥

(एकोनत्रिंशे मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रताधिकरणे सूत्राणि)

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ॥ ४५ ॥ अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥ विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥ दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥ अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥ न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

एकोनत्रिंशाधिकरणमारचयति—

संवर्गविद्यामें अधिदैव वायु और अध्यात्म प्राण उपास्यरूपसे श्रुत हैं। यहाँपर प्राण वायुका कार्य है, इसलिए तत्त्वका भेद नहीं है, इससे दोनोंका एकीकरणरूपसे चिन्तन करना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यद्यपि तत्त्वका भेद नहीं है, तथापि कार्यरूप और कारणरूप अवस्था भेदका सद्भाव होनेसे 'यह अधिदैव है, अनन्तर अध्यात्म है, ऐसा विवेचनकर पृथक् अनुचिन्तनके लिए श्रुति ही विवेक-भेद करती है। इससे इन्द्रप्रदानके समान प्रयोग भेद जानना चाहिए। जैसे 'इन्द्राय राज्ञे०' (इन्द्र राजाके लिए, इन्द्र अधिराजके लिए और इन्द्र स्वराजके लिए ग्यारह कपालवाला पुरोडाश तीन परोडाशवाली इस इष्टिमें सब देवताओंको हवि प्राप्त करानेके लिए एक साथ ही पुरोडाशोंका अवदान करता है) इससे इन्द्रके एक होनेपर भी राजा आदि गुणके भेदसे पृथक् पुरोडाशका प्रदान किया गया है। वैसे वायुतत्त्वके एक होनेपर भी स्थानके भेदसे पृथक् चिन्तन हो सकेगा ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

नामग्नित्वेन वर्णनात्। तस्मादेवंविदे स्वपतेऽपि तानेतानग्नीन्सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्तीति। अत्र यावज्जीवमग्नीनामविच्छेदेन नैरन्तर्यं प्रतीयते। तच्च विद्यास्वातन्त्र्ये लिङ्गम्। कर्मशेषत्वे हि कर्मणो यावज्जीवं नैरन्तर्याभावात्तच्छेषाणां मनश्चिदादीनां कथं नैरन्तर्यं स्यात्। तच्च लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तस्मात्स्वतन्त्रा इति चेत्। नायं दोषः। अन्यार्थदर्शनरूपत्वेन लिङ्गस्यैतस्य दुर्बलत्वात्। तथा हि—द्विविधं लिङ्गम्–सामर्थ्यमन्यार्थदर्शनं चेति। तत्र विध्युद्देशगतं लिङ्गं सामर्थ्यम्। तच्च स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्। अर्थवादगतं त्वन्यशेषवाक्ये दृश्यमानत्वादन्यार्थदर्शनम्। तच्च तात्पर्यरहितत्वान्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्, किंतु प्रमेयस्तावकप्रमाणान्तरे केवलमुपोद्बलकं भवति। एवं च सत्यत्रोदाहृतलिङ्गस्य दुर्बलत्वात्प्रकरणात्कर्मशेषा मनश्चिदादयः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तावदत्र शाब्दो विधिरुपलभ्यते। लिङादेरश्रवणात्। किं त्वर्थवादसामर्थ्यादुन्नेयो विधिः। तथा च फलप्रतिपादकस्तावकवाक्यानां रात्रिसत्रन्यायेनाधिकारिसमर्पणपर्यवसानादशेषमप्येतद्ब्राह्मणं विधिरूपं भविष्यति। ततो विध्युद्देशगतत्वेन लिङ्गस्य प्राबल्यम्। किंच "ते हैते विद्याचित एव"

वाक् आदि वृत्तियाँ सर्वदा प्रवृत्त हैं। कारण कि साधारणरूपसे पुरुषके मन आदि वृत्तियोंका अग्निरूपसे वर्णन है। इससे ऐसा जाननेवालेके सोनेपर भी इन अग्नियोंका सर्वदा सब भूत चयन करते हैं। यहाँ जीवन पर्यन्त अग्नियोंके विच्छेद न होनेसे नैरन्तर्य प्रतीत होता है। वह विद्याके स्वातन्त्र्यमें लिङ्ग है। कर्मशेषत्वमें तो जीवनपर्यन्त कर्मके निरन्तर न होनेसे उसके शेषभूत मनश्चित् आदि कैसे निरन्तर होंगे, और वह लिङ्ग प्रकरणसे बलवान् है। जैसे कि लिङ्ग दो प्रकारका होता है—सामर्थ्यरूप और अन्यार्थदर्शनरूप। उनमें विधि उद्देश्यगत लिङ्ग सामर्थ्य है, वह स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण है। अर्थवादगत तो अन्यशेष वाक्यमें दृश्यमान होनेसे अन्यार्थदर्शन है। वह तात्पर्य रहित होनेसे स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमेयके स्तावक अन्य प्रमाणमें केवल सहायक होता है। ऐसा होनेपर उदाहृत लिङ्गके दुर्बल होनेसे प्रकरणसे मनश्चित् आदि कर्मशेष हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहाँ शाब्दविधि उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि लिङ्, लोट् आदिका श्रवण नहीं है, किन्तु अर्थवादके सामर्थ्यसे विधि स्वीकार्य है। तथा च फलके प्रतिपादक स्तावक वाक्योंका रात्रिसत्र न्यायसे अधिकारीके समर्पणमें पर्यवसान होनेसे यह सम्पूर्ण ब्राह्मण भी विधिरूप होगा। इससे विधि उद्देश्यगतरूप होनेसे लिङ्ग प्रबल है। किञ्च 'ते हैते०' (वे ये विद्याचित् ही हैं) इस

इत्येव श्रुत्या कर्माङ्गत्वं व्यावर्तते। तथा "विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" इति वाक्यमपि स्वातन्त्र्यगमकम्। तस्मात्—श्रुतिलिङ्गवाक्यैः प्रकरणं बाधित्वा स्वतन्त्रविद्यात्मकत्वं मनश्चिदादीनामभ्युपगन्तव्यम् ॥ २९ ॥

(त्रिंशे आत्मनो देहातिरिक्तत्वाधिकरणे सूत्रे)।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥ व्यतिरेकस्तद्भावा-
भावित्वान्नतूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

त्रिंशाधिकरणमारचयति—

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत्।
भूतमेलनजं देहे नान्यत्राऽऽत्मा वपुस्ततः ॥ ६३ ॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः।
सैवाऽऽत्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥ ६४ ॥

'मनश्चिदादीनां क्रत्वर्थता नास्ति, किंतु पुरुषार्थत्वम्' इत्युक्ते सति 'कोऽसौ पुरुषः' इति प्रसङ्गाद्विचार्यते। तदेतदधिकरणं पूर्वोत्तरयोरुभयोर्मीमांसयोः शेषभूतम्। स्वर्गमोक्षभागिन आत्मनः प्रतिपाद्यत्वात्। तत्र बौद्धा लोकायतिकाः देह एवाऽऽत्मेति मन्यन्ते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चैतन्यस्य देह एवोपलम्भात्।

श्रुतिसे कर्माङ्गत्वकी व्यावृत्ति होती है, वैसे 'विद्यया है वैत०' (इस प्रकार जाननेवाले उपासकके लिए ये अग्नियाँ विद्यासे ही संपादित होती हैं) यह वाक्य भी स्वातन्त्र्यका बोधक है। इससे श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे प्रकरणका बाधकर मनश्चिद् आदिको स्वतन्त्र विद्यात्मक स्वीकार करना चाहिए ॥ २९ ॥

त्रिंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—शरीर ही आत्मा है अथवा उससे अन्य है ?

पूर्वपक्ष—मदशक्तिके समान भूतोंके सम्मेलनसे देहमें चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, इससे शरीर ही आत्मा है, उससे अतिरिक्त आत्मा नहीं है।

सिद्धान्त—भूतोंकी उपलब्धि भूतोंसे भिन्न है, क्योंकि वह विषयी है, अतः वही उपलब्धि ही आत्मा है, वही परलोकका भागी और भौतिक देहसे पृथक् है।

मनश्चित् आदिको क्रत्वर्थता नहीं है, किन्तु पुरुषार्थता है, इस प्रकार गत अधिकरणमें उक्त होनेपर 'पुरुष कौन है ?' इस प्रकार प्रसङ्गसे विचार किया जाता है। यह अधिकरण पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओंका अङ्गभूत है, क्योंकि इसमें स्वर्ग और मोक्षके भागी अधिकारी आत्माका प्रतिपादन किया जाता है। यहाँपर देह ही आत्मा है। इस प्रकार बौद्ध-लोकायतिक मानते हैं। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकसे चैतन्यका देहमें

सति हि देहे चैतन्यमुपलभ्यते, न त्वसति । न च चैतन्यस्य जात्यन्तरतया देहव्यतिरिक्त आत्मत्वं शङ्कनीयम् । क्रमुकनागवल्लीचूर्णानां संयोगान्मदशक्तिरिव देहाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यो जायमानं चैतन्यं कथं नाम जात्यन्तरं स्यात् । तस्माच्चेतनो देह आत्मा ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्यादीनां भूतानामुपलब्धिर्भूतेभ्यो व्यतिरिक्ता भवितुमर्हति । विषयित्वात् । 'यद्यद्विषयि तत्तद्विषयाद्व्यतिरिक्तम् । यथा रूपाच्चक्षुः' । तथासति तादृशचैतन्यमात्मतत्त्वं वदन्तं प्रति कथं भौतिकदेहरूपत्वमापद्येत । सत्येव देहे चैतन्यमुपलभ्यते, नासति' इति यावन्वयव्यतिरेकावुक्तौ तत्र व्यतिरेकोऽसिद्धः असत्यपि देहे परलोकगामिनश्चिदात्मनः शास्त्रेणोपलम्भात् । शास्त्रस्य च प्रामाण्यं समर्थनीयम् । सत्यपि मृते देहे चैतन्यानुपलब्धेश्चान्वयासिद्धिः ॥ ३० ॥

(एकत्रिंश उपासनाविधयः शाखान्तरेऽनुवृत्त्यधिकरणे सूत्रे)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥
मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

एकत्रिंशाधिकरणमारचयति—

ही उपलम्भ होता है । देहके रहते ही चैतन्य उपलब्ध होता है देहके न रहते चैतन्य उपलब्ध नहीं होता । चैतन्यको अन्य जाति मानकर देहसे अतिरिक्त आत्मा है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि क्रमुक, नागवल्ली चूर्णके संयोगसे उत्पन्न मदशक्तिके समान देहाकारसे परिणत भूतोंसे जायमान चैतन्य जात्यन्तर कैसे होगा ? इसलिए चेतनदेह ही आत्मा है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पृथिवी आदि भूतोंकी उपलब्धि भूतोंसे अतिरिक्त होनी चाहिए, क्योंकि वह विषयी है । 'जो जो विषयी होता है वह वह विषयसे पृथक् होता है जैसे रूपसे चक्षु । ऐसा होनेपर इस प्रकारके चैतन्यको आत्मतत्त्व कहनेवालेके प्रति भौतिक देहरूपता कैसे प्राप्त होगी । देहके रहते ही चैतन्य उपलब्ध होता है न रहनेपर नहीं, ये जो अन्वय व्यतिरेक किये गये हैं, यहांपर व्यतिरेक असिद्ध है, क्योंकि देहके न रहनेपर भी परलोकगामी चैतन्यात्माका शास्त्रसे ज्ञान होता है । शास्त्रका प्रामाण्य तो समर्थनीय है, इस प्रकार अन्वय भी असिद्ध है, क्योंकि मृत देहके होनेपर भी चैतन्यकी उपलब्धि नहीं होती । इससे देहसे पृथक् आत्मा मानना चाहिए ॥ ३० ॥

एकत्रिंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

उक्थादिधीः स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत् ।
सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते ।
श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥ ६६ ॥

प्रज्ञावबद्धोपासनेषु—उक्थशास्त्राख्ये कर्माङ्गपृथिव्यादिदृष्टिरैतरेयोपनिषदि श्रूयते। उक्थं तु कौषीतक्यादिशाखान्तरेष्वपि विहितम्। तत्र पृथिव्यादिदृष्टिरैतरेयगतोक्थ एव व्यवतिष्ठत उत कौषीतक्यादिष्वनुवर्तते' इति संदेहे सति संनिहितत्वात्स्वशाखायामेव व्यवतिष्ठते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्थशब्दस्तावन्मुख्यया वृत्त्या सर्वशाखागतमुक्थसामान्यमाचष्टे। तत उक्थश्रुतिवशात्सर्वशाखागतोक्थशास्त्रेष्वनुवृत्तिः प्राप्ता। श्रुतिश्च संनिधेर्बलीयसी। तस्मात्क्वचिद्विहिता धीः शाखान्तरेष्वनुगच्छति ॥३१॥

(द्वात्रिंशे वैश्वानरविद्यायां समस्तोपासनाधिकरणे सूत्रम्)

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।

द्वात्रिंशाधिकरणमारचयति—

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा ।
प्रत्येकोपास्तिफलयोरुक्ते रस्त्यंशधीरपि ॥ ६७ ॥

सन्देह—स्वशाखाङ्गोंमें ही उद्गीथादिबुद्धि है अथवा अन्यत्र भी ?

पूर्वपक्ष—सांनिध्यसे स्वस्वशाखाङ्गोंमें ही उद्गीथादि बुद्धि व्यवस्थित है।

सिद्धान्त—उन उन शब्दोंसे उक्थ और उद्गीथ आदि सामान्य प्रतीत होते हैं, इसलिए श्रुतिसे सांनिध्यका बाध है, इससे उद्गीथादिबुद्धि अन्यत्र प्राप्त हो सकती है।

कर्माङ्गोंसे सम्बन्धित उपासनाओंमें उक्थशस्त्र नामक कर्माङ्गोंमें पृथिवी आदि दृष्टिकी ऐतरेयोपनिषद्में श्रुति है। उक्थ तो कौषीतकी आदि अन्य शाखाओंमें भी विहित है। यहांपर पृथिवी आदि दृष्टि ऐतरेयगत उक्थमें ही व्यवस्थित है अथवा कौषीतकी आदिमें भी अनुवृत्त होती है ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि सन्निधिसे स्वशाखामें ही व्यवस्थित होती है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उक्थ शब्द तो मुख्य-वृत्तिसे सर्वशाखागत उक्थ सामान्यको कहता है। इससे उक्थ श्रुतिसे सर्वशाखागत उक्थशास्त्रोंमें अनुवृत्ति प्राप्त होती है, श्रुति संनिधिसे बलवती है, इससे क्वचित् विहित होनेपर भी बुद्धि अन्य शाखाओंमें भी अनुवृत्त होती है ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंश ३२ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वैश्वानरके अंशकी उपासना करनी चाहिए अथवा समस्त वैश्वानरकी उपासना करनी चाहिए ?

उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् ।
अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥ ६८ ॥

वैश्वानरविद्यायां विराड्रूपवैश्वानरस्य द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यो मूर्धचक्षुःप्राणमध्यशरीरमूत्रस्थानपादरूपेण ध्यातव्यांशा निरूपिताः । तेषामंशानामपि प्रत्येकं स्वातन्त्र्येणोपासनं विद्यते । उपास्तिशब्दस्य फलकथनस्य च प्रत्येकमुपलभ्यमानत्वात् । तथा हि—"औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" इति, 'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच" इति प्रश्नोत्तराभ्यां द्युलोकमात्रोपास्तिरवगम्यते । तस्मात् "तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते" इति सुतादिशब्दवाच्यानां सोमयागविशेषाणां संपत्ति फलत्वेनावगम्यते । एवमंशान्तरेषूदाहर्तव्यम् । सर्वावयवसमष्ट्युपासनं "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य" इति वाक्यशेषे विस्पष्टं प्रतीयते । तस्माद्व्यस्तोपासनं समस्तोपासनं चोभयं विवक्षितम् ।

पूर्वपक्ष—अंशोंकी उपासना और फलका भी कथन है, इसलिए व्यस्त और समस्तकी उपासना विवक्षित है ।

सिद्धान्त—उपक्रम और उपसंहारसे समस्तकी ही उपासना विवक्षित है । व्यस्तकी उपासना और उसका फल स्तुतिके लिए है, क्योंकि प्रत्येक-व्यस्त उपासना की निन्दा की गई है ।

वैश्वानरविद्यामें विराट्रूप वैश्वानरके द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, उदक और पृथिवीका मूर्धा, चक्षु, प्राण, और मध्यशरीर, मूत्रस्थान, पाद आदि रूपसे ध्यान करनेके योग्य अंश निरूपित किये गये हैं । उन अंशोंमें भी प्रत्येककी स्वतन्त्ररूपसे उपासना विद्यमान है, क्योंकि उपास्तिशब्द और फलकथन प्रत्येकमें उपलब्ध होता है । जैसे कि 'औपमन्यव कं०' (उपमन्यु पुत्र ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो) इस प्रकार राजा अश्वपतिके प्रश्न करनेपर 'दिवमेव भगवो०' (हे पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया) इस प्रकारके प्रश्न और उत्तरसे द्युलोक मात्रकी उपासना अवगत होती है । उसी प्रकार 'तस्मात्-तव सुत०' (इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत-खण्डित सोम-द्रव्य, प्रसुत और आसुत देखे जाते हैं) इससे सुत आदि शब्द वाच्य सोमयाग विशेषोंकी सम्पत्ति फलरूपसे अवगत होती है । इसी प्रकार अन्योंमें भी उपासना और फलका उदाहरण समझना चाहिए । सर्वावयव समष्टि उपासना तो 'तस्य ह वा०' (उस वैश्वानर आत्माका) इस वाक्यशेषमें विस्पष्ट प्रतीत होती है । इससे व्यस्तोपासना और समस्तोपासना दोनों विवक्षित हैं ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—समस्तोपासनमेव विवक्षितम्, न तु व्यस्तोपासनम्। कुतः। उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकवाक्यत्वावगमात्। उपक्रमे तावत्। "को न आत्मा किं ब्रह्म" इति कृत्स्नमेव ब्रह्मोपास्यत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्तम्। उपसंहारेऽपि "तस्य ह वै" इत्यादिना समस्तोपासनं विस्पष्टमभिधीयते। तथा च सत्यंशोपास्तिषु पृथगभ्युपगम्यमानासु वाक्यभेदः प्रसज्यते। पृथगुपास्तिफलकथनं तु कैमुतिकन्यायेन स्तुत्ये भविष्यति। अथ बहूपास्तिलाभाय वाक्यभेदोऽप्यभ्युपगम्यते, तदा प्रत्येकोपास्तिनिन्दावचनानि कथं समर्थयेथाः। निन्द्यन्ते हि प्रत्येकोपास्तयः। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" इति शिरोमात्रोपासनं निद्यते। तस्मात्समस्तोपासनमेव विवक्षितम् ॥ ३२ ॥

(त्रयस्त्रिंशे शाण्डिल्यादिविद्यानां भिन्नताधिकरणे सूत्रम्)

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

त्रयस्त्रिंशाधिकरणमारचयति—

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः।
समस्तोपासनश्रैष्ठ्याद्ब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता ॥ ६९ ॥
कृत्स्नोपास्तिरशक्यत्वाद्गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम्।
दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् ॥ ७० ॥

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—समस्त उपासना ही विवक्षित है, व्यस्त उपासना नहीं। किससे ? इससे कि उपक्रम और उपसंहारसे एक वाक्यता अवगत होती है। उक्रममें तो 'को न आत्मा किं ब्रह्म०' (हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?) उपसंहारमें भी 'तस्य ह वै' इत्यादिसे विस्पष्टरूपसे समस्त उपासनाका अभिधान है। ऐसा होनेपर यदि अंश उपासनाएँ पृथक् स्वीकार की जायँ तो वाक्यभेद प्रसक्त होगा। पृथक् उपासना फल कथन तो कैमुतिकन्यायसे स्तुतिके लिए हो जायगा। यदि अनेक उपासना लाभके लिए वाक्यभेद भी स्वीकार किया जाय तो प्रत्येक उपासनाकी निन्दाके लिए प्रयुक्त वचनोंका कैसे समर्थन करोगे। प्रत्येक उपासनाकी निन्दा की जाती है। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्०' (यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता) इस प्रकार शिरमात्र उपासनाकी निन्दाकी जाती है। इससे समस्त उपासना ही विवक्षित है ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—शाण्डिल्य दहर आदि उपासनाएँ अभिन्न हैं अथवा भिन्न हैं ?

पूर्वपक्ष—समस्तोपासनाके श्रेष्ठ होनेसे और ब्रह्मका ऐक्य होनेसे भी वे उपासनाएँ अभिन्न हैं।

छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्याया मधुविद्येत्यादयः पठिताः। तथा शाखान्तरेष्वपि। तत्र पूर्वाधिकरणन्यायेन समस्तोपासनस्य श्रेष्ठत्वाद्वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वाच्च सर्वासामेव विद्यात्वम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अनन्तासु विद्यास्वेकीकरणेनानुष्ठानं सर्वदशक्यमिति विद्याभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। न च वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वं शङ्कनीयम्। गुणभेदेन भेदोपपत्तेः। न चैकैकस्या विद्याया इयत्ता निश्चेतुमशक्या। प्रत्येकमुपक्रमोपसंहारयोस्तन्निश्चायकत्वात्। तस्मात्—विद्यानां नानात्वमिति ॥ ३३ ॥

(चतुस्त्रिंशेऽहग्रहविद्याया विकल्पनियमाधिकरणे सूत्रम्)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकरणमारचयति—

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा।
नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः।
अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥ ७२ ॥

सिद्धान्त—सम्पूर्ण उपासनाएँ करनेमें असमर्थ होनेसे और गुणोंसे ब्रह्मका भेद होनेसे भिन्न भिन्न उपक्रम होनेसे दहर आदि उपासनाएं भिन्न भिन्न हैं।

छान्दोग्यमें शाण्डिल्यविद्यामें मधुविद्या आदि पठित हैं, इसी प्रकार अन्य शाखाओंमें भी। यहांपर पूर्वाधिकरण न्यायसे समस्तोपासनाके श्रेष्ठ होनेसे वेद्य ब्रह्मके एक होनेसे सबमें एक विद्यात्व है अर्थात् सब विद्याएं अभिन्न हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अनन्त विद्याओंका एकीकरणकर अनुष्ठान करना सर्वथा अशक्य है, इसलिए विद्याका भेद ही मानना चाहिए। वेद्य ब्रह्मके एकत्वकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गुणभेदसे भेद हो सकता है, और एक-एक विद्याकी इयत्ता-परिमाणका निश्चय नहीं किया जा सकता, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येकका उपक्रम और उपसंहार ही उस इयत्ताका निश्चायक है। इससे विद्याएँ नाना-अनेक हैं ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अहग्रह उपासनामें अनियम है अर्थात् यथेष्ट उपासना है अथवा नियमसे विकल्प है ?

पूर्वपक्ष—नियामकके न होनेसे अहग्रहोपासनामें अनियम है अर्थात् यथेष्ट प्रतीत होती है।

सिद्धान्त—एक विद्यासे ही ईश्वरका साक्षात्कार होता है, यह प्रसिद्ध है, अतः

द्विविधान्युपासनानि—अहंग्रहाणि प्रतीकानि चेति। आत्मनः सगुणत्वोपासनेष्वहंग्रहस्य चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणत्वात्तान्यहंग्रहाणि। अनात्मवस्तुनि देवतादृष्ट्या संस्कृत्योपास्यमानानि प्रतीकानि। तत्राहंग्रहेषु शाण्डिल्यविद्याद्युपासनेषु, एकं द्वे बहूनि चोपासनानि याथाकाम्येनानुष्ठेयानि। विकल्पस्य नियामकाभावात्। न हि शाण्डिल्योपासनं दहरोपासनमन्यद्वा, एकमेवानुष्ठेयं नेतरदिति विकल्पनियमे किंचित्कारणमस्ति। तस्मात्—याथाकाम्यम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अन्यानर्थक्यं तावदेकं नियामकम्। तथा हि—ईश्वरसाक्षात्कार उपासनस्य प्रयोजनम्। तच्चैकेनैवोपासनेन सिध्यति। तत्रान्योपासनवैयर्थ्यम्। किंचोपासनेषु न प्रमाणजन्यः साक्षात्कारः। किं तर्हि निरन्तरभावनया ध्येयतादात्म्याभिमानः। स चाभिमान एकमुपासनमनुष्ठाय तत्परित्यज्यान्यत्र प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य चित्तविक्षेपात्कथं नाम दृढीभवेत्। तस्मादानर्थक्यविक्षेपयोर्नियामकत्वाद्विकल्पो नियम्यते ॥ ३४ ॥

(पञ्चत्रिंशे लौकिकप्रतीकेषु याथाकाम्याधिकरणे सूत्रम्)

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

अन्य उपासनाकी निरर्थकता और विक्षेप ये दोनो विकल्पके नियामक हैं, इसलिए अहंग्रह उपासनाओंमें विकल्प है, यथाकाम अनुष्ठान नहीं है।

उपसनाएं दो प्रकारकी हैं, एक अहंग्रह और दूसरी प्रतीक। आत्माकी सगुण उपासनाओंमें अहंग्रह चतुर्थाध्यायमें जो वक्ष्यमाण है, अतः वे अहंग्रह उपासनाएं हैं। अनात्म वस्तुमें देवतादृष्टिसे संस्कार द्वारा जो उपास्यमान हैं, वे प्रतीक हैं। उनमें शाण्डिल्यविद्या आदि अहंग्रह उपासनाओंमें एक, दो अथवा अनेक उपासनाएं इच्छानुसार अनुष्ठेय हैं, क्योंकि विकल्पका नियामक नहीं है। शाण्डिल्य उपासना, दहर उपासना अथवा अन्य उपासना इनमेंसे एक ही उपासना करनी चाहिए अन्य नहीं, इस प्रकारके विकल्पनियममें कोई कारण नहीं है। इससे इच्छानुसार अनियम ही प्राप्त है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अन्यका आनर्थक्य ही विकल्पमें एक नियामक है। जैसे कि ईश्वरका साक्षात्कार ही उपासनाका प्रयोजन है। वह तो एक ही उपासनासे सिद्ध होता है, तब ऐसी परिस्थितिमें अन्य उपासना व्यर्थ है। किञ्च—उपासनाओंमें प्रमाणजन्य साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु निरन्तर भावना करनेसे ध्येयवस्तुमें तादात्म्याभिमान होता है। वह अभिमान यदि एक उपासनाके अनुष्ठान करते उसका परित्याग करे और अन्य उपासनामें प्रवृत्त हो तो पुरुषके चित्तविक्षेप होनेसे दृढ़ कैसे होगा ? इससे आनर्थक्य और विक्षेपरूप नियामक होनेसे विकल्प नियमित है ॥ ३४ ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—"ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात्स्तुतमनुशंसति" इत्यादौ यथा ग्रहस्तोत्रशंसनादीनां नियतः पौर्वापर्येण सहभावः श्रुतो न तथोपासनेषु श्रूयते। तस्माद्विकल्पसमुच्चययोर्यथाकाम्यम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि प्रणीतायां वैयासिन्यायमालायां
तृतीयाध्यायस्य तृतीय पादः ॥ ३ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	३६	१३७
सूत्राणि	६६	४२६

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः]

(इस पादमें निर्गुण विद्याके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोंका विचार है)

(प्रथमे पुरुषार्थाधिकरणे आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रताधिकरणे सूत्राणि)

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥ आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥ तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥ समन्वारम्भणात् ॥५॥ तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥ नियमाच्च ॥ ७ ॥ अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥ तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥ असार्वत्रिकी ॥ १० ॥ विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'*ग्रहं गृहीत्वा०*' (यज्ञपात्रका ग्रहणकर अथवा चमसपात्रका उन्नयनकर स्तोत्रका आरम्भ करे तथा स्तुतका शसन करे) इत्यादिमें जैसे ग्रह, स्तोत्र, शंसन आदिका नियमसे पौर्वापर्यरूपसे सहभाव श्रुत है, वैसे उपासनाओंमें नहीं सुना जाता। इसलिए विकल्प अथवा समुच्चय इच्छानुसार है ॥ ३६ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि-प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके तृतीयाध्यायके तृतीयपादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ३ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥ नाविशेषात् ॥ १३ ॥ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥ कामकारेण चैके ॥१५॥ उपमर्दं च ॥१६॥ ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि॥१७॥

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वाऽऽत्मनो यतः।
देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुं ततः ॥ १ ॥
नाद्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा।
आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥ २ ॥

आत्मनो देहादिव्यतिरेकज्ञानमन्तरेण परलोकगामित्वानिश्चयाज्ज्योतिष्टोमादिप्रवृत्तिरेव न स्यादिति क्रतुषु प्रवर्तकत्वेनौपनिषदमात्मतत्त्वज्ञानं कर्माङ्गम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्विविधं देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानम्—परलोकगामिकर्त्रात्मविज्ञानमेकम्, द्वितीयं ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं चेति। तत्र कर्त्रात्मज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेऽपि नाद्वैतब्रह्मतत्त्वज्ञानं प्रवर्तकम्। प्रत्युत क्रियाकारकफलनिषेधेन निवर्तकमेव। ननु तत्त्वविदामपि जनकादीनां कर्मप्रवृत्तिलक्षण आचारो दृश्यते। बाढम्।

तृतीय अध्यायके चतुर्थ पादमें प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आत्मज्ञान क्रत्वर्थ है अथवा स्वतन्त्र है ?

पूर्वपक्ष—देहसे अतिरिक्त आत्मा है, ऐसा ज्ञान प्राप्त किये बिना क्रतुमें किसी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती, इससे आत्मज्ञान क्रतुका अङ्ग है।

सिद्धान्त—अद्वैत आत्मज्ञान कर्मका हेतु नहीं है, प्रत्युत वह कर्मका नाश करता है, जनक प्रभृति तत्त्वज्ञानियोंका आचार लोक संग्रहके लिए है। इससे आत्मतत्त्वज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थका साधन है, क्रतुका अङ्ग नहीं है।

'आत्मा देहसे अतिरिक्त है' इस प्रकार ज्ञानके बिना परलोकगामित्वका निश्चय न होनेसे ज्योतिष्टोम आदिमें प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिए क्रतुओंमें प्रवर्तक होनेके कारण औपनिषद् आत्मतत्त्वज्ञान कर्मका अङ्ग है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—देहसे व्यतिरिक्त आत्मतत्त्वज्ञान दो प्रकारका है। एक परलोकगामी कर्तृरूप आत्मविज्ञान और दूसरा ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञान। उन दोनोंमें प्रथम कर्तृरूप आत्मज्ञान भले प्रवर्तक हो तो भी अद्वैत ब्रह्मतत्त्वज्ञान प्रवर्तक नहीं है। प्रत्युत क्रिया, कारक और फलके निषेधसे कर्मका निवर्तक ही है। यदि कहो कि तत्त्वविद् जनक आदिमें भी कर्म प्रवृत्तिरूप आचार देखा जाता है। ठीक है,

लोकसंग्रहार्थमयमाचारः स्यात्। यदि तत्त्वविदामपि मुक्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि स्यु, कथं तर्हि प्रजादिवैयर्थ्यश्रुतिरुपपद्यते। 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक.' इति। आत्मतत्त्वस्वरूपस्य लोकस्यापरोक्षत्वे सत्यनात्मलोकसाधनभूताया. प्रजाया वैयर्थ्यं श्रूयते। एवं 'किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे' इत्यद्युदाहरणीयम्। तस्मादात्मतत्त्वज्ञानं स्वतन्त्रं पुरुषार्थसाधनम्, न तु कर्माङ्गम् ॥ १ ॥

(द्वितीये परामर्शाधिकरणे सप्तम्यामिन एव ब्रह्मनिष्ठत्वाधिकरणे सूत्राणि)

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥ विधिर्वा धारणवत् ॥२०।

द्वितीयाधिकरणस्य प्रथमवर्णकमारचयति—

नास्त्यूर्ध्वरेताः किंवाऽस्ति नास्त्यसावविधानतः।
वीरघातो विधे. क्लृप्तावन्धपङ्ग्वादिगा स्मृतिः ॥ ३ ॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तेर्वीरहाऽनग्निको गृही।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थाना श्रूयते विधि. ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे—स्वतन्त्रमात्मविज्ञानमित्युक्तम्। तस्य चाऽऽत्मविज्ञान-

उनका यह आचार लोकसंग्रहके लिए है। यदि तत्त्वज्ञानियोंको भी मुक्तिके लिए कर्म अनुष्ठेय होंगे तो प्रजा आदि वैयर्थ्य श्रुति कैसे उपपन्न होगी, 'किं प्रजया करिष्यामो०' (हम इन प्रजासे क्या करेंगे अर्थात् इनसे क्या प्रयोजन है, जिन हमको यह आत्मलोक अभीष्ट है।) इससे आत्मतत्त्वस्वरूप लोकके अपरोक्ष होनेपर अनात्मरूप लोकसाधन भूत प्रजाका वैयर्थ्य सुना जाता है। इस प्रकार 'किमर्था०' (हम किसलिए अध्ययन करें, किसलिए यज्ञ करें) इत्यादि श्रुतियां उदाहरणीय हैं, इसलिए आत्मतत्त्वज्ञान स्वतन्त्र ही पुरुषार्थका साधन है कर्मका अङ्ग नहीं है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणके प्रथम वर्णककी रचना करते हैं—

सन्देह—ऊर्ध्वरेता-संन्यासाश्रम है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—नहीं है, क्योंकि उसके लिए विधि वाक्य नहीं है, और 'वीरहा' इत्यादि श्रुतिसे गृहस्थाश्रम मात्रका विधान है, स्मृति आदिमें कहींपर संन्यासाश्रमका जो श्रवण है वह अन्ध, पङ्गु, आदि व्यक्तियोंके लिए है।

सिद्धान्त—अपूर्व विधि होनेसे संन्यासाश्रम निश्चित है और 'वीरहा' इत्यादि वाक्य अग्निरहित गृहस्थके लिए है। अन्ध, पङ्गु, आदिका पृथक् कथन है, स्वस्थ पुरुषोंके लिए संन्यासाश्रमकी विधि श्रुति है।

पूर्व अधिकरणमें आत्मज्ञान स्वतन्त्र है, ऐसा कहा गया है। वह आत्मज्ञान ऊर्ध्व-

स्योर्ध्वरेतःस्वाश्रमेषु सुलभत्वादाश्रमसद्भावश्चिन्त्यते। तत्र नास्त्यूर्ध्वरेताः, इति प्राप्तम्। कुतः। विध्यभावात्। छान्दोग्ये-'त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' इत्यत्र यज्ञाद्युपलक्षितगार्हस्थ्यस्य, तपः शब्दलक्षितवानप्रस्थत्वस्य, नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य परामर्शमात्रं गम्यते, न तु विधिरुपलभ्यते। न चापूर्वार्थत्वेन विधिः कल्पयितुं शक्यः। 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इत्यग्न्युद्वासनलक्षितस्य गार्हस्थ्यपरित्यागस्य निन्दितत्वात्। "चत्वार आश्रमा" इति स्मृतिस्तु गार्हस्थ्यधर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषया भविष्यति। न ह्यन्धस्याऽऽज्यावेक्षणोपेते कर्मण्यधिकारोऽस्ति। नापि पङ्गोर्विष्णुक्रमाद्युपेते कर्मण्यधिकारः। तस्मात्—चक्षुरादिपाटवयुक्तस्याऽऽत्मज्ञानोपयुक्त ऊर्ध्वरेता आश्रमो नास्ति।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अस्त्यूर्ध्वरेता आश्रमः। विध्यश्रवणेऽप्यपूर्वार्थत्वेन विधेः कल्पयितुं शक्यत्वात् न च वीरघातदोषः। उत्सन्नाग्निगृहस्थविषयत्वाद्वीरहत्यायाः। यत्त्वन्धादिविषयत्वं स्मृतेरुक्तम्। तदसत्। "अथ पुनरव्रती व्रती वा, स्नातकोऽस्नातको वा,[1] उत्सन्नाग्निरनग्निको वा, यदहरेव विरजेत्तदहरेव

रेता आश्रमोंमें सुलभ है, अतः आश्रमके सद्भावका विचार किया जाता है। यहां पूर्वपक्षी कहता है कि ऊर्ध्वरेता आश्रम नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि विधि नहीं है। छान्दोग्यमें 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' 'यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम, तप एव द्वितीय, ब्रह्मचारी और आचार्यकुलवासी यह तृतीय' इससे यहां यज्ञ आदिसे उपलक्षित गृहस्थाश्रम, तपः शब्दसे लक्षित वानप्रस्थ, नैष्ठिक ब्रह्मचार्यका परामर्शमात्र ज्ञात होता है, किन्तु उनकी विधि उपलब्ध नहीं होती। अपूर्वार्थ होनेसे विधिकी भी कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि 'वीरहा वा एष०' (अग्निका उद्वासन [बुझाना] करता है वह देवोंका वीरहा-पुत्रघाती होता है) इस प्रकार अग्नि उद्वासनसे लक्षित गृहस्थाश्रमके परित्यागकी निन्दा है। 'चत्वार आश्रमाः' (चार आश्रम हैं) यह स्मृति गृहस्थधर्ममें अनधिकृत अन्ध, पङ्गु आदि विषयक होगी, क्योंकि अन्धको आज्यावेक्षणयुक्त कर्ममें अधिकार नहीं है। पङ्गुको भी विष्णु क्रमसे युक्त धर्ममें अधिकार नहीं है। इससे चक्षु आदि सामर्थ्य युक्तके लिए आत्मज्ञानके उपयोगी ऊर्ध्वरेता आश्रम नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ऊर्ध्वरेता आश्रम है, यद्यपि विधिका श्रवण नहीं है तो भी अपूर्वार्थरूपसे विधिकी कल्पना की जा सकती है। वीरघात दोष भी नहीं है, क्योंकि वीरघात दोष उत्सन्नाग्नि गृहस्थाश्रम विषयक है। स्मृतिको जो अन्ध आदि विषयक कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अथ पुनरव्रती

१. उत्सन्नाग्निर्भार्यामरणेन नष्टाग्निः। अनग्निः पूर्वमेवाग्निपरिग्रहरहितः।

प्रव्रजेत्" इति गार्हस्थ्यानाधिकृतानां पृथक्संन्यासविधानात्। न च चक्षुरादि-पाटववतामाश्रमान्तरविधिः कल्पनीयः। जाबालश्रुतौ प्रत्यक्षविध्युपलम्भात्। 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" इति तस्मादस्त्याश्र-मान्तरम्।

द्वितीयवर्णकमारचयति—

लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा।
यथावकाशं ब्रह्मेष ज्ञातुमर्हत्यवारणात्॥५॥
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मठे कथम्।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः॥६॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यत्राऽऽश्रमानधिकृत्य 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इत्याश्रमानुष्ठायिनां पुण्यलोकमभिधाय 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपाद्यते। सेयं ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोककामिन आश्रमिणोऽपि

व्रती वा० (व्रती अथवा अव्रती, स्नातक वा अस्नातक, उत्सन्नाग्नि नष्ट हुई अग्निवाला वा अग्निरहित हो' 'जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन ही संन्यास ग्रहण करे') इस प्रकार गृहस्थाश्रममें अनधिकृतोंके लिए पृथक् संन्यासाश्रमका विधान है। चक्षु आदि सामर्थ्य युक्त व्यक्तियोंके लिए गृहस्थाश्रमकी विधि कल्पनीय नहीं है। कारण कि जाबाल श्रुतिमें संन्यासाश्रमकी प्रत्यक्ष विधिका उपलम्भ होता है, 'ब्रह्मचर्यं समाप्य०' (ब्रह्मचर्याश्रम समाप्तकर गृहस्थ हो, गृहस्थसे वानप्रस्थ होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करे) इससे ऊर्ध्वरेता आश्रम है॥२॥

द्वितीय वर्णकको रचना करते हैं—

सन्देह—पुण्य लोककी अभिलाषा करनेवाला आश्रमी ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर सकता है अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—अवकाशके अनुसार यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसका निषेध नहीं किया गया है।

सिद्धान्त—अनन्यचित्तारूप ब्रह्मनिष्ठा कर्मठमें कैसे हो सकती है? अतः कर्म त्यागी ही ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त कर सकता है अन्य नहीं।

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' यहाँपर आश्रमोंका अधिकार कर 'सर्व एते०' (ये सब पुण्य लोकको प्राप्त करनेवाले होते हैं) इस प्रकार आश्रमोंका अनुष्ठान करनेवालोंके लिए पुण्यलोकोंका अभिधान कर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (ब्रह्मसंस्थ अमृतत्वको प्राप्त होता है) इससे मोक्षके साधनरूपसे ब्रह्मनिष्ठाका प्रतिपादन किया जाता है। यह ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोकगामी आश्रमियोंको भी हो सकती है। क्योंकि वे भी आश्रम कर्मका अनुष्ठान कर

संभाव्यते। आश्रमकर्माण्यनुष्ठाय यथावकाशं ब्रह्मनिष्ठायाः सुकरत्वात्। नहि 'लोककामी ब्रह्म न जानीयात्' इति निषेधोऽस्ति। तस्मादस्ति सर्वस्याऽऽश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठा।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्वव्यापारपरित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्मणि समाप्तिः। न चासौ कर्मशूरे संभवति। कर्मानुष्ठानत्यागयोः परस्परं विरोधात्। तस्मात्कर्मत्यागिन एव ब्रह्मनिष्ठा।

(तृतीये रसतमत्वादीनां ध्येयत्वाधिकरणे सूत्रे)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥ भावशब्दाच्च ॥२२॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात्।
जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥ ७ ॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता ।
उपासीतेतिविध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥ ८ ॥

उद्गीथावयवस्योंकारस्य रसतमत्वादयो गुणाः श्रूयन्ते—'स एष रसानां

अवकाशके अनुसार सुलभतासे ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं। और 'लोकका अभिलाषी ब्रह्मको न जाने' ऐसा कहीं निषेध भी नहीं है। इससे सब आश्रमियोंके लिए ब्रह्मनिष्ठा है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सब व्यापारोंके परित्यागसे अनन्यचित्तसे ब्रह्ममें पर्यवसान होना ब्रह्मनिष्ठा है। वह कर्मशूरमें नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मानुष्ठान और कर्मत्यागका परस्पर विरोध है। इससे कर्मत्यागीके लिए ही ब्रह्मनिष्ठा है ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उद्गीथावयव ओंकारमें कथित रसतमत्व आदि गुण स्तुतिके लिए हैं अथवा ध्यानके लिए ?

पूर्वपक्ष—जैसे 'इयमेव जुहूरादित्यः' (यह पृथ्वी ही जुहू है और आदित्य अवभृथ कूर्म है) इस प्रकार आदित्यरूपसे कर्माङ्ग जुहूकी स्तुति की जाती है, वैसे ही गुणोंका वर्णन होनेसे केवल उद्गीथावयव ऊँकारकी स्तुति है।

सिद्धान्त—अन्य प्रकरणस्थ होनेसे अङ्ग विधिके साथ एकवाक्यता नहीं है और 'उपासीत' इस प्रकार विधिका कथन होनेसे रसतमत्व आदि गुण ध्यानके लिए हैं।

उद्गीथावयव ओंकारके 'स एष०' (यह जो उद्गीथ संज्ञक ओंकार है वह सम्पूर्ण

रसतमः परमः' इत्यादिना । तद्रसतमत्वादिकमोंकारस्य स्तुतिः, न तु ध्यातव्यम् । यथा 'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्लोक आ' इत्यादौ कर्माङ्गभूतानां जुह्वादीनामादित्यादिरूपेण स्तुतिः, तथा रसतमत्वादिगुणैरोंकारस्य स्तुतिः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विषमो दृष्टान्तः । 'जुहूरादित्यः' इत्यादिकं जुहूविधिप्रकरणे पठितत्वात्स्तोत्रमस्तु । रसतमत्वादिकं तूपनिषदि पठितत्वेन कर्मप्रकरणपठितोद्गीथविधिवाक्येनैकवाक्यत्वाभावान्न स्तावकम् । किंतु "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इति संनिहितेन विधिनैकवाक्यत्वाद्रसतमत्वादिकं ध्यातव्यम् ॥ ३ ॥

(चतुर्थे आख्यानस्य विद्यास्तुत्यर्थताधिकरणे सूत्रे)

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥ तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

पारिप्लवार्थमाख्यानं किंवा विद्यास्तुतिस्तुतेः ।
आद्योऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥६॥

भूतादि रसोंमें उत्कृष्ट रसतम है) इत्यादिसे रसतमत्व आदि गुण सुने जाते हैं । वे रसतमत्व आदि गुण ओंकारकी स्तुतिके लिए हैं, ध्यानके लिए नहीं हैं । जैसे—'इयमेव जुहूरादित्यः०' (यह पृथ्वी जुहू है, आदित्य कमनस्य कूर्म-पुरोडाश है और स्वर्गलोक आहवनीय अग्नि है) इत्यादिमें कर्मके अङ्गभूत जुहू आदिकी आदित्यादिरूपसे स्तुति है । वैसे रसतमत्व आदि गुणोंद्वारा ओंकारकी स्तुति है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह विषम दृष्टान्त है, 'जुहूरादित्यः' इत्यादि जुहू विधि प्रकरणमें पठित होनेसे स्तुति है और रसतमत्व आदि तो उपनिषद्में पठित होनेसे कर्म प्रकरणमें पठित उद्गीथ विधि वाक्यके साथ एकवाक्यता न होनेसे स्तावक नहीं है । किन्तु 'ओमित्येतदक्षर०' (ॐ इस प्रकार उद्गीथकी उपासना करे) इस सन्निहित विधिसे एकवाक्यता होनेसे रसतमत्व आदि गुणोंका ध्यान करना चाहिए ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आख्यान पारिप्लवके लिए है अथवा विद्यास्तुतिके लिए ?

---

१. भाष्यकृता तु "इयमेव पृथिवी जुहूः, आदित्यः कूर्मः, स्वर्लोक आहवनीयः" इति पठितम् ।

मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात्।
अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥१०॥

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः" "जनको ह वैदेह आसांचक्रे" इत्यादिकमुपनिषदि श्रूयमाणमाख्यानं पारिप्लवार्थं भवितुमर्हति। अश्वमेधयागे रात्रिषु राजानं सकुटुम्बमुपवेश्य तस्याग्रे वैदिकान्युपाख्यानान्यध्वर्युणा वक्तव्यानि। तदिदं पारिप्लवाख्यं कर्म "पारिप्लवमाचक्षीत" इति वाक्येन विहितम्। तदर्थत्वे सर्वौपनिषदाख्यानान्यनुष्ठानायोपयुज्येरन्। ज्यायोऽनुष्ठानं विद्यास्तुतेः। तस्मात्पारिप्लवार्थम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रथमेऽहनि 'मनुर्वैवस्वतो राजा' द्वितीयेऽहनि 'यमो वैवस्वतो राजा' इत्याद्याख्यानानां पारिप्लवार्थानां विशेषितत्वादौपनिषदानामाख्यानानां तच्छेषत्वं न संभवति। संनिहितविद्यास्तावकत्वे तु विद्यावाक्यैरेकवाक्यता लभ्यते। तस्मात्–विद्यास्तावकमाख्यानम् ॥ ४ ॥

(पञ्चम आत्मज्ञानस्य कर्मानपेक्षत्वाधिकरणे सूत्रम्)

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

पूर्वपक्ष—विद्यास्तुतिकी अपेक्षा कर्मानुष्ठानका अङ्ग मानना श्रेष्ठ है, इससे ये आख्यान पारिप्लवार्थक हैं।

सिद्धान्त—उन आख्यानमें 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इस प्रकार विशेषण होनेसे और यहा विद्याके साथ एकवाक्यता होनेसे विद्याकी स्तुति है।

'अथ ■ याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु.' (याज्ञवल्क्यकी दो भार्याएं थी) 'जनको ह०' (जनक वैदेह थे) इत्यादि उपनिषद्में श्रूयमाण आख्यान पारिप्लवार्थ होने चाहिए, अश्वमेध यागमें राजाको कुटम्ब सहित बैठाकर रातमे उसके सामने अध्वर्युद्वारा वैदिक उपाख्यान कहने चाहिए। यह पारिप्लव नामक कर्म 'पारिप्लवमाचक्षीत' (पारिप्लवको कहे) इस वाक्यसे विहित है। एतदर्थक होनेपर औपनिषद आख्यान अनुष्ठानके लिए उपयुक्त होंगे। विद्यास्तुतिकी अपेक्षा अनुष्ठान श्रेष्ठ भी है, इससे आख्यान पारिप्लवार्थ हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पारिप्लवार्थ जो आख्यान हैं, उनमें प्रथम दिनमें 'मनुर्वैवस्वतो राजा' (विवस्वान्‌का पुत्र मनु राजा) दूसरे दिन 'यमोवैवस्वतो०' (विवस्वान्‌का पुत्र राजा यम) इत्यादि पारिप्लवार्थ आख्यानोको विशेषित किया गया है। इससे औपनिषद आख्यान पारिप्लवार्थ नहीं हो सकते। संनिहित विद्यास्तावक होनेपर तो विद्यावाक्योके साथ एकवाक्यता लक्षित होती है। इससे आख्यान विद्यास्तावक हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा, ह्यपेक्षते ।
अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥ ११ ॥
अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः ।
नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥ १२ ॥

'विमतो ब्रह्मतत्त्वावबोधः स्वफलप्रदाने स्वाङ्गभूतकर्मापेक्षः, अङ्गित्वात् प्रयाजापेक्षदर्शपूर्णमासवत्'। यद्यपि प्रथमाधिकरणे विद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थत्वप्रतिपादनेन कर्माङ्गत्वं निवारितम्, तथाऽप्यङ्गित्वं न निवारितम्। अतो नासिद्धो हेतुः। अतः कर्मापेक्षो बोधः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'विमतं ब्रह्मज्ञानं स्वविरोधिनिवर्त्यनिवर्तनेऽन्यापेक्षं न भवति, प्रकाशत्वात्, दीपवत्, घटज्ञानवच्च।' यदङ्गित्वमुक्तम्। तत्र कर्मणः कीदृशमङ्गत्वमभिप्रेतम्–किं प्रयाजादिवत्फलोपकार्यङ्गत्वम्, उतावघातादिवत्स्वरूपोपकार्यङ्गत्वम्। नाद्यः। मुक्तेः कर्मजन्यत्वेनानित्यत्वप्रसक्तेः। द्वितीये

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आत्मज्ञान अपने फल-मोक्षमें कर्मकी अपेक्षा रखता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—कर्मकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि अङ्गीको अङ्गोंकी अपेक्षा रहती है, प्रयाज आदिमें ऐसा देखा जाता है ।

सिद्धान्त—अविद्या और तमके नाशमें ज्ञान और दीपका नैरपेक्ष्य-स्वातन्त्र्य देखा जाता है, अतः यहाँ भी । मोक्षरूपी फलमें भी विद्या कर्मकी अपेक्षा नहीं रखती ।

'विमत ब्रह्मतत्त्वज्ञान अपने फल प्रदानमें अपने अङ्गभूत कर्मकी अपेक्षा करता है, अङ्गी होनेसे, प्रयाज सापेक्ष दर्श-पूर्णमास आदिके समान ।' यद्यपि प्रथमाधिकरणमें विद्याके स्वतन्त्र पुरुषार्थत्व प्रतिपादनसे कर्माङ्गत्व निवारण किया गया है, तथापि अङ्गित्वका निवारण नहीं किया गया है । अतः असिद्ध हेतु नहीं है । इससे आत्मज्ञान कर्माङ्गकी अपेक्षा रखता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'विमत ब्रह्मज्ञान अपने विरोधी पदार्थके निवर्तनमें अन्यकी अपेक्षा नहीं करता, प्रकाश स्वरूप होनेसे, दीपके समान अथवा घटज्ञानके समान' । जो अङ्गित्व कहा गया है उसपर यह प्रष्टव्य है—कर्ममें कैसा अङ्गत्व अभिप्रेत है ? क्या प्रयाज आदिके समान फलोपकारी अङ्गत्व है अथवा अवघात आदिके समान स्वरूपोपकारी अङ्गत्व ? प्रथम तो युक्त नहीं, क्योंकि मुक्तिको कर्म जन्यत्व होनेसे अनित्यत्वप्रसक्त होगा । द्वितीय पक्षमें-साध्य शून्य दृष्टान्त

साध्यविकलो दृष्टान्तः। अवघातादौ प्रयाजादीनां स्वरूपोपकार्यङ्गत्वाभावात्।
तस्मात्-उत्पन्ना विद्या स्वफलदाने कर्माणि नापेक्षते ॥ ५ ॥

(षष्ठे ज्ञानोत्पत्तौ यज्ञशमदमाद्यपेक्षाधिकरणे सूत्रे)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥ शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते ।
फले यथाऽनपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥ १३ ॥
यज्ञशान्त्यादिसापेक्षं विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् ।
हलेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥ १४ ॥

ब्रह्मविद्या स्वफले यथा कर्माणि नापेक्षते, तथा स्वोत्पत्तावपि। अन्यथा क्वचिदपेक्षते क्वचिन्नापेक्षत इत्यर्धजरतीयन्यायः प्रसज्येत।

इति प्राप्ते ब्रूमः—नार्धजरतीयत्वदोषोऽत्रास्ति। योग्यतावशेनैकस्यैव कार्यविशेषेष्वपेक्षानपेक्षयोरुपपत्तेः। यथा लाङ्गलवहनेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथवहनेऽपेक्ष्यते, तद्वत्। न च विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मापेक्षायां प्रमाणाभावः। "तमेतं

है। अवघात आदिमें प्रयाज आदिका स्वरूपोपाकारी अङ्गत्व नहीं है। इससे उत्पन्न विद्या-आत्मतत्त्वज्ञान अपने मोक्षरूप फल देनेमें कर्मकी अपेक्षा नहीं करती है ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा करता है अथवा अपेक्षा नहीं करता ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मज्ञान जैसे अपने फलमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करता है वैसे अपनी उत्पत्तिमें भी अपेक्षा नहीं करता है।

सिद्धान्त—दो श्रुतियोंके प्रमाणसे यज्ञ शान्ति आदिकी अपेक्षासे ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। जैसे हलमें अनपेक्षित भी अश्व रथमें अपेक्षित होता है।

ब्रह्मविद्या अपने फलमें जैसे कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती, वैसे अपनी उत्पत्तिमें भी कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करेगी अन्यथा कहींपर अपेक्षा करती है और कहींपर नहीं करती इस प्रकार अर्धजरतीय न्याय प्रसक्त होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहाँ अर्धजरतीय दोष नहीं है, क्योंकि योग्यतावश एक ही वस्तुकी कार्य विशेषोंमें अपेक्षा और अनपेक्षा दोनों हो सकती हैं, जैसे हलवहन करनेमें अनपेक्षित भी अश्व रथ वहन करनेमें अपेक्षित है, वैसे

वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृह० ४।४।२२) इति प्रवृत्तिरूपाणां वेदानुवचनादीनां विविदिषोत्पादनद्वारा बहिरङ्गसाधनत्वावगमात् । "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति" (बृह० ४।४।२३) इति निवृत्तिरूपाणां शमदमादीनां विद्योत्पत्तिकालेऽप्यनुवर्तमानतयाऽन्तरङ्गसाधनत्वावगमात् । तस्माद्यज्ञादीनि शमादीनि च विद्या स्वोत्पत्तावपेक्षते ॥६॥

(सप्तम आपदि सर्वान्नभोजनानुज्ञाधिकरणे सूत्राणि)

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥ अबाधाच्च ॥ २९ ॥ अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥ शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाऽथवाऽऽपदि ।
अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्यातुविधीयते ॥ १५ ॥
श्वाद्यन्नभोजनाशक्तेः शास्त्राच्चाभोज्यवारणात् ।
आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥ १६ ॥

विद्याके फलमें अनपेक्षित भी कर्म उसकी उत्पत्तिमें अपेक्षित है। विद्याकी स्वोत्पत्तिमें कर्मकी अपेक्षामें प्रमाणाभाव भी नहीं है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन॰' (ब्राह्मण इस आत्माको स्वाध्याय, यज्ञ, दान, और अनाशक तपसे जाननेकी इच्छा करें) इस प्रकार प्रवृत्तिरूप वेदाध्ययन आदि विविदिषाके उत्पादन द्वारा बहिरङ्ग साधन अवगत होते हैं। 'शान्तो दान्त॰' (अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें—कार्यकरण संघातमें ही आत्माको देखता है) इस प्रकार निवृत्तिरूप शम, दम आदि विद्याके उत्पत्ति कालमें भी अनुवर्तमान होनेसे अन्तरङ्ग साधन अवगत होते हैं। इससे विद्या अपनी उत्पत्तिमें यज्ञ आदि और शम आदिकी अपेक्षा करती है ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—'न ह वा' इत्यादिमें प्राणोपासकके लिए सर्वान्न भक्षणकी विधि है अथवा आपत्कालमें अनुज्ञामात्र है ?

पूर्वपक्ष—अपूर्व होनेसे प्राणोपासकके लिए सर्वान्न भक्षणकी विधि है।

सिद्धान्त—श्वान आदि, और भक्ष्य अन्नके भोजन भक्षणमें अशक्ति होनेसे और शास्त्रसे अभक्ष्य पदार्थका निषेध होनेसे आपत्कालमें प्राणकी रक्षा करनेके लिए सर्वान्न भक्षणकी केवल अनुज्ञा है विधि नहीं है।

प्राणविद्यायां श्रूयते—"न ह वा एवंविदि किंच नानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति । प्राणोपासकेन भोक्तुमयोग्यं न किंचिदस्तीत्यर्थः । तत्र सर्वान्नभोजनस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वात्प्राणोपासकस्य तद्विधीयते ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः, तत्तेऽन्नम्" इति श्वादिभोज्यमन्नमुपासकस्य भोज्यतया विधेयम् । न च तद्विधातुं शक्यम् । यतो भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं सर्वान्नाशनविधौ बाध्येत । तस्मादापदि यावता प्राणरक्षा भवति तावन्मात्रं निषिद्धान्नमप्यनुज्ञायते । अत एव चाक्रायणो मुनिः प्राणात्यये प्राप्ते पर्युषितान्गजतत्पालकोच्छिष्टान्कुल्माषान्भक्षयित्वा शूद्रभाण्डस्थमुदकं न पपौ । तत्रोभयत्र कारणं चावोचत्—'न वा अजीविष्यमिमानखादन्" इति । "कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च । तस्मादापदि सर्वान्नभक्षणमभ्यनुज्ञातम् ॥ ७ ॥

(अष्टमे यज्ञादीनामाश्रमविधोभयहेतुत्वाधिकरणे सूत्राणि)

विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥ सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥ सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥ अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

प्राणविद्यामें 'न ह वा एवंविदि०' (ऐसा जाननेवाले प्राणोपासकके लिए भोजनार्थ कुछ अनन्न अभोज्य नहीं है) ऐसी श्रुति है । 'प्राणोपासकके लिए भोजन करनेके अयोग्य कुछ भी नहीं है, ऐसा अर्थ है । इसमें किसी अन्य प्रमाणसे सर्वान्न भोजनकी अप्राप्ति होनेसे प्राणोपासकके लिए सर्वान्न भक्षणका विधान किया जाता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'यदिदं किञ्चाऽश्वभ्य०' (श्वान, कृमि, कीट, पतङ्ग, पर्यन्त जो कुछ है सब तुम्हारा अन्न है) इस प्रकार श्वान आदि भोज्य अन्न उपासकके लिए भोज्यरूपसे विधेय होगा, परन्तु उसका विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि भक्ष्याभक्ष्य विभाग शास्त्र सर्वान्न भक्षण विधिमें बाधित होगा । इससे आपत्कालमें जितने अन्नसे प्राणरक्षा हो सकती है उतने मात्र निषिद्ध अन्नकी भी अनुज्ञा है, अतएव चाक्रायण मुनिने प्राणनाश प्राप्त होनेपर गज और हस्तिपालकके उच्छिष्ट एवं बासी उडदोंका भक्षण किया, परन्तु शूद्रके भाण्ड-पात्रमें रखा जल नहीं पिया । वहां दोनों स्थलोंमें कारण कहा है—'न वा०' (इन उच्छिष्ट उडदोंको न खाकर मैं जीवित नहीं रह सकता था और जलपान तो मुझे यथेच्छ मात्रामें मिलता है) इससे आपत्कालमें सर्वत्र भक्षणकी अनुज्ञा है ।

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विः प्रयोगोऽथवा सकृत् ।
प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ॥ १७ ॥
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाऽऽश्रमस्तथा ।
अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे मतः ॥ १८ ॥

यानि यज्ञादीनि विद्याहेतुत्वेन विविदिषावाक्ये विहितानि, तान्येवाऽऽश्रमधर्मत्वेन पूर्वकाण्डे विहितानि तेषां प्रयोजनद्वैविध्याद्द्विरनुष्ठानम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यथा श्राद्धार्थभोजनेन तृप्तिर्नान्तरीयकतया सिध्यति, तथा विद्यार्थमनुष्ठितैः कर्मभिराश्रमधर्मः सिध्यतु । न च विद्याहेतूनां काम्यत्वादाश्रमधर्माणां च नित्यत्वात्सकृत्प्रयोगे नित्यानित्यसंयोगविरोध इति वाच्यम् । वचनद्वयबलेनैकस्य कर्मण आकारद्वयोपपत्तेः । यथा 'खादिरो यूपो भवति । खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इत्यत्र वचनद्वयबलेनैकस्य नित्यत्वं काम्यत्वं च तद्वत् । तस्मादुभयविधाना यज्ञादीना सकृदेव प्रयोगः ॥ ८ ॥

सन्देह—विद्याके लिए और आश्रमके लिए दो बार कर्मोंका अनुष्ठान है अथवा एक बार ?

पूर्वपक्ष—प्रयोजनका भेद होनेसे प्रयोगका भी भेद है अर्थात् कर्मोंका दो बार अनुष्ठान है ।

सिद्धान्त—एक बार ही प्रयोग होना चाहिए, जैसे श्राद्धके लिए जो भोजन है उससे तृप्ति भी होगी, वैसे विद्याके लिए अनुष्ठित कर्म आश्रमके लिए भी होगा । 'खादिरो यूपो भवति' खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत, इन उक्तियोंसे जैसे खादिरमें नित्य अनित्य-काम्य संयोग स्वीकृत है, वैसे प्रकृतमें भी नित्यत्वानित्यत्वका विरोध नहीं है ।

विविदिषा वाक्यमें विद्याके हेतुरूपसे जो यज्ञादि विहित हैं, वे ही आश्रमके धर्मरूपसे पूर्वकाण्डमें विहित हैं । अतएव उनका प्रयोजन दो प्रकारका होनेसे उनका अनुष्ठान भी दो बार होना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जैसे श्राद्धके लिए विहित भोजनसे तृप्ति अवश्यंभावी सिद्ध होती है, वैसे विद्याके लिए अनुष्ठित कर्मोंसे आश्रम धर्म सिद्ध होता है । विद्याके हेतु भूत कर्म काम्य हैं और आश्रम धर्म नित्य हैं, उनके सकृत् प्रयोग होनेपर तो नित्यानित्य संयोगका विरोध होगा ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि दो श्रुतियोंके बलसे एक कर्मके भी दो आकार हो सकते हैं । जैसे 'खादिरो यूपो भवति' (खदिर वृक्षका यूप-यज्ञस्तम्भ होता है) 'खादिरं०' (वीर्यकामनावाला खादिर यूप करे) यहाँपर दो वचनोंके बलसे एक कर्ममें नित्यत्व और काम्यत्व है अर्थात् जैसे एक खादिरमें भी नित्य संयोगसे क्रत्वर्थत्व और अनित्य संयोगसे

(नवमेऽनाश्रमिणोऽपि ब्रह्मज्ञानाधिकरणे सूत्राणि)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥ अपि च स्मर्यते ॥३७॥

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥ अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च॥३९॥

दशमाधिकरणमारचयति—

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते ।
धीशुद्धयर्थाश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥ १९ ॥
अस्त्येव सर्वसंबन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः ।
श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥ २० ॥

पूर्वाश्रमं परिसमाप्य केनापि कारणेनोत्तरमाश्रममप्रतिपन्नोऽनाश्रमी, स्नातकविधुरादिः । तस्य तत्त्वज्ञानं न संभाव्यते । बुद्धिशुद्धिहेतोराश्रमित्वस्याभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—संभवत्यनाश्रमिणोऽपि ज्ञानम् । आश्रमनिरपेक्षस्य जपादेर्बुद्धिशुद्धिहेतुत्वात् । 'जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।' इति स्मृतेः । श्रुतेश्च संवर्गविद्यायामधिकारोऽनाश्रमिणो विवाहार्थिनो रैक्वस्य ।

पुरुषार्थत्व है, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए । इसलिए उभयविध यज्ञ आदिका एक बार ही प्रयोग अभीष्ट है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अनाश्रमियोंके लिए ज्ञान है अथवा नहीं है अर्थात् ज्ञानमें अधिकार है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—उस पुरुषका ज्ञानमें अधिकार नहीं है, क्योंकि ऐसे पुरुषमें बुद्धिकी शुद्धताका हेतुभूत आश्रमित्व नहीं है ।

सिद्धान्त—अनाश्रमी पुरुषके लिए भी विद्या सुनी जाती है, क्योंकि सर्व सम्बन्धी जप आदिसे भी बुद्धिकी शुद्धि हो सकती है और यही कारण कि रैक्व आदि अनाश्रमियोंके लिए विद्या है, जप आदिसे इस आश्रममें तो अतिशुद्धता ही है ।

पूर्वाश्रमको परिसमाप्तकर किसी भी कारणसे उत्तर आश्रम न प्राप्त करनेवाला अनाश्रमी है । ऐसे स्नातक, विधुरादि हैं । उनके लिए तत्त्वज्ञानकी संभावना नहीं है । क्योंकि चित्त शुद्धिका हेतु आश्रमित्व उनमें नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अनाश्रमीको भी ज्ञान हो सकता है, क्योंकि आश्रम निरपेक्ष जपादि बुद्धि शुद्धिके हेतु हैं । 'जप्येनैव तु०' (ब्राह्मण जपसे ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है) विवाहार्थी अनाश्रमी रैक्वका संवर्गविद्यामें अधिकार सुना जाता है । एवं आश्रम रहित गार्गी

एवमाश्रमरहिता गार्ग्यादय उदाहार्याः। न चैवं सत्याश्रमवैयर्थ्यम्। शुद्धचतिशयहेतुत्वात्। तस्मादनाश्रमिणोऽपि संभवत्येव ज्ञानम् ॥ ६ ॥

(दशम आश्रमाणामवरोहनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

दशमाधिकरणमारचयति—

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा, रागात्स विद्यते।
पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथाऽऽरोहस्तथैच्छिकः ॥ २१ ॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः।
आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥ २२ ॥

'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इत्याश्रमाणामारोहो यथेच्छाधीनो भवति, तथा 'पारिव्राज्याद्वनस्थः' इत्याद्यवरोहोऽपि क्वचिद्रागवशात्क्वचित्पूर्वाश्रमधर्मश्रद्धावशाच्च युक्तः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—रागस्तावन्मिथ्याज्ञानमूलत्वादतिनिषिद्धः। न च पूर्वाश्रमधर्मे श्रद्धा युज्यते। उत्तराश्रमिणं प्रत्यविहितत्वेन धर्मत्वाभावात्। न हि यो येनानुष्ठातुं शक्यते श्रद्धीयते च, स तस्य धर्मो भवति। किं तर्हि यो यं प्रति विहितः,

आदि उदाहरणके योग्य हैं, ऐसा होनेपर भी आश्रम व्यर्थ नहीं है, क्योंकि आश्रम चित्त शुद्धिके अतिशयका हेतु है, इससे अनाश्रमीको भी तत्त्वज्ञान हो सकता है ॥ ६ ॥

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आश्रमोंका अवरोह-च्युति हो सकता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—आश्रमोंका अवरोह रागसे या पूर्वाश्रमके धर्ममें श्रद्धासे हो सकता है। जैसे ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंका आरोह ऐच्छिक है, वैसे अवरोह भी ऐच्छिक है।

सिद्धान्त—*राग अतिनिषिद्ध है और विहित ही धर्म है, इसलिए आरोह नियमके* कथन आदिसे अशास्त्रीय अवरोह नहीं होता।

'ब्रह्मचर्यं समाप्य०' (ब्रह्मचर्य आश्रमको समाप्तिकर गृहस्थाश्रमी हो, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थी होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करे) इस प्रकार आश्रमोंका आरोह जैसे इच्छाके अधीन है, वैसे 'संन्यासाश्रमसे पुनः वानप्रस्थ हो' इत्यादि अवरोह भी कहींपर रागसे और कहींपर पूर्वाश्रम धर्ममें श्रद्धासे होना युक्त है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—राग तो मिथ्याज्ञान मूलक होनेसे अतिनिषिद्ध है। पूर्वाश्रमधर्ममें श्रद्धाका होना युक्त नहीं है, क्योंकि उत्तर आश्रमीके प्रति अविहित होनेसे धर्म नहीं है। जो जिसका अनुष्ठान कर सकता है और जिसमें श्रद्धा करता है वह उसका धर्म नहीं हो सकता है, किन्तु जो जिसके प्रति विहित

स तस्य धर्मः। किंच "ततो न पुनरेयात्" इत्यवरोहनिषेधेनाऽऽरोहो नियम्यते। न चाऽऽरोहवदवरोहेऽपि शिष्टाचारो विद्यते। तस्मान्नास्त्यवरोहः ॥ १० ॥

(एकादश ऊर्ध्वरेतसः पातित्ये प्रायश्चित्ताधिकरणे सूत्रे)

न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा।
प्रदर्शनोक्तेर्नास्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥ २३ ॥
उपपातकमेवैतद्व्रतिनो मधुमांसवत्।
प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥ २४ ॥

नैष्ठिकब्रह्मचर्यादूर्ध्वरेतस्त्वं प्राप्तस्य पुनः स्त्रीसङ्गेन भ्रष्टस्य प्रायश्चित्तं नास्ति।

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा ॥

इति प्रायश्चित्तादर्शनवचनात्। "अथ यो ब्रह्मचारी स्त्रीमुपेयात्, स गर्दभं

है वही उसका धर्म है। किंच 'ततो न० (उससे पुनः हटे नहीं) इस प्रकार अवरोहके निषेधसे आरोहका नियमन होता है। और आरोहके समान अवरोहमें शिष्टाचार भी नहीं है, इससे उत्तराश्रमसे अवरोह नहीं है ॥ १० ॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ऊर्ध्वरेतामें भ्रष्ट अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्याश्रमसे भ्रष्टके लिए प्रायश्चित्त है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—प्रायश्चित्त नहीं है, प्रायश्चित्तके अभावका कथन है, जो प्रायश्चित्त गर्दभ पशुका आलभन है, वह व्रती—उपकुर्वाण ब्रह्मचर्याश्रमीके लिए है।

सिद्धान्त—व्रतीका मद्य, मांस भक्षण जैसे उपपातक है, वैसे यह भी उपपातक ही है महापातक नहीं है, इसलिए प्रायश्चित्तरूप संस्कारसे उसकी शुद्धि हो सकती है और प्रायश्चित्तका अभाव बोधक वचन है वह यत्नपर-स्वल्प यत्न साध्य प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु अधिक यत्न साध्य है।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे ऊर्ध्वरेतस्त्वको प्राप्त हुए और कदाचित् स्त्री प्रसङ्गसे भ्रष्ट हुएके लिए प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि—'आरूढो नैष्ठिक०' (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धर्मको प्राप्तकर जो पुनः भ्रष्ट हो तो उसका प्रायश्चित्त नहीं देखता हूँ जिससे वह आत्मघाती शुद्ध हो) इस प्रकार प्रायश्चित्तका अदर्शनवचन है। 'अथ यो ब्रह्मचारी० (जो ब्रह्मचारी स्त्री

पशुमालभेत" इत्यस्ति प्रायश्चित्तमित्युच्यते। तन्न। तस्य प्रतिविषयत्वात्। उपकुर्वाणकाख्यो यो वेदाध्ययनाङ्गत्वेन ब्रह्मचर्यव्रतमनुतिष्ठति, तद्विषयमिदं प्रायश्चित्तवचनम्। तस्मादूर्ध्वरेतस्त्वाद्भ्रष्टस्य नास्ति प्रायश्चित्तम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—यथोपकुर्वाणकस्य मधुमांसभक्षणमुपपातकमिति प्रायश्चित्तं पुनः संस्कारो विद्यते, तद्वदूर्ध्वरेतसोऽपि गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र प्रवृत्तिरुपपातकमेव न तु महापातकम्[1]। ततः प्रायश्चित्तात्पुनःसंस्काराच्च शुद्धिर्भवति। यदि महापातकेष्वपरिगणितत्वेनोपपातकत्वमाश्रित्य प्रायश्चित्तमुच्यते, तर्ह्यदर्शनवाक्यस्य का गतिरिति चेत्। 'यत्नपरं तद्वाक्यम्' इति ब्रूमः। अत एव 'प्रायश्चित्तं न च पश्यामि' इत्याह, न तु 'नास्ति' इति। प्रायश्चित्तं तु गर्दभपशुरेव। ब्रह्मचारित्वस्य समानत्वात्। तथा वनस्थपरिव्राजकयोरपि भ्रंशे प्रायश्चित्तं स्मर्यते—'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्। भिक्षुर्वनस्थवत्सोमवृद्धिवर्जम्' इति। कक्षवृद्धिर्वनवासः। सोमवृद्धिरपि स एव ॥ ११ ॥

प्रसङ्ग करे तो वह गर्दभ पशुका आलभन करे) इस प्रकार प्रायश्चित्त है, ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वह व्रती विषयक है। जो वेदाध्ययनके अङ्गरूपसे उपकुर्वाण नामक ब्रह्मचर्यव्रतका अनुष्ठान करता है, तद्विषयक यह प्रायश्चित्तवचन है। इससे ऊर्ध्वरेतस्त्वसे भ्रष्ट हुएके लिए प्रायश्चित्त नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जैसे उपकुर्वाणके लिए मद्य मांस भक्षण उपपातक है और उसका पुनः प्रायश्चित्तरूप संस्कार है, वैसे ऊर्ध्वरेताकी भी यदि गुरु स्त्रीसे अन्यत्र प्रवृत्ति है तो वह उपपातक है महापातक नहीं है, इसलिए उनकी प्रायश्चित्तरूप संस्कारसे शुद्धि हो सकती है। यदि महापातकोंमें परिगणन न होनेसे उपपातकका आश्रयकर प्रायश्चित्त कहते हो, तो अदर्शन वाक्यकी क्या व्यवस्था होगी? ऐसा कहो तो हम कहते हैं 'यत्नपरं तद्वाक्यम्' अदर्शन वाक्य यत्नपरक है। अतएव 'प्रायश्चित्त नहीं देखता हूँ' ऐसा कहा है, नहीं है, ऐसा नहीं कहा है। प्रायश्चित्त तो गर्दभ पशु ही है। क्योंकि दोनोंमें ब्रह्मचारित्व समान है। वैसे वानप्रस्थ और परिव्राजकके भ्रष्ट होनेमें 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे०' (वानप्रस्थ दीक्षासे भ्रष्ट होनेपर द्वादशरात्र कृच्छ्र व्रतकर बहुत तृण और वृक्षवाले प्रदेशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे' भिक्षु भी वानप्रस्थके समान सोमलताको छोड तृण और वृक्षवाले प्रदेशकी जलदानसे

---

१. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति' (छा० ५।१०।९) 'सुवर्ण चोर, सुरापान, गुरु स्त्रीगमन, ब्रह्महत्या, ये चार पतित होते हैं, पञ्चम वह है जो इनका सङ्ग करता है)

(द्वादशे भ्रष्टस्य कृतप्रायश्चित्तस्याप्यव्यवहार्यताधिकरणे सूत्रम्)

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः ।
उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥ २५ ॥
आमुष्मिक्येव शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् ।
प्रायश्चित्तादर्शवाक्यादशुद्धिस्त्वैहिकोच्यते ॥ २६ ॥

पूर्वोक्तप्रायश्चित्तापादितशुद्ध्यन्यथानुपपत्त्या कृतप्रायश्चित्तस्य शिष्टैः सह व्यवहारोऽस्ति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आमुष्मिकशुद्धिसद्भावेऽपि प्रायश्चित्तादर्शनवचनादैहिकशुद्ध्यभावाच्छिष्टैरेष न व्यवहार्यः ॥ १२ ॥

(त्रयोदश ऋत्विक्कर्तृकाङ्गध्यानस्य स्वामिगामित्वाधिकरणे सूत्राणि)

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥ आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥ श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

वृद्धि करे) इस प्रकार प्रायश्चित्तकी स्मृति है । कसोकी वृद्धि वनवास है, सोमवृद्धि भी वही है ॥ ११ ॥

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्रायश्चित्तसे शुद्ध हुए ब्रह्मचारी आदि शिष्टों द्वारा उपादेय हैं अथवा त्याज्य हैं ?

पूर्वपक्ष—दोषकी निवृत्ति होनेसे वे ग्रहण योग्य हैं । अन्यथा प्रायश्चित्तकृत शुद्धि व्यर्थ होगी ।

सिद्धान्त—उसकी पारलौकिक शुद्धि होती है, इससे शिष्टलोग उसका त्याग करते हैं, उसकी ऐहिक शुद्धि नहीं है, क्योंकि 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' ऐसा वाक्य है ।

पूर्वोक्त प्रायश्चित्तसे संपादित शुद्धि अन्यथा अनुपपत्तिसे कृत प्रायश्चित्तका शिष्टपुरुषोंके साथ व्यवहार हो सकता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उसकी पारलौकिक शुद्धि होनेपर भी प्रायश्चित्तके अदर्शन वाक्यसे ऐहिक शुद्धि न होनेके कारण शिष्टपुरुष उसके साथ व्यवहार नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विजं वा यतः फलम् ।
ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥ २७ ॥
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विजत्वं स्फुटं श्रुतम् ।
क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥ २८ ॥

अङ्गावबद्धेषूपासनेषु यजमान एवानुष्ठाता, नर्त्विजः । ध्यातुः फलश्रवणात् । फलं तु यजमानस्यैवोचितम् । स्वामित्वात् । तस्मात्फलिनो यजमानस्यैव ध्यातृत्वम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"एवंविदुद्गाता ब्रूयात्" इति वाक्यशेषे उद्गातुरुपासकत्वं स्पष्टं श्रूयते । युक्तं चैतत् । ऋत्विजामशेषकर्मानुष्ठानाय यजमानेनक्रीतत्वात् । तस्मादृत्विग्भिः कृतं यजमानेनैव कृतमिति फलित्वोपपत्तेरुपासनमृत्विजा कर्म ॥ १३ ॥

(चतुर्दशे मौनस्य विधेयत्वाधिकरणे सूत्राणि)

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥ कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

सन्देह—अङ्गोपासनाका अनुष्ठान कर्ता यजमान है अथवा ऋत्विक् ?

पूर्वपक्ष—उन उपासनाका अनुष्ठानकर्ता यजमान है, क्योंकि तज्जन्यफल ध्यान करनेवालेके लिए सुना जाता है ।

सिद्धान्त—'एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' इस वाक्यमें स्पष्टरूपसे अङ्गोपासनाओंका कर्ता ऋत्विक् कहा गया है, ऋत्विक्‌दक्षिणासे खरीदा गया है, अतः उससे किये गये अनुष्ठानका फल यजमानको होगा ।

कर्माङ्गोंसे सम्बन्धित उपासनाओंका अनुष्ठाता यजमान ही है ऋत्विक् नहीं' क्योंकि ध्याताके लिए फलका श्रवण है, फल तो यजमानके लिए ही उचित है, कारण कि वह उनका स्वामी है । इससे फलवाला यजमान ही ध्याता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' (इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता कहे) इस प्रकारके वाक्यशेषमें उद्गाताका उपासकरूपसे स्पष्ट श्रवण है । और यह ठीक भी है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिए यजमानसे ऋत्विक् लोगोंका परिक्रयण किया गया है । इससे ऋत्विक्‌से किया गया कर्म यजमानसे ही किया गया है, इस प्रकार फलाश्रयरूपसे यजमानकी उपपत्ति होती है । इसलिए उपासनारूप कर्म ऋत्विजोंका है यजमानका नहीं ॥ १३ ॥

चतुर्दश अधिकरणकी रचना करते हैं—

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते ।
प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥ २९ ॥
निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् ।
विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥ ३० ॥

कहोलब्राह्मणे श्रूयते—"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" (बृह० ३।५।१) इति । अस्यायमर्थः—यस्माद्ब्रह्मभावः परमपुरुषार्थस्तस्माद्ब्रह्म बुभुत्सुरुपनिषत्तात्पर्यनिर्णयरूपं पाण्डित्यं निःशेषेण संपाद्य बालवन्नीरागद्वेषत्वेन युक्तोऽसंभावनानिराकरणाय युक्तिरनुचिन्तयन्नवस्थातुमिच्छेत् । ततः पाण्डित्यबाल्ये निःशेषेण संपाद्याथ मुनिरिति । तत्र 'भवेत्' इति विध्यश्रवणान्मुनित्वं न विधेयम् । न च विधिः कल्पयितुं शक्यः । पाण्डित्यशब्देन प्राप्तस्य मौनस्यापूर्वार्थत्वाभावात् । पण्डितस्य विदुषो भावः पाण्डित्यमिति ज्ञानवाचकोऽयं शब्दः । तथा मुनिशब्दोऽपि । 'मन ज्ञाने' इत्यस्माद्धातोस्तन्निष्पत्तेः । तस्मात्प्राप्तस्य मौनस्य नैव विधिकल्पनम् ।

सन्देह – मौन विधेय है अथवा अविधेय है ?

पूर्वपक्ष—मौनका विधान नहीं है, क्योंकि वह तो पाण्डित्यसे ही प्राप्त है, कारण कि पाण्डित्य और मौन दोनों ज्ञानवाची हैं ।

सिद्धान्त—निरन्तर ज्ञाननिष्ठा रूप मौन पाण्डित्यसे पृथक् है । इससे भेददृष्टिके प्रबल होनेपर उसकी निवृत्तिके लिए उसका विधान आवश्यक है ।

कहोलब्राह्मणमें 'तस्माद्ब्राह्मणः' (अतः ब्राह्मण आत्मज्ञानका पूर्णतया संपादनकर आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे, पुनः बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्तकर वह मुनि होता है) ऐसी श्रुति है । इसका यह अर्थ है—चूँकि ब्रह्मभाव परम पुरुषार्थ है, इसलिए ब्रह्मभावकी इच्छा करनेवाला उपनिषद् तात्पर्यका निर्णयरूप पाण्डित्य पूर्णरूपसे सम्पादनकर बालकके समान राग द्वेष, रहित रूपसे युक्त होकर असम्भावना निराकरणके लिए युक्तियोंका अनुचिन्तन करता हुआ अवस्थित होनेकी इच्छा करे । अनन्तर बाल्य और पाण्डित्यका सम्पादनकर 'अथ मुनि' इससे 'भवेत्' (हो) इस प्रकार विधिके अश्रवण होनेसे मुनित्व विधेय नहीं है, विधिकी कल्पना करनेके लिए भी समर्थ नहीं है, क्योंकि पाण्डित्य शब्दसे प्राप्त मौनमें अपूर्वार्थत्व नहीं है । विद्वान् पण्डितका भाव पाण्डित्य है, इससे यह पाण्डित्य शब्द ज्ञानका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकार मुनि शब्द भी 'मन ज्ञाने' इस धातुसे निष्पन्न हुआ है । इसलिए प्राप्त मौनमें विधिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पूर्वोक्तस्य पाण्डित्यस्य पुनर्मुनिशब्देनाभिधाने प्रयोजनाभावान्निरन्तरज्ञाननिष्ठाऽपूर्वार्थो मुनिशब्देन विवक्षितः। ततः 'तिष्ठासेत्' इति पदानुवृत्त्या विधिर्लभ्यते। अस्ति च ज्ञाननैरन्तर्येण प्रयोजनम्। प्रबलभेदवासनावासितस्य तन्निवृत्त्यर्थत्वात्। तस्मान्निदिध्यासनात्मकं मौनं विधेयम् ॥ १४ ॥

(पञ्चदशे भावशुद्धेरेव बाल्यशब्दाभिधेयताधिकरणे सूत्रम्)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

पञ्चदशाधिकरणमारचयति—

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः।
वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ॥ ३१ ॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता।
अत्यन्तानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥

"बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र बालस्यभावो बाल्यमिति प्रसिद्ध्या वयो भवेत्ः अथ तस्य विध्यनर्हत्वम्, तर्हि बालस्य कर्मेति व्युत्पत्त्या कामचारादिकमस्तु। सर्वथा धीशुद्धिर्न बाल्यम्।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पूर्वोक्त पाण्डित्यका मुनिशब्दसे अभिधान होनेपर प्रयोजनके न होनेसे निरन्तर ज्ञाननिष्ठारूप अपूर्वार्थ मुनिशब्दसे विवक्षित है। इसलिए 'तिष्ठासेत्' (स्थित होनेकी इच्छा करे) इस पदकी अनुवृत्तिसे विधि प्राप्त होती है। ज्ञानके नैरन्तर्यसे प्रयोजन भी है। क्योंकि प्रबल भेदभावनासे वासित पुरुषमें उसकी निवृत्तिके लिए है। इससे निदिध्यासनात्मक मौन विधेय है ॥१४॥

पंचदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—बाल्यशब्दसे वय, कामाचार अथवा अन्तःकरण शुद्धिका ग्रहण है ?

पूर्वपक्ष—बालका भाव बाल्य यह प्रसिद्ध है, अतः बाल्य-शब्दसे अवस्थाका ग्रहण है, यदि उसे अविधेय माने तो कामाचार-यथेष्ट प्रवृत्तिका ग्रहण उचित है। किन्तु अन्तःकरणकी शुद्धिका ग्रहण नहीं है।

सिद्धान्त—मननमें उपयुक्त होनेसे भावशुद्ध बुद्धिकी शुद्धि ही विवक्षित है परन्तु अत्यन्त अनुपयोगी और विरुद्ध होनेसे अवस्था और कामाचार दोनोंका ग्रहण नहीं करना चाहिये।

'बाल्येन तिष्ठासेत्' (बालभावसे रहे) यहांपर 'बालका भाव बाल्य' इस लोकप्रसिद्धिसे अवस्था होगी। यदि कहो कि वह विधिके योग्य नहीं है, तो 'बालका कर्म बाल्य' इस व्युत्पत्तिसे कामाचार आदि होंगे। सर्वथा बुद्धिकी शुद्धि बाल्य नहीं है।

इति प्राप्ते ब्रूमः—पाण्डित्यमौनाख्ययोः श्रवणनिदिध्यासनयोर्मध्ये मननं विधेयत्वेन श्रुत्या विवक्षितम्। तस्य च भावशुद्धिरुपयुक्ता, रागद्वेषमानापमानादिदोषप्रस्तत्वेन बहिःप्रवृत्तिमपरित्यज्य मन्तुमशक्यत्वात्। बालस्य कर्मेति व्युत्पत्तिस्तु यथेच्छाचारे, भावशुद्धौ च समाना। वयःकामचारौ तु मननस्यात्यन्तमनुपयुक्तौ। प्रत्युत विरोधिनौ। मूढस्य बहिःप्रवृत्तस्य वा मनसो मननविनाशकत्वात्। तस्मात्-भावशुद्धिरेव बाल्यं नेतरदुभयम् ॥ १५ ॥

(षोडश-आत्मज्ञानस्यैहिकामुष्मिकत्वव्यवस्थाधिकरणे सूत्रम्)

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

षोडशाधिकरणमारचयति—

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा, नियम्यते।
तथाऽभिसंधेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ॥ ३३ ॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा।
श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ॥ ३४ ॥

श्रवणमनननिदिध्यासनेष्वनुष्ठीयमानेष्वस्मिन्नेव जन्मनि ज्ञानं जायत इति

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—पाण्डित्य और मौन नामक श्रवण और निदिध्यासनके मध्यमें मनन विधेयरूपसे श्रुतिसे विवक्षित है। उसके लिए तो भावशुद्धि उपयुक्त है। क्योंकि राग द्वेष, मान-अपमान आदि दोष ग्रस्त बाह्य प्रवृत्तिके परित्यागके बिना मनन नहीं हो सकता है। 'बालका कर्म' यह व्युत्पत्ति यथेच्छाचार और भाव शुद्धिमें समान है, अवस्था और कामाचार तो मननमें अत्यन्त अनुपयुक्त हैं, प्रत्युत विरोधी हैं। क्योंकि बहिप्रवृत्त या मूढ-मन मननका विनाशक है। इससे भाव शुद्धि ही बाल्य है अर्थात् बाल्य शब्दसे ग्राह्य है, किन्तु अन्य दो-अवस्था और कामाचार नहीं ॥१५॥

षोडश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—श्रवण आदिके अनुष्ठान करनेपर नियमसे इसी जन्ममें ज्ञान होता है, वा इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें ज्ञान होता है, इस प्रकार विकल्प है।

पूर्वपक्ष—इसी जन्ममें नियमतः ज्ञान होगा, क्योंकि 'इसी जन्ममें मुझे ज्ञान हो' इस प्रकार अभिलाषाकर पुरुष प्रवृत्त होता है और यज्ञ आदि विविदिषाके उत्पादनमें ही चरितार्थ हैं।

सिद्धान्त—प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्ममें ज्ञान होगा अन्यथा जन्मान्तरमें, क्योंकि 'श्रवणाय' इत्यादि शास्त्र है और वामदेवका उद्भव भी है। अतः विकल्प है। अनुष्ठीयमान श्रवण मनन और निदिध्यासनके होनेपर इसी जन्ममें ज्ञान उत्पन्न

नियम्यते, न त्विह वा जन्मान्तरे वेति कालविकल्पः। कुतः। श्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य ज्ञानेच्छाया ऐहिकज्ञानोत्पत्तिविषयत्वात्। 'इहैव मे विद्या जायताम्' इत्यभिसंधाय पुरुषः प्रवर्तते। न चादृष्टफलानां यज्ञादीनां तत्साधनत्वेन स्वर्गवज्जन्मान्तरे ज्ञानोत्पत्तिः शङ्कनीया। श्रवणादिप्रवृत्तेः प्रागेव विविदिषामुत्पाद्य यज्ञादीनां चरितार्थत्वात्। तस्मात्–ऐहिकत्वेन ज्ञानोत्पत्तिर्नियम्यते।

इति प्राप्ते ब्रूमः—असति प्रतिबन्धे ज्ञानमिहैव संभवति। सति तु प्रतिबन्धेऽप्यनुष्ठितैः श्रवणादिभिर्जन्मान्तरे ज्ञानमुत्पद्यते। प्रतिबन्धश्च बहुविधः श्रूयते—

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः'। (कठ० २।७)

इति, न च पूर्वजन्मानुष्ठितैः श्रवणादिभिर्जन्मान्तरे ज्ञानोत्पत्तिर्न दृष्टचरी। वामदेवस्य गर्भ एवावस्थितस्य ज्ञानोत्पत्तिश्रवणात्। "गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" इति श्रुतेः। तस्मात्–इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिः॥ १६॥

होता है, ऐसा नियम है। इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें ज्ञान होगा। इस प्रकार काल विकल्प नहीं है, क्योंकि श्रवण आदिमें प्रवृत्त पुरुषकी ज्ञानेच्छा ऐहिक ज्ञानोत्पत्ति विषयक है 'इसी जन्ममें मुझे विद्या हो' इस प्रकारका अभिसंधानकर पुरुष श्रवण आदिमें प्रवृत्त होता है। अदृष्टफलवाले यज्ञ आदिके तत्साधक होनेसे स्वर्गके समान जन्मान्तरमें ज्ञानोत्पत्ति होगी। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रवण आदिमें प्रवृत्तिके पूर्व ही विविदिषाको उत्पन्नकर यज्ञ आदि चरितार्थ हैं। इसलिए इसी जन्ममें ज्ञानोत्पत्ति होगी ऐसा नियम है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्ममें ज्ञान हो सकता है। प्रतिबन्ध हो तो इस जन्ममें अनुष्ठित श्रवण आदिसे जन्मान्तरमें ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानोत्पत्तिमें अनेक-विध प्रतिबन्ध सुने जाते हैं—

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' (जो आत्मा बहुतोंके श्रवणके लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है। बहुतसे श्रवण करते हुए भी जिस आत्माको नहीं समझते, उस आत्मतत्वका निरूपणकर्ता भी आश्चर्य रूप है। उसे प्राप्त करनेवाला भी निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है) पूर्व जन्ममें अनुष्ठित श्रवण आदिसे अन्य जन्ममें ज्ञानोत्पत्ति नहीं देखी जाती। तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि गर्भमें ही स्थित वामदेवको ज्ञानोत्पत्ति सुनी जाती है।

(सप्तदशे मुक्तेरेकविधत्वाधिकरणे सूत्रम्)

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

सप्तदशाधिकरणमारचयति—

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद्ब्रह्मलोकवत् ।
स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयेव हि ॥ ३५ ॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् ।
अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य च ॥ ३६ ॥

यथा ब्रह्मलोकाख्यं फलं सालोक्यसारूप्यसामीप्यसार्ष्टिभेदेन चतुर्विधम् । तत्र सार्ष्टिर्नाम चतुर्मुखेन समानैश्वर्यत्वम् । यथा वा "कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्" इति न्यायेन स्वर्गो बहुविधः । तथा मुक्तिरपि फलत्वाविशेषात्सातिशया । इति प्राप्ते ब्रूमः—मुक्तिर्नाम निजसिद्धब्रह्मस्वरूपमेव न तु स्वर्गवदागन्तुकं किंचिद्रूपमिति वक्ष्यते । ब्रह्म चैकविधत्वेन श्रुतं निर्णीतं च । तस्माच्चतुर्मुखस्य मनुजस्य वा मुक्तिरेकविधैव । सालोक्यादिविशेषस्तु जन्यरूपत्वादुपासनातारतम्येन सातिशयो भविष्यति । मुक्तिस्तु न तादृशीति सिद्धम् ॥ १७ ॥

'गर्भ एवैतच्छयानो' (गर्भमें ही शयन किया हुआ वामदेवने ऐसा कहा) ऐसी श्रुति है । इससे इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें ज्ञानोत्पत्ति होती है । ऐसा विकल्प है ॥१६ ॥

सप्तदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—मुक्ति सातिशय है अथवा निरतिशय ?

पूर्वपक्ष—फल होनेसे ब्रह्मलोक अथवा स्वर्गके समान मनुष्य भेदसे मुक्ति सातिशय ही है ।

सिद्धान्त—ब्रह्म ही मुक्ति है, सातिशय ब्रह्म कहींपर भी श्रुत नहीं है । अतएव ब्रह्मा और मनुष्यकी मुक्ति एक प्रकारकी होती है ।

जैसे ब्रह्मलोक नामक फल सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टि भेदसे चार प्रकारका है । उनमें सार्ष्टि नाम चतुर्मुख ब्रह्माके समान ऐश्वर्यत्व है अथवा जैसे 'कर्माधिक्यसे फलाधिक्य होता है । इस न्यायसे स्वर्ग अनेक विध है । वैसे ही मुक्ति भी फल अविशेष होनेसे सातिशय है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—मुक्ति स्वतःसिद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है, वह स्वर्गके समान कुछ भी आगन्तुकरूप नहीं है, ऐसा कहेंगे, ब्रह्म तो एक प्रकारका ही श्रुत और निर्णीत है, इसमें चतुर्मुख ब्रह्मा और मनुष्यकी मुक्ति एक प्रकारकी है । सालोक्य आदि विशेष तो जन्यरूप होनेसे उपासनाके तारतम्यसे सातिशय ही होगा किन्तु मुक्ति तो वैसी नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

	अत्र पादे	आदितः ।
अधिकरणानि	१७	१५४
सूत्राणि	५२	४७८

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः

(अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम्)

(इस फलाध्यायके प्रथम पादमें जीवन्मुक्तिका निरूपण है)

(प्रथमे श्रवणमननादीनामावृत्त्यधिकरणे सूत्रे)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादस्य प्रथमाधिकरणमारचयति—

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः ।
शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥ १ ॥
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् ।
दृष्टेऽत्र संभवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥ २ ॥

इति श्री भारतीतीर्थमुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके तृतीयाध्यायके चतुर्थ पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ४ ॥

चतुर्थाध्यायके प्रथम पादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—श्रवण आदि एकबार ही करने चाहिए अथवा आवृत्ति-अनेक वार करने चाहिए ?

पूर्वपक्ष—श्रवण आदि एकबार ही करने चाहिए, क्योंकि तावन्मात्रसे ही शास्त्रका प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, प्रयाज आदि एकबार ही किये जाते हैं।

सिद्धान्त—आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त श्रवण आदिकी आवृत्ति करनी चाहिए, जैसे तण्डुलोंकी निष्पत्ति होने तक अवघात-कूटना किया जाता है। यहां साक्षात्काररूप दृष्टफलके संभव होनेपर पण्डित लोग अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं करते हैं।

"सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः" इति न्यायेन श्रवणादीनां प्रयाजादिवत्सकृदेवानुष्ठानम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—उक्तन्यायस्यादृष्टफलविषयत्वात्। अत्र ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणस्य दृष्टफलस्य संभवात्। 'दृष्टे संभवत्यदृष्टं न कल्पनीयम्' इति न्यायेनावघातवत्फलसिद्धिपर्यन्तं श्रवणाद्यावर्तनीयम् ॥ १ ॥

(द्वितीय आत्मत्वेन ब्रह्मणो ग्रहणाधिकरणे सूत्रम्)

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा।
अन्यत्वेन विजानीयाद्दु:खदु:खिविरोधतः ॥ ३ ॥
औपाधिको विरोधोऽत्र आत्मत्वेनैव गृह्यताम्।
गृह्णन्त्येवं महावाक्ये स्वशिष्यान्ग्राहयन्ति च ॥ ४ ॥

यच्छास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म तज्जीवेन ज्ञात्रा स्वव्यतिरिक्ततया ग्रहीतव्यम्। दु:खदु:खिनोर्जीवब्रह्मणोरेकत्वविरोधात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'वस्तुतो ब्रह्मस्वरूपस्यैव सतो जीवस्यान्तःकरणोपाधिकृतो

'सकृत्कृते कृतशास्त्रार्थः' (एक बार करनेसे शास्त्रका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है) इस न्यायसे प्रयाज आदिके समान एकबार ही श्रवण आदिका अनुष्ठान करना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उक्त न्याय अदृष्टफल विषयक है अर्थात् जहां अदृष्टफल हो उस स्थलके लिए है। परन्तु यहां तो ब्रह्म साक्षात्काररूप दृष्टफलका संभव होनेसे 'दृष्टफलके संभव होनेपर अदृष्टफलकी कल्पना नहीं करनी चाहिए' इस न्यायसे अवघातके समान फलसिद्धि पर्यन्त श्रवण आदिकी आवृत्ति करनी चाहिए ॥१॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ज्ञातासे स्वभिन्नरूपसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए अथवा स्वस्वरूपसे ?

पूर्वपक्ष—भिन्नरूपसे ही ब्रह्मको जानना चाहिए, क्योंकि दु:खी और सुखी अत्यन्त विरुद्ध हैं।

सिद्धान्त—सुखी और दु:खी रूपसे ब्रह्म और जीवका विरोध तो औपाधिक है, इसलिए आत्मरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, इससे तत्त्ववेत्ता महावाक्योंसे आत्मत्वेन ब्रह्मका ग्रहण करते हैं और अपने शिष्योंको भी ग्रहण कराते हैं।

जो शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म है, वह ज्ञाता जीव द्वारा स्वभिन्नरूपसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दु:खी-सुखी जीव और ब्रह्मका एकत्व विरुद्ध है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही जीव

दुःखित्वादिसंसारधर्मः' इति वियत्पादे (ब्र० सू० अ० २ पा० ३) जीवविचारे प्रपञ्चितम्। अतो वास्तवविरोधाभावादात्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्यताम्। अत एव 'अहं ब्रह्मास्मि' अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिमहावाक्यैस्तत्त्वविद आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्णन्ति। तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादिमहावाक्ये स्वशिष्यान्ग्राहयन्त्यपि। तस्मादात्मत्वेनैव ब्रह्म ग्रहीतव्यम् ॥ २ ॥

(तृतीये प्रतीकेऽहंदृष्टिनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति न वा, ब्रह्माविभेदतः।
जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराऽहंदृष्टिरिष्यते ॥ ५ ॥
प्रतीकस्वोपासकत्वहानिर्बोधेऽस्य(?) बोधने ।
अबोधने तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥ ६ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृतं मनआदित्यादिप्रतीकमुपास्यम्। तच्च प्रतीकमुपासकेन स्वात्मतया ग्रहीतव्यम्। प्रतीकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणा सह भेदाभावात्। जीवस्य च ब्रह्माभिन्नत्वात्। ब्रह्मद्वारोपास्यप्रतीकस्योपासकजीवस्य च भेदाभावेनैकत्वसंभवात्।

है, तो भी अन्तःकरण रूप उपाधिसे दुःखित्वादि संसार धर्मवाला है, इसका 'वियदधिकरणके जीवविचारमें विस्तारसे विचार किया गया है। अतएव वास्तविक विरोध न होनेसे आत्मरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए। इसलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे तत्त्ववित् आत्मरूपसे ब्रह्मका ग्रहण करते हैं एवं 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे अपने शिष्योंको भी आत्मरूपसे ब्रह्मका ग्रहण कराते हैं। इससे आत्मरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्रतीकमें अहंदृष्टि है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मके साथ सबका अभेद होनेसे जीव और प्रतीकमें ब्रह्मद्वारा अहंदृष्टि करनी चाहिए।

सिद्धान्त—अहंविषय बोधरूप ज्ञानकालमें प्रतीकत्व और उपासकत्वकी हानि है और अबोधरूप अज्ञानकालमें भिन्न होनेके कारण अहंदृष्टिकी योग्यता नहीं है।

मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करे) 'आदित्यो ब्रह्म' (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादिमें ब्रह्मदृष्टिसे संस्कृत मन, आदित्य आदि प्रतीक उपास्यरूपसे श्रुत हैं। वह प्रतीक उपासकद्वारा स्वात्मरूपसे ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि प्रतीक ब्रह्मका

इति प्राप्ते ब्रूमः–यदि ब्रह्मकार्यस्य ब्रह्मैक्यमवलोक्यते, तदा प्रतीकस्वरूपमेव विलीयेत। घटस्य मृद्रूपेणैक्ये विलयदर्शनात्। यदि च जीवस्य ब्रह्मैक्यमवलोक्येत, तदा जीवत्वापाये सत्युपासकत्वं हीयेत। अथोपास्योपासकस्वरूपलोभेन कार्यकारणैक्यं जीवब्रह्मैक्यं च न पर्यालोच्येत, तदा गोमहिषवदत्यन्तभिन्नयोः प्रतीकोपासकयोर्नास्त्येवैकत्वयोग्यता। तस्मात्प्रतीके नास्त्यहंदृष्टिः ॥ ३ ॥

(चतुर्थ उपास्ये ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणे सूत्रम्)

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन्ब्रह्मधीरुत ।
अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥ ७ ॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्याऽन्यचिन्तनम् ।
अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥ ८ ॥

कार्य होनेसे उसका ब्रह्मके साथ भेद नहीं है। और जीव भी ब्रह्मसे अभिन्न है, इससे ब्रह्मद्वारा उपास्य प्रतीकका और उपासक जीवका भेद न होनेसे एकत्व हो सकता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यदि ब्रह्मकार्य-प्रतीकका ब्रह्मके साथ ऐक्य देखा जाय तो प्रतीकका स्वरूप ही विलीन हो जायगा, क्योंकि लोकमें घटका मृद्रूपसे ऐक्य होनेपर विलय देखा जाता है। और यदि जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य देखा जाय तो जीवत्वका नाश होनेपर उपासकत्वका नाश होगा। यदि उपास्योपासकस्वरूपके लोभसे कार्यकारणका ऐक्य और जीवब्रह्मैक्य पर्यालोचित नहीं हो, तो गौ महिषके समान अत्यन्त भिन्न प्रतीक और उपासकमें एकत्वकी योग्यता ही नहीं है। इससे प्रतीकमें अहंदृष्टि नहीं है ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या ब्रह्ममें अन्य-आदित्य आदि बुद्धि करनी चाहिए अथवा आदित्य आदिमें ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए ?

पूर्वपक्ष—अन्यदृष्टिसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यहां ब्रह्म ही फलदाता है।

सिद्धान्त—उत्कर्ष और 'इति' परत्व होनेसे ब्रह्मदृष्टिसे अन्यका चिन्तन करना चाहिए, अतिथि आदिकी उपासनाके समान अन्यकी उपासना करनेसे भी ब्रह्म ही फल देता है।

'मनो ब्रह्म' इत्यत्राब्रह्मस्वरूपमनोदृष्टिं ब्रह्मणि कृत्वा ब्रह्मोपासनीयम्। ब्रह्मणः फलप्रदत्वेनोपास्यतार्हत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मण उत्कृष्टत्वाद्दृष्टिर्निकृष्टे मनसि कर्तव्या। लोके हि निकृष्टे भृत्ये राजदृष्टिं कृत्वा राजवत्तं पूजयन्ति। किंच 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यत्र ब्रह्मशब्द इतिशब्दपरत्वेन दृष्टिलक्षको भविष्यति। मन:शब्दश्चानिति-परत्वान्मुख्यार्थवाची। यथा 'स्थाणुं चोर इति प्रत्येति' इत्यत्र स्थाणुशब्दो-मुख्यार्थवाची चोरशब्दो दृष्टिलक्षकस्तद्वत्। न चाब्रह्मस्वरूपस्य मनस उपास्यत्वे ब्रह्मणः फलप्रदत्वानुपपत्तिः। अब्रह्मस्वरूपस्याप्यतिथेरुपासने कर्माध्यक्षत्वेन यथा फलं प्रयच्छति, तद्वदत्रापि संभवात्। तस्मादब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्मधीः कर्तव्या ॥ ४ ॥

(पञ्चम अङ्गेष्वादित्यत्वादिधीकरणाधिकरणे सूत्रम्)

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गेष्वादिधीरुत ।
नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनेच्छिकी मतिः ॥ ६ ॥

'मनो ब्रह्म' यहांपर अब्रह्मस्वरूप मनोदृष्टि ब्रह्ममें कर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए। क्योंकि ब्रह्म फलदाता है, अतः वह उपासनाके योग्य है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्म उत्कृष्ट है, अतः ब्रह्म-दृष्टि निकृष्ट मनमें करनी चाहिए। लोकमें भी ऐसा देखा गया है कि निकृष्ट भृत्यमें राज-दृष्टिकर राजाके समान उसकी पूजा-सत्कार करते हैं। किंच 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुतिमें ब्रह्मशब्द 'इति' शब्द परत्व होनेसे दृष्टिका लक्षक होगा। मन शब्द 'इति' परत्व न होनेसे मुख्यार्थवाची है। जैसे 'स्थाणुं चोर इति प्रत्येति' (स्थाणुको चोर ऐसा जानता है) यहांपर स्थाणु शब्द मुख्यार्थवाची है और चोर शब्द दृष्टिका लक्षक है। वैसे प्रकृतमें समझना चाहिए। यदि अब्रह्मस्वरूप मन उपास्य मानें तो ब्रह्म फलदाता नहीं हो सकता, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अब्रह्मस्वरूप अतिथिकी उपासनामें भी कर्माध्यक्ष-रूपसे जैसे ईश्वर फल देता है, वैसे यहां प्रकृतमें भी संभव है। इससे अब्रह्म प्रतीकमें ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए ॥ ४ ॥

पञ्चम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आदित्य आदिमें अङ्ग दृष्टि करनी चाहिए अथवा अङ्गोंमें आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए ?

आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले ।
युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥ १० ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' इत्यत्राऽऽदित्यदेवता प्रतीकं कृत्वा कर्माङ्गभूतोद्गीथदृष्टिः कर्तव्या। विपर्ययेण वा कर्माङ्ग आदित्यदृष्टिः। आदित्योद्गीथयोरुभयोर्ब्रह्मकार्यत्वेन पूर्वाधिकरणोत्कर्षन्यायानवतारेण नियामकाभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यदृष्ट्या कर्माङ्गं संस्कर्तव्यम्। तथा सति दृष्टिभिः संस्कृतस्य कर्मणः फलातिशयसंभवात्। विपर्यये तु कर्माङ्गरादित्यदेवतायां संस्कृतायां किं तव फलिष्यति। न ह्यक्रियात्मिका देवता फलस्य साधनं भवति। अन्यथा देवतायाः साधारणत्वेन यजमानायजमानयोः फलसाम्यप्रसङ्गात्। तस्मादङ्गेष्वादित्यादिदृष्टयः कर्तव्याः ॥ ५ ॥

(षष्ठ उपासन आसनावश्यकत्वाधिकरणे सूत्राणि)

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥ ध्यानाच्च ॥ ८ ॥ अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥ स्मरन्ति च ॥ १० ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

पूर्वपक्ष—ब्रह्मजन्य होनेसे दोनोंमें कोई उत्कर्ष-अतिशय न होनेसे यथाभिमत दृष्टि की जा सकती है।

सिद्धान्त—आदित्य आदि बुद्धिसे अङ्गोंका संस्कार होनेसे कर्मके फलमें अतिशय युक्त है। इससे अङ्गोंमें ही आदित्य आदि दृष्टि करनी चाहिए।

'य एवासौ तपति' (जो यह आदित्य तपता है) 'तमुद्गीथमुपासीत' (उस उद्गीथकी उपासना करे) यहाँपर आदित्य देवताको प्रतीककर कर्माङ्गभूत उद्गीथ दृष्टि करनी चाहिए। अथवा विपर्ययसे कर्माङ्गमें आदित्य दृष्टि करनी चाहिए। क्योंकि आदित्य और उद्गीथ दोनोंको ब्रह्मकार्य होनेसे पूर्वाधिकरणमें उक्त उत्कर्ष न्यायके प्रवृत्त न होनेसे कोई नियामक नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आदित्य दृष्टिसे कर्माङ्गका संस्कार करना चाहिए, क्योंकि ऐसा होनेपर दृष्टियोंसे संस्कृतका फलातिशय होता है, विपर्ययमें तो कर्माङ्गोंसे आदित्य देवताका संस्कार होनेपर तुम्हें क्या फल होगा? अक्रियात्मक देवता फलका साधन नहीं होता। अन्यथा देवताके साधारण होनेसे यजमान और अयजमानको फल समान होगा। इससे अङ्गोंमें आदित्य आदि दृष्टि करनी चाहिए ॥ ५ ॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते।
न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो न हि ॥ ११ ॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात् ।
धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम् ॥ १२ ॥

'आसीनेनैवोपासितव्यम्' इति नास्ति नियमः। मानसव्यापारं प्रति देहस्थितिविशेषस्यनुपयुक्तत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादासनं नियम्यते। तथाहि—न तावच्छयानेनोपासितुं शक्यम्, अकस्मान्निद्रयाऽभिभूतेः संभवात्। नाप्युत्थितेन गच्छता वा, देहधारणमार्गनिश्चयादिव्यापारेण चित्तस्य विक्षिप्तत्वात्। अत आसीनेनैवोपासितव्यम् ॥ ६ ॥

(सप्तम उपासने दिगादिनियमनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

दिग्देशकालनियमो विद्यते वा न विद्यते।
विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात् ॥ १३ ॥

सन्देह—उपसनामें आसनका नियम है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—मन देहकी स्थितिकी अपेक्षा नहीं रखता, अतः आसनका नियम नहीं है।

सिद्धान्त—शयन, उत्थान और गमनसे विक्षेपका निवारण न होनेके कारण बुद्धिकी स्थिरताके हेतु आसनका परिशेषसे उपासनामें नियम है।

'बैठकर ही उपासना करनी चाहिए' ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि मानस व्यापारके प्रति देहस्थिति विशेष उपयुक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परिशेषसे आसनका नियम है, जैसे कि शयन करनेवाला उपासना नहीं कर सकता, क्योंकि अकस्मात् निद्रासे उपासनाका अभिभव होना संभव है। खड़े होकर वा चलकर भी उपासना नहीं हो सकती, क्योंकि देहधारण, मार्ग निश्चय आदि व्यापारके होनेसे चित्त विक्षिप्त होता है। इससे बैठकर ही उपासना करनी चाहिए ॥ ६ ॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपासनाओंमें दिक्, देश और कालका नियम है अथवा नहीं ?

ऐकाग्र्यस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते।
मनोनुकूल इत्युक्तेर्द्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥ १४ ॥

"ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि" इति दिग्नियमः। "प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत" इति देशनियमः "अथ यदपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन 'चरन्ति' इति कालनियमः। तदेतन्नियमत्रयं यथा कर्मणि दृश्यते तथोपासनेऽपि द्रष्टव्यम्। वैदिकत्वस्याविशेषात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—ऐकाग्र्यं हि ध्यानस्य प्रधानं साधनम्। न च तस्य दिगादिनियत्या कश्चिदतिशयो विद्यते। अतो नास्ति नियमः। अत एव श्रुतिर्योगाभ्यासाय प्रदेशं निर्दिशन्ती "मनोनुकूले" इत्येवाऽऽह। 'यस्मिन्देशे सौमनस्यं तत्रैव मनो युञ्ज्यात्, नतु शास्त्रेण नियमितः कश्चिद्देशोऽस्ति' इत्यर्थः। "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकावर्जिते" (श्वे० २।१०) इति योगाभ्यासाय देशविशेषः श्रूयत इति चेत्। सत्यम्। दृष्टसौकर्यार्थं तु तदिति वाक्यशेषे मनोनुकूलत्वविशेषणान्निश्चीयते। तस्मान्नास्ति दिगादिनियमः॥ ७॥

पूर्वपक्ष—दिगादिका नियम वैदिक कर्मोंमें देखा जाता है, अतः वैदिकत्व समान होने से उपासनाओंमें भी दिगादिका नियम है।

सिद्धान्त—उपासनाओंमें सामान्यतः एकाग्रताकी अपेक्षा होनेसे दिगादिका नियम नहीं है 'मनोनुकूले' इस उक्तिसे देशविशेषका कथन केवल दृष्टार्थ है।

'ब्रह्मयज्ञेन०' (यज्ञ करनेकी इच्छावाला पूर्वदिशामें ब्रह्मयज्ञ करे) इसप्रकार दिशा-का नियम है, 'प्राचीनप्रवणे०' (पूर्वदिशामें क्रमशः निम्नस्थलमें वैश्वदेव करे) यह देशका नियम है। 'अथ यदपराह्णे०' (अपराह्णमें पिण्डपितृ यज्ञ करे) इन प्रकार काल-का नियम है। इन श्रुतियोंमें क्रमशः ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव और पिण्डपितृयज्ञमें पूर्वदिशा, निम्नदेश और अपराह्ण काल यह तीन नियम जैसे कर्ममें देखे जाते हैं, वैसे उपासनाओंमें भी समझना चाहिए। क्योंकि इनमें भी वैदिकत्व समान है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—एकाग्रता ही ध्यानका प्रधान साधन है। उसमें दिशा आदिका नियम करनेसे कोई अतिशय नहीं है। अतः नियम नहीं है। अतएव श्रुति योगाभ्यासके लिए प्रदेशका निर्देश करती हुई 'मनोनुकूले' ऐसा ही कहती है। 'जिस देशमें मन अच्छा रहे, उसी देशमें मनकी स्थिरता करो, परन्तु शास्त्र द्वारा कोई नियमित देश नहीं है' ऐसा अर्थ है। 'समे शुचौ०' (समतल, पवित्र, सूक्ष्म पाषाण, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल पनघट रहित) इस प्रकार योगा-भ्यासके लिए देश विशेष सुना जाता है ? ऐसा यदि कहो, तो ठीक है, परन्तु यह दृष्ट

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते।
न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो न हि॥ ११॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात् ।
धीसमाधानहेतुत्वात्परिशिष्यत आसनम्॥ १२॥

'आसीनेनैवोपासितव्यम्' इति नास्ति नियमः। मानसव्यापारं प्रति देहस्थितिविशेषस्यानुपयुक्तत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—परिशेषादासनं नियम्यते। तथाहि—न तावच्छयानेनोपासितुं शक्यम्, अकस्मान्निद्रयाऽभिभूतेः संभवात्। नाप्युत्थितेन गच्छता वा, देहधारणमार्गनिश्चयादिव्यापारेण चित्तस्य विक्षिप्तत्वात्। अत आसीनेनैवोपासितव्यम्॥ ६॥

(सप्तम उपासने दिगादिनियमनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्॥ ११॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

दिग्देशकालनियमो विद्यते वा न विद्यते।
विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात्॥ १३॥

सन्देह—उपासनामें आसनका नियम है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—मन देहकी स्थितिकी अपेक्षा नहीं रखता, अतः आसनका नियम नहीं है।

सिद्धान्त—शयन, उत्थान और गमनसे विक्षेपका निवारण न होनेके कारण बुद्धिकी स्थिरताके हेतु आसनका परिशेषसे उपासनामें नियम है।

'बैठकर ही उपासना करनी चाहिए' ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि मानस व्यापारके प्रति देहस्थिति विशेष उपयुक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परिशेषसे आसनका नियम है, जैसे कि शयन करनेवाला उपासना नहीं कर सकता, क्योंकि अकस्मात् निद्रासे उपासनाका अभिभव होना संभव है। खडे होकर वा चलकर भी उपासना नहीं हो सकती, क्योंकि देहधारण, मार्ग निश्चय आदि व्यापारके होनेसे चित्त विक्षिप्त होता है। इससे बैठकर ही उपासना करनी चाहिए॥ ६॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपासनाओंमें दिक्, देश और कालका नियम है अथवा नहीं ?

वृत्तिलक्षणो दृष्टोपायः परित्याज्यो भवति । अन्यथा सर्वस्य सुखदुःखादेरपूर्वजन्यत्वेन भोजनाद्यर्थो दृष्टः प्रयत्नः परित्यज्येत । ततो दृष्टार्थोपायत्वादामरणमावर्तनं कर्तव्यम् । यद्यप्येतान्यष्टावधिकरणानि साधनविचारत्वात्पूर्वाध्याये योग्यानि, तथाऽपि फलप्रत्यासन्नसाधनत्वात्फलाध्याये विचारितानि ॥ ८ ॥

(नवमे ज्ञानिनः पापलेपनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

नवमाधिकरणमारचयति—

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः ।
अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते ।
अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥ १८ ॥

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति पापाविनाशस्य सर्वशास्त्रप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मज्ञानिनोऽप्यस्ति पापलेपः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्र तावन्निर्गुणब्रह्मात्मतत्त्वविदः पापलेपशङ्काऽपि

निरन्तर आवृत्ति रूप दृष्ट उपाय परित्याज्य नहीं होता । अन्यथा सब सुखदुःखादि अपूर्व जन्य होनेसे भोजनादि अर्थ दृष्ट प्रयत्न भी परित्याज्य होगा । इससे दृष्टार्थ उपाय होनेसे मरणपर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिए । यद्यपि ये आठ अधिकरण साधन विचार होनेसे पूर्वाध्यायके योग्य थे, तथापि फलके प्रति अतिसमीप साधन होनेसे फलाध्यायमें इनका विचार किया गया है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ज्ञानीको पापका लेप होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ज्ञानीको भी पापका लेप होता । क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसी घोषणा है कि भोगके विना पापका नाश नहीं होता ।

सिद्धान्त—आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार बुद्धिसे अकर्त्रात्मक वस्तुकी सामर्थ्यसे ही लिप्त नहीं होता है, क्योंकि 'अश्लेष और विनाश' की शास्त्रमें उक्ति है । शास्त्रका जो उक्त घोष है वह तो अज्ञानी पुरुषके लिए है ज्ञानीके लिए नहीं ।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म०' (अभुक्त कर्म सौ कोटिकल्पोंमें भी क्षय नहीं होता) इस प्रकार पापका अविनाश सर्व शास्त्र प्रसिद्ध होनेसे ब्रह्मज्ञानीको भी पापका लेप-सम्बन्ध होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां तो निर्गुण ब्रह्मात्म-

(अष्टम उपासनानामामरणावर्तनाधिकरणे सूत्रम्)

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

उपास्तीना यावदिच्छमावृत्तिं स्यादुताऽऽमृति ।
उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं न तूपरि ॥ १५ ॥
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये ।
प्रामृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भावभावितः ॥ १६ ॥

विजातीयप्रत्ययेनानन्तरितसजातीयप्रवाह उपास्तिशब्दार्थः । स च कियताऽपि कालेन सम्पद्यते । अतो यावदिच्छमावृत्ति, न त्वामरणम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—भाविजन्मनः प्रयोजकोऽन्त्यप्रत्ययः आमरणमावृत्तिमन्तरेण न सुलभः । अत एव स्मृतिः—,'सदा तद्भावभावितः (गीता० ८।६) इत्याह । कथं तर्हि ज्योतिष्टोमादिकर्मणा स्वर्गं गच्छतोऽन्त्यप्रत्ययः । कर्मजन्यापूर्ववशादिति ब्रूमः । उपासनेऽप्यपूर्वमस्तीति चेत् । बाढम् । नैतावता निरन्तरा

सौकर्यके लिए है । इस प्रकार वाक्यशेषमें मनोनुकूलत्व अविशेषसे ही निश्चय किया जाता है, इससे उपासनाओंमें दिशा आदिका नियम नहीं है ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपासनाओंकी आवृत्ति इच्छाके अनुसार होनी चाहिए अथवा मरणपर्यन्त ?

पूर्वपक्ष—उपासनाके अर्थकी अभिनिष्पत्तिसे ज्ञात होता है कि इच्छानुसार आवृत्ति होनी चाहिए उसके ऊपर-मरणपर्यन्त नहीं ।

सिद्धान्त— सदा तद्भावभावितः' इस वाक्य प्रमाणसे अन्त्य प्रत्ययसे ही भावी जन्म होता है अतः उसकी सिद्धिके लिए मरणपर्यन्त आवृत्ति न्याय युक्त है ।

विजातीय प्रत्ययके व्यवधान रहित सजातीय प्रत्यय प्रवाह उपासना शब्दका अर्थ है । वह तो कितने कालमें भी सम्पन्न हो सकता है अतः जब तक इच्छा हो तबतक उपासनाकी आवृत्ति होनी चाहिए किन्तु मरणपर्यन्त नहीं ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—भाविजन्मका प्रयोजक अन्तिम प्रत्यय मरण पर्यन्त आवृत्तिके विना सुलभ नहीं है । अतएव स्मृति भी सदा तद्भाव०' (सर्वदा उसके भावसे भावित) इस प्रकार कहती है । तो ज्योतिष्टोम आदि कर्म द्वारा स्वर्गमें जानेवालेका अन्त्य प्रत्यय कैसे होगा ? कर्म जन्य अपूर्व द्वारा ऐसा हम कहते हैं । यदि कहो कि उपासनामें भी अपूर्व है ठीक है परन्तु इतने मात्रसे

वृत्तिलक्षणो दृष्टोपाय: परित्याज्यो भवति । अन्यथा सर्वस्य सुखदुःखादेरपूर्वजन्यत्वेन भोजनाद्यर्थो दृष्टः प्रयत्नः परित्यज्येत । ततो दृष्टार्थोपायत्वादामरणमावर्तनं कर्तव्यम् । यद्यप्येतान्यष्टावधिकरणानि साधनविचारत्वात्पूर्वाध्याये योग्यानि, तथाऽपि फलप्रत्यासन्नसाधनत्वात्फलाध्याये विचारितानि ॥ ८ ॥

(नवमे ज्ञानिनः पापलेपनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

नवमाधिकरणमारचयति—

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः ।
अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते ।
अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥ १८ ॥

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति पापाविनाशस्य सर्वशास्त्रप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मज्ञानिनोऽप्यस्ति पापलेप. ।

इति प्राप्ते ब्रूम.—नत्र तावन्निर्गुणब्रह्मात्मतत्त्वविदः पापलेपशङ्काऽपि

निरन्तर आवृत्ति रूप दृष्ट उपाय परित्याज्य नहीं होता । अन्यथा सब सुखदुःखादि अपूर्व जन्य होनेसे भोजनादि अर्थ दृष्ट प्रयत्न भी परित्याज्य होगा । इससे दृष्टार्थ उपाय होनेसे मरणपर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिए । यद्यपि ये आठ अधिकरण साधन विचार होनेसे पूर्वाध्यायके योग्य थे, तथापि फलके प्रति अतिसमीप साधन होनेसे फलाध्यायमें इनका विचार किया गया है ॥ ८ ॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ज्ञानीको पापका लेप होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ज्ञानीको भी पापका लेप होता । क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसी घोषणा है कि भोगके विना पापका नाश नहीं होता ।

सिद्धान्त—आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार बुद्धिसे अकर्त्रात्मक वस्तुकी सामर्थ्यसे ही लिप्त नहीं होता है, क्योंकि 'अश्लेष और विनाश' की शास्त्रमें उक्ति है । शास्त्रका जो उक्त घोष है वह तो अज्ञानी पुरुषके लिए है ज्ञानीके लिए नहीं ।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म०' (अभुक्त कर्म सौ कोटिकल्पोंमें भी क्षय नहीं होता) इस प्रकार पापका अविनाश सर्व शास्त्र प्रसिद्ध होनेसे ब्रह्मज्ञानीको भी पापका लेप-सम्बन्ध होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां तो निर्गुण ब्रह्मात्म-

नोदेति । नावधं न करोमि न करिष्यामीति कालत्रयेऽप्यकर्तृब्रह्मस्वरूपत्वेन निश्चितत्वात् । न ह्यकर्तुर्लेपं मन्दा अपि शंकन्ते । नापि सगुणब्रह्मविदो लेपोऽस्ति । अश्लेषविनाशयोः श्रुतत्वात् । ब्रह्मसाक्षात्कारादूर्ध्वं देहेन्द्रियव्यवहारवशात्संभावितस्य पापस्याश्लेषः श्रूयते । तद्यथा—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति । साक्षात्कारात्पूर्वं त्विह जन्मनि जन्मान्तरेषु च संचितस्य पापसंघातस्य विनाशः श्रूयते—"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० ५।२४।३) इति । 'नाभुक्तम्' इत्यादिशास्त्रं तु सगुणनिर्गुणब्रह्मज्ञानरहितविषयम् । तस्मान्नास्ति ज्ञानिनः पापलेपः ॥ ९ ॥

(दशमे ज्ञानिनः पुण्यलेपनिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः ।
न हि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥ १९ ॥
अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः ।
श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥ २० ॥

तत्त्वविद्के लिए पापकी शङ्का भी उदय नहीं होती, क्योंकि 'न किया, न करता हूँ और न करूंगा' इस प्रकार तीनों कालोंमें भी अकर्तृ ब्रह्मस्वरूपमें निश्चित है। अकर्ताके विषयमें पापलेपकी शङ्का मन्द भी नहीं करते। सगुणविद्को भी पापलेप नहीं है, क्योंकि अश्लेष और विनाश सुने हैं। ब्रह्मसाक्षात्कारके अनन्तर देह, इन्द्रिय व्यवहारके बल से संभावित पापका अश्लेष सुना जाता है। जैसेकि 'यथा पुष्करपलाश०' (जैसे कमलका पत्र जलसे गीला-लिप्त नहीं होता, वैसे 'एवंवित्' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा जाननेवाले विद्वान्को पापका सम्बन्ध नहीं होता) ब्रह्म साक्षात्कारके पूर्व इस जन्ममें और जन्मान्तरोंमें संचित पापसंघातका विनाश 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ०' (जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें प्रक्षिप्त करनेसे तत्काल जल जाता है, इसी प्रकार इस विद्वान्के सब पाप दग्ध हो जाते हैं) इससे सुना जाता है। 'नाभुक्तम्' इत्यादि शास्त्र तो सगुण और निर्गुण ब्रह्म ज्ञान रहित पुरुष विषयक है। इससे ज्ञानीको पापका लेप नहीं है ॥ ९ ॥

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मज्ञानी पुण्यसे लिप्त होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—तत्त्ववित् पुण्यसे लिप्त होता है, क्योंकि श्रौतपुण्यका श्रौतज्ञानसे विरोध नहीं होता।

मा भूत्पापलेपः पुण्यलेपस्तु विद्यते। पुण्यस्य श्रौतत्वेन श्रौतब्रह्मज्ञानेन समं विरोधाभावात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—अकर्त्रात्मवस्तुसामर्थ्यात्पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते। सगुणज्ञानिनस्तूपासनव्यतिरिक्तं काम्यं पुण्यं पापवदधमजन्महेतुत्वात्पापसममेवेति मत्वा पापत्वेनैव दहरविद्यावाक्यशेषे श्रुतिः परामृशति—"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" इति। अस्यायमर्थः — सुकृतं दुष्कृतं च पूर्ववाक्ये यद्यदनुक्रान्तं ते सर्वे पाप्मानोऽस्मादुपासकान्निवर्तन्ते' इति। किञ्च "उभे उ हेवैष एते तरति" (बृह० ४।४।२२) इति श्रुतिः पुण्यपापयोरुभयोर्ज्ञानिना तरणं सममेव ब्रूते। तस्मात्पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते ॥ १० ॥

(एकादशे ज्ञानादनारब्धपुण्यपापयोरेव निवृत्त्यधिकरणे सूत्रम्)

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

प्रारब्धे नश्यतो नो वा संचिते इव नश्यतः।
उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥ २१ ॥

सिद्धान्त—अकर्त्रात्मक वस्तु सामर्थ्यसे पापके समान पुण्यका लेप नहीं होता और श्रुति पुण्यको पापरूपसे कहती है। इस प्रकार श्रुति पुण्य और पापका तरण भी समान रूपसे कहती है।

ब्रह्मज्ञानीको पापका लेप मत हो, परन्तु पुण्यका लेप तो है ही। क्योंकि श्रौत पुण्यका श्रौत ब्रह्मज्ञानके साथ विरोध नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अकर्त्रात्मक वस्तु सामर्थ्यसे पापके समान पुण्यसे भी लिप्त नहीं होता। सगुण ज्ञानी तो उपासनासे अतिरिक्त काम्य पुण्य पापके समान अधम जन्मका हेतु होनेसे पापके समान ही है। ऐसा मानकर पापरूपसे ही दहरविद्या वाक्यशेषमें श्रुति 'सर्वे पाप्मानो०' (सब पाप उस उपासकके निवृत्त हो जाते हैं) इस प्रकार परामर्श करती है। इसका यह अर्थ है–'सुकृत, दुष्कृत और उनका फल जो पूर्व वाक्यमें उक्त हैं, वे सब पाप इस उपासकके निवृत्त हो जाते हैं।' किञ्च 'उभे उ हैवैष' (वह उपासक इन दोनों-पुण्य पापसे तर जाता है) यह श्रुति पुण्य पाप दोनोंसे ज्ञानी लोगोंका तरण समान ही कहती है। इससे पापके समान पुण्यसे भी ब्रह्मज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्रारब्ध पुण्य और पाप नष्ट होते हैं वा नहीं ?

आदेहपातसंसारश्रुतेरनुभवादपि ।
इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवाऽऽरब्धे विनश्यतः ॥ २२ ॥

ज्ञानात्पूर्वं संचिते पुण्यपापे द्विविधे—आरब्धे, अनारब्धे च। तयोर्द्विविधयोरप्यकर्तृत्वमात्मनः समानम्। तद्बोधश्च समः। ततोऽनारब्धवदारब्धयोरपि ज्ञानोदयसमय एव विनाशः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—श्रुत्यनुभवयुक्तिभ्य आरब्धयोरविनाशो गम्यते। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति श्रुतिः। अस्या अयमर्थः—'तस्य तत्त्वविदो मुक्तिर्विलम्बमानाऽपि नात्यन्तं विलम्बते। किंतु गर्भाधानकाले क्लृप्तस्याऽऽयुषः क्षयाभावेन यावद्देहः प्राणैर्न विमोक्ष्यते तावदेव विलम्बते। अथ देहप्राणवियोगे सति ब्रह्म संपद्यते' इति। यथाऽनया श्रुत्या तत्त्वविदोऽप्यादेहपातं संसारोऽङ्गीकृतस्तथा विद्वदनुभवोऽप्यस्मिन्नर्थे स्फुटः। युक्तिश्चोच्यते—यथा लोके तूणनिष्ठेषु बाणेषु धानुष्कस्य स्वीकारपरि-

---

पूर्वपक्ष—संचित पुण्य और पापके समान उन दोनोंका भी नाश होता है, क्योंकि दोनों स्थलोंमें अकर्तृत्व और उसका बोध समान है।

सिद्धान्त—देह पात पर्यन्त संसारके अस्तित्वकी श्रुति होनेसे और अनुभवसे और इषु, चक्र आदि दृष्टान्तोंसे भी आरब्ध कर्म नष्ट नहीं होते हैं।

ज्ञानके पूर्व आरब्ध और अनारब्ध भेदसे संचित पुण्य और पाप दो प्रकारके हैं। उन दोनों प्रकारके रहते भी आत्माका अकर्तृत्व समान है और उसका बोध भी समान है। इससे अनारब्ध पुण्य-पापके समान आरब्ध पुण्य पापका भी ज्ञानोदय समयमें ही विनाश होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—श्रुति अनुभव और युक्तिसे ज्ञात होता है कि आरब्ध पुण्य पापका नाश नहीं होता है। 'तस्य तावदेव चिर०' (उस विद्वान्‌के मोक्षमें उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह देह बन्धनसे मुक्त नहीं होता। उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न हो जाता है) यह श्रुति है। इसका यह अर्थ है—'उस तत्त्ववित्‌की मुक्तिमें विलम्ब होते भी अत्यन्त विलम्ब नहीं है, किन्तु गर्भाधानके समय निश्चित आयुष्यका क्षय न होनेके कारण जब तक शरीर प्राणोंसे मुक्त नहीं होता तबतक ही विलम्ब होता है। अनन्तर देहका प्राणोंसे वियोग होते ही ब्रह्मके साथ सम्पन्न-एक होता है' जैसे इस श्रुतिसे तत्त्ववित्‌का भी देह पात पर्यन्त संसार अङ्गीकृत है, वैसे विद्वानोंका अनुभव भी इसी अर्थमें स्पष्ट है। युक्ति भी कही जाती है—जैसे लोकमें तूणीरनिष्ठ बाणोंके स्वीकार या परित्यागमें धनुर्धारी स्वतन्त्र है, तो भी

संयोगयोः स्वातन्त्र्येऽपि मुक्ते बाणे स्वातन्त्र्यं न दृश्यते। स तु बाणो वेगे क्षीणे स्वयं पतति। एवं कुलालचक्रभ्रमणमुदाहर्तव्यम्। तथा दार्ष्टान्तिकब्रह्मज्ञानस्याप्यनारब्धकर्मनाशकत्वे स्वातन्त्र्यमस्तु न त्वारब्धे कर्मणि। प्रारब्धस्य प्रवृत्तफलत्वात्। यद्येतैः श्रुत्यादिभिरारब्धस्थितिर्नाभ्युपगम्यते, तदोपदेष्टुरभावाद्विद्यासंप्रदाय उच्छिद्येत। न तावदविद्वानुपदेष्टेति वक्तुं शक्यम्। विद्वांस्तु वेदनसमय एव मुच्यत इति को नामोपदेष्टा संभवति। तस्मान्नाऽऽरब्धयोर्नाशः ॥ ११ ॥

(द्वादशमग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो नाशनिराकरणाधिकरणे सूत्रे)

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥ अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

नश्येन्नोवाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, विनश्यति।
यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥ २३ ॥
अनुपक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति।
विद्यायामुपयुक्तत्वात्प्राप्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥ २४ ॥

मुक्त बाणमें वह स्वतन्त्र नहीं देखा जाता है। परन्तु वह बाण वेगके क्षीण होनेपर स्वयं ही गिर जाता है। इसी प्रकार कुलाल चक्रके भ्रमणका भी उदाहरण देना चाहिए। वैसे दार्ष्टान्तिक ब्रह्मज्ञान भी अनारब्ध कर्मके नाश करनेमें यद्यपि स्वतन्त्र है। परन्तु प्रारब्ध कर्मके विनाशमें नहीं, क्योंकि प्रारब्धकर्म प्रवृत्त फलवाला है। यदि इन श्रुति आदिसे भी प्रारब्धकर्मकी स्थिति स्वीकार न की जाय तो उपदेष्टाके अभावसे विद्या-संप्रदाय ही उच्छिन्न हो जायगा। अविद्वान् उपदेष्टा हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। विद्वान् तो ज्ञानकालमें ही मुक्त हो जायगा तो उपदेष्टा कौन हो सकता है। इससे प्रारब्ध पुण्यपापका नाश नहीं होता। ११।

द्वादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मोंका ज्ञानसे नाश होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—उक्त कर्म नष्ट होते हैं, क्योंकि अकर्त्रात्मक वस्तुकी यह महिमा कहींपर भी प्रतिहत नहीं होती।

सिद्धान्त—नित्य कर्मोंके अनुपक्त फलांशका नाश होनेपर भी अन्य-चित्त शुद्धिप्रद अंश नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह विद्यामें उपयोगी है उसका भावी असम्बन्ध तो काम्य कर्मके समान ही है।

ज्ञानात्पूर्वमिह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुष्ठितं यदग्निहोत्रादि नित्यं कर्म, तस्यापि काम्यकर्मवदकर्त्रात्मवस्तुबोधमहिम्ना नाशोऽभ्युपेयः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्वावंशौ नित्यकर्मणः—एकोंऽशः प्राधान्येन चित्तशुद्धिप्रदः । अपरोंऽशोऽनुषङ्गेण स्वर्गादिफलप्रदः । तस्य नाशोऽस्तु नाम । चित्तशुद्धिप्रदस्य तु विद्यायामुपयुक्तत्वान्न नाशो वर्णयितुं शक्यः । नहि लोके भोगेनोपक्षीणं व्रीह्यादिकं नष्टं मन्यन्ते । यत्तु ज्ञानादूर्ध्वं नित्यं कर्म तस्य काम्यवदश्लेषः ॥१२॥

(अथोदशे नित्यकर्मणोविद्यासाधनत्वाधिकरणे सूत्रम्)

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत ।
केवलं वा, प्रशस्तत्वात्सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥ २५ ॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् ।
इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥ २६ ॥

विद्यासाधनं नित्यकर्म द्विविधं संभाव्यते—अङ्गावबद्धोपास्तिसहितं तद्-

---

ज्ञानके पूर्व इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अनुष्ठित जो अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म हैं, उनका भी काम्यकर्मके समान अकर्तात्मक वस्तुके ज्ञानकी महिमासे नाश स्वीकार करना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—नित्य कर्मके दो अंश होते हैं । एक अंश तो प्रधानरूपसे चित्तशुद्धि प्रद है और दूसरा अंश अनुषङ्गसे स्वर्ग आदि फलप्रद । उसका नाश भले हो, परन्तु चित्तशुद्धिप्रद तो विद्यामें उपयुक्त है, अतः उसका नाश वर्णन नहीं किया जा सकता । लोकमें भोगसे उपक्षीण व्रीहि आदि अन्नका नाश नहीं माना जाता । जो तत्त्वज्ञानके अनन्तर नित्य कर्म हैं उसका काम्यकर्मके समान असम्बन्ध होता है ॥१२॥

त्रयोदश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या उपासना विशिष्ट नित्यकर्म विद्याका उपयोगी है अथवा उपासना रहित केवल नित्य कर्म ?

पूर्वपक्ष—उपासना विशिष्ट नित्यकर्म ही विद्याका उपयोगी है, क्योंकि वही विद्याके साधनमें प्रशस्त होनेसे उपयुक्त है ।

सिद्धान्ती—केवल कर्म वीर्यवत् है और उपासना विशिष्ट वीर्यवत्तर है, इस अर्थकी बोधिका श्रुतिसे तारतम्यसे दोनों कर्म ज्ञानके साधन हैं ।

विद्याका साधन नित्यकर्म अङ्गाश्रित उपासनाविशिष्ट और उससे रहित केवल इस

हितं च । तत्र सोपासनस्य कर्मणः प्रशस्तत्वात्तदेव विद्यासाधनं न तूपास्तिरहितम् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति श्रुतिः "सोपासनस्य कर्मणोऽतिशयेन वीर्यमस्ति" इति वदन्ती निरुपासनस्यापि वीर्यमात्रमभ्यनुजानाति । अन्यथा तरप्प्रत्ययानुपपत्तेः । तस्मात्सोपासननिरुपासनयोस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वम् ॥ १३ ॥

(चतुर्दश अधिकारिणामपि मुक्तिर्भवाधिकरणे सूत्रम्)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥

चतुर्दशाधिकरणमारचयति—

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् ।
विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥ २७ ॥
प्रारब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् ।
सुप्तबुद्धवदसंपेताद्वस्थ्यात्कुतो न मुक् ॥ २८ ॥

अधिकारिपुरुषाणां मुक्तिर्नास्ति । प्रारब्धभोगाय बहुषु जन्मसु स्वीकृतेषु

भेदसे दो प्रकारसे विभाजित किया जाता है । उनमेंसे उपासना सहित कर्म प्रशस्त होनेके कारण वही विद्याका साधन है, परन्तु उपासना रहित केवल कर्म नहीं ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'यदेव विद्यया करोति०' (जो कर्म विद्यासे-श्रद्धासे योग युक्त होकर करता है वह वीर्यवत्तर होता है) यह श्रुति उपासना सहित कर्ममें अतिशयसे वीर्य-शक्ति है ऐसा कहती हुई उपासना रहित कर्मको भी वीर्यमात्र अभिज्ञात करती है । अन्यथा 'तर' प्रत्यय अनुपपन्न होगा । इससे सोपासन और निरुपासन कर्म तारतम्यसे विद्याके साधन [redacted] ऐसा ज्ञात होता है ॥ १३॥

चतुर्दश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अनेक जन्मप्रद प्रारब्ध कर्मोंसे युक्त अधिकारी पुरुषोंकी मुक्ति होती है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—कृतकर्म फलप्रद होता है, अतः इससे विद्याका लोप होनेपर उनकी मुक्ति नहीं होती ।

सिद्धान्त—प्रारब्ध कर्म भोग कराता है न कि विद्याका लोप करता है । सुप्तोत्थितके समान कर्मोंका असम्बन्ध तदवस्थ होनेसे मुक्ति कैसे न होगी ? अवश्य होगी ।

अधिकारी पुरुषोंकी मुक्ति नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंके भोगके लिए अनेक जन्म

तत्र पूर्वार्जितविद्यायां यत्कर्म क्रियते तस्य फलप्रदत्वे सत्युत्तरोत्तरजन्मपरम्पराया अवश्यंभावित्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रारब्धं कर्म स्वफले सुखदुःखे भोजयेत् । तदर्थमेव प्रवृत्तत्वात् । न हि विद्यालोपार्थं किंचित्कर्म पूर्वमनुष्ठितं येन कर्मवशाद्विद्यालोप आशङ्क्येत । न च मरणव्यवधानमात्रेण विद्यालोपः सुषुप्तिव्यवधानेन तल्लोपादर्शनात् । अतो विद्यायामवस्थितायां बहुभिरपि क्रियमाणैः कर्मभिरश्लेषादस्त्यधिकारिणां मुक्तिः । यद्यप्येतद्गुणोपसंहारपादे निर्णीतं तथाऽपि तस्यैवाऽऽक्षेपसमाधाने इत्यनवद्यम् ॥ १४ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिक्न्यायमालायां
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	१४	१६८
सूत्राणि	१९	४९७



स्वीकार करनेपर उसमें पूर्वार्जित विद्यामें जो कर्म किया जाय उसके फलप्रद होनेसे उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा अवश्यंभावी है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रारब्ध कर्म अपने फल सुख दुःखका भोग कराता है, क्योंकि वह उसके लिए ही प्रवृत्त हुआ है । विद्यालोपके लिए पूर्वमें कोई कर्म अनुष्ठित नहीं है जिससे कि कर्मवश विद्यालोपकी आशङ्का हो । मरणके व्यवधानमात्रसे भी विद्याका लोप नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिके व्यवधानसे विद्याका लोप नहीं देखा जाता । अतः विद्याके अवस्थित होनेपर बहुत क्रियमाण कर्मोंसे असम्बन्ध होनेके कारण अधिकारी पुरुषोंकी मुक्ति है ।

यद्यपि इसका गुणोपसंहार पादमें निर्णय किया गया है, तो भी यहाँ उसीके आक्षेप और समाधान किये गये हैं, इससे निर्दोष है अर्थात् पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ १४ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनि प्रणीत-वैयासिकन्यायमालाके चतुर्थाध्यायके प्रथम
पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ १ ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः

(अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्)

[इस पादमें उत्क्रान्ति और गतिका निरूपण है]

(प्रथमे वागादीनां मनसि वृत्तिलयाधिकरणे सूत्रे)

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥ अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः ।
श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपविलयस्ततः ॥ १ ॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यं वृत्तिस्तु लीयते ।
वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः ॥ २ ॥

उत्क्रान्तिक्रमश्छान्दोग्ये श्रूयते—'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६।८।६) इति । तत्र म्रियमाणस्य पुरुषस्य वागादीनि दशेन्द्रियाणि मनसि लीयन्ते । स च लयः किं स्वरूपेण वृत्त्या वेति संशये सति "वाङ्मनसि" इति श्रुतौ वृत्तिशब्दाश्रवणात्स्वरूपलयः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मनसो वागादिकं प्रत्यनुपादानत्वात् 'उपादान एव

चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादमें प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—वाग् आदि इन्द्रियोंका मनमें लय स्वरूपसे है अथवा वृत्तिसे ?

पूर्वपक्ष—स्वरूपसे ही लय होता है, क्योंकि श्रुति 'वाङ्मनसि' ऐसा कहती है ।

सिद्धान्त—अनुपादानमें कार्यका लय नहीं होता किन्तु कार्यवृत्ति लय होती है अर्थात् वागादिकी वृत्ति लय होती है। जैसे वह्निवृत्तिका जलमें शमन होता है, वैसे, और वाक् शब्द वृत्तिका लक्षक है । अतः वाक् शब्दसे वाग्वृत्तिका ग्रहण करना चाहिए ।

छान्दोग्यमें उत्क्रान्ति क्रमकी 'अस्य सोम्य पुरुषस्य० (हे सोम्य ! इस म्रियमाण पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है, तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें, तेज परदेवतामें लीन हो जाता है) ऐसी श्रुति है । यहां म्रियमाण पुरुषकी वाग् आदि दश-इन्द्रियां मनमें लीन होती हैं । वह वाग् आदि इन्द्रियोंका लय क्या स्वरूपसे है अथवा वृत्तिसे ? ऐसा संशय होनेपर 'वाङ्मनसि' इस श्रुतिमें वृत्ति शब्दका श्रवण न होनेसे स्वरूप लय ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—मन वाणी आदिके प्रति

कार्यस्य स्वरूपलयः' इति मृद्घटादौ व्याप्तिदर्शनाच्च वागादीनां स्वरूपेण लयः। वृत्तिस्त्वनुपादानेऽपि लयमर्हति। अङ्गारेषु जलमध्ये प्रक्षिप्तेषु वह्निवृत्तेर्दाहप्रकाशात्मिकाया अनुपादाने जले लयदर्शनात्। श्रुतौ तु वाक्शब्देन वृत्तिर्लक्ष्यते। वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारात्। वागादीनां मनसि वृत्तिलयः ॥ १ ॥

(द्वितीये मनसः प्राणे लयाधिकरणे सूत्रम्)

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत, स्वयं यतः।
कारणान्नोदवद्द्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति ॥ ३ ॥
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणान्तिके न तु।
गौणः प्राणान्तिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥ ४ ॥

वागादिषु मनसि वृत्त्या प्रलीनेषु तन्मनः प्राणे स्वरूपेण लयमर्हति। मनः प्रति प्राणस्योपादानत्वसंभवात्। तथा हि—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति श्रुतेर्मनसोऽन्नं कारणम्। "आपोमयः प्राण." इति श्रुतेश्च प्राणस्याऽऽपः कारणम्।

उपादान कारण नहीं है, 'उपादानमें ही कार्यका स्वरूपसे लय होता है' इस प्रकारकी व्याप्ति मृत्तिकाघटमें देखी जाती है, इससे वाग् आदिका मनमें स्वरूपसे लय नहीं है। वृत्तिका अनुपादनमें भी लय हो सकती है। जलके मध्यमें अङ्गारोंके प्रक्षिप्त होनेपर दाह और प्रकाशात्मक अग्निकी वृत्तिका अनुपादान जलमें लय देखा जाता है। श्रुतिमें तो वाक् शब्दसे वाक्वृत्ति लक्षित होती है, क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान्का अभेद उपचार है। इससे मनमें वाग् आदिका वृत्तिलय होता है स्वरूपलय नहीं ॥१॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्राणमें मनका लय स्वरूपसे होता है अथवा वृत्तिसे ?

पूर्वपक्ष—स्वरूपसे लय होता है, क्योंकि अन्न और जल द्वारा प्राण मनका उपादान है।

सिद्धान्त—कार्य अपने उपादानमें ही साक्षात् लीन होता है, परम्परासे अमुख्य उपादानमें लीन नहीं होता। प्रकृतमें प्राण भी अन्न और जल द्वारा मनका अमुख्य उपादान है। इससे प्राणमें मनका वृत्तिलय होता है।

मनमें वृत्ति द्वारा वाग् आदिका लय होनेपर वह मन प्राणमें स्वरूपसे लय हो सकता है, क्योंकि प्राण मनके प्रति उपादान हो सकता है। जैसेकि 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य ! मन अन्नमय है।) इस श्रुतिसे अन्न मनका कारण कहा गया है। 'आपोमयः प्राणः' (प्राण जलमय है) इस श्रुतिसे जल प्राणका कारण कहा गया

तथा सति मनःप्राणशब्दाभ्यां तत्कारणे अन्नोदके उपलक्ष्य 'मनः प्राणे लीयते' इति वाक्यस्य 'अन्नमप्सु लीयते' इत्यर्थो व्याख्यातव्यः। तथा च कार्यस्य स्वोपादाने लयो भविष्यति। तस्मान्मनसः स्वरूपेण लयः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—द्विविधमुपादानम् मुख्यं प्राणालिकं च। तत्र प्राणमनसोर्मृद्घटयोरिव न मुख्य उपादानोपादेयभावोऽस्ति। किं तर्हि त्वदुक्तप्रकारेण संबन्धपरम्परया प्रणाल्या। न हि प्राणालिक उपादाने कार्यस्य लयं क्वचित्पश्यामः। तस्मान्मनसः प्राणे साक्षादनुपादाने वृत्त्या प्रविलयो द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

(तृतीये प्राणाना जोवे लयाधिकरणे सूत्राणि)

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४॥ भूतेष्वतः श्रुतेः ॥ ५ ॥

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

असोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः।
स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति क्वचित् ॥ ५ ॥
एवमेवेममात्मानं प्राणा यन्तीति च श्रुतेः।
जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ॥ ६ ॥

है। ऐसा होनेपर मन और प्राण शब्दमें उसके कारण अन्न और उदकको उपलक्षितकर 'मनः प्राणे लीयते' (मन प्राणमे लय होता है) इस वाक्यका 'अन्न जलमें लीन होता है, इस प्रकारके अर्थकी व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार कार्यका अपने उपादानमें लय होगा, इससे प्राणमें मनका स्वरूपसे लय है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपादान कारण दो प्रकारका है। एक मुख्य और दूसरा प्राणालिक-गौण। यहाँपर प्राण और मनका मृद्घटके समान मुख्य उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु तुम्हारी उक्तिके अनुसार सम्बन्ध परम्परा प्रणालीसे, प्राणालिक उपादानमें कार्यका लय कहींपर भी हम नहीं देखते हैं। इससे मनका वृत्ति द्वारा साक्षात् अनुपादान प्राणमें विलय समझना चाहिए।२।

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—प्राणका भूतोंमें लय होता है अथवा जीवमें ?

पूर्वपक्ष—भूतोंमे लय होता है, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) ऐसा श्रुति कहती है, परन्तु जीवमें प्राणका लय कहींपर भी नहीं कहा गया है।

सिद्धान्त—'एवमेवेममात्मानम्' इत्यादि श्रुतिसे जीवात्मामें प्राणोंका लय कहा गया है इसलिए प्रथम प्राण जीवमें लीन होकर उसके साथ पुनः भूतोंमें लीन होते हैं।

अन्तर्लीनैकादशेन्द्रिययुक्तस्य प्राणस्य तेजोबन्नेषु भूतेषु वृत्त्या प्रविलयः, न तु जीवे। "प्राणस्तेजसि" इति श्रुतेः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—"एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" इति श्रुतिर्जीवे प्राणलयमाह। 'यथा राजानं प्रयियासन्तं सर्वे भृत्याः समायन्ति, तद्वत्' इति श्रुतेरर्थः। न च "प्राणस्तेजसि" इति श्रुत्या विरोधः। जीवेन सहितः प्राणः पश्चात्तेजआदिभूतेषु लीयत इति व्याख्यातुं शक्यत्वात्। तस्मात्प्राणो जीवे प्रथमतो लयं प्राप्य पश्चात्तद्द्वारा भूतेषु लीयते ॥ ३ ॥

(चतुर्थे ज्ञान्यज्ञानिनोरुत्क्रान्तिसामान्याधिकरणे सूत्रम्)

समाना चाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा, नहि सा समा।
मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ॥ ७ ॥
आसृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा।
पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ॥ ८ ॥

'निर्गुणब्रह्मज्ञानिनस्तावदुत्क्रान्तिरेव नास्ति' इति वक्ष्यति। या तु सगुण-

---

अन्तर्लीन हुई ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्त प्राणका वृत्तिद्वारा तेज जल और अन्न रूप भूतोंमें विलय होता है, न कि जीवमें, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' ऐसी श्रुति है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले०' (इसी प्रकार अन्तकालमें जब वह ऊर्ध्वोच्छ्वासी होता है तब सब वाक् आदि प्राण इस आत्माके अभिमुख जाते हैं) यह श्रुति जीवमें प्राणका लय कहती है। 'जैसे प्रस्थान करते राजाको सब सेवक सम्मुख प्राप्त होते हैं, इसके समान' ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुतिके साथ विरोध नहीं है, क्योंकि जीवके साथ प्राण पश्चात् तेज आदि भूतोंमें लीन होता है' ऐसा व्याख्यान किया जा सकता है। इससे प्राण जीवमें पहले लीन हो कर पश्चात् जीव द्वारा भूतोंमें लीन होता है ॥ ३ ॥

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ज्ञानी और अज्ञानीकी उत्क्रान्ति समान है अथवा असमान ?

पूर्वपक्ष—वह समान नहीं है, क्योंकि दोनोंके मोक्ष और संसाररूप फल पृथक् पृथक् हैं।

सिद्धान्त—मार्गके उपक्रम तक अर्थात् अर्चिकी प्राप्ति तक वर्तमान जन्म है, अतः उत्क्रान्ति समान है। पश्चात् फलके भेदसे उनकी उत्क्रान्ति विषम भले ही हो।

निर्गुण ब्रह्मज्ञानीकी तो उत्क्रान्ति ही नहीं है, ऐसा कहेंगे। जो तो सगुण ब्रह्मज्ञानीकी

ब्रह्मज्ञानिन उत्क्रान्तिर्नासावज्ञान्युत्क्रान्त्या समाना। ब्रह्मलोकरूपस्य मोक्षस्य तद्विपरीतसंसारस्वरूपस्य च फलस्य विषमत्वेन तत्प्राप्तिद्वारभूताया उत्क्रान्तेर्वैषम्यस्योचितत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सगुणज्ञानिनो मूर्धन्यनाडीप्रवेश उत्तरमार्गोपक्रमः। ज्ञानरहितस्य नाड्यन्तरप्रवेशो मार्गान्तरोपक्रमः। मार्गपर्यन्तमिदमेव वर्तमानं जन्म। अत ऐहिकसुखदुःखवदुत्क्रान्तिरपि समाना। उपक्रान्ते तु मार्गे स्वदुक्तफलभेदाद्वैषम्यमस्तु ॥ ४ ॥

(पञ्चम उपासकस्य ब्रह्मणि स्वरूपेण लयनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥ नोपमर्देनातः ॥ १० ॥ अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूताना विलयः परे।
स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ॥ ९ ॥
आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः।
न चेत्कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् ॥ १० ॥

उत्क्रान्ति है वह अज्ञानीकी उत्क्रान्तिके समान नहीं है, क्योंकि ब्रह्मलोकरूप मोक्ष और उससे विपरीत संसाररूप फलके प्रतिविषम होनेसे उसकी प्राप्तिके द्वारभूत उत्क्रान्तिमे वैषम्य उचित ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सगुणज्ञानीका मूर्धन्य नाडी प्रवेश उत्तरमार्गसे उपक्रम है और ज्ञानरहितका अन्य नाडीमे प्रवेश-अन्यमार्गसे उपक्रम है। मार्गप्रर्यन्त यही वर्तमान जन्म है। अतः ऐहिक सुख, दुःखके समान उत्क्रान्ति भी समान है। मार्गके उपक्रमण होनेपर तो तुम्हारे कथनके अनुसार फल भेद होनेसे वैषम्य भले हो ॥ ४ ॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—भूतोका विलय परमात्मामें स्वरूपसे होता है अथवा वृत्तिसे ?

पूर्वपक्ष—अपने उपादान परमात्मामे भूतोका स्वरूपसे लय युक्त है।

सिद्धान्त—आत्मज्ञानीके भूतोका विलय भले स्वरूपसे ही हो, परन्तु अन्य अज्ञानियो के भूतोका तो वृत्ति द्वारा ही लय होगा। यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी जीवका कहीं भी जन्म नहीं होगा।

"तेजः परस्यां देवतायाम्" इत्यत्र तेजःप्रभृतीनां भूतानां परमात्मनि स्वरूपेण लयो युज्यते। परमात्मनो भूतोपादानत्वात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—आत्मतत्त्वज्ञानिनस्त्वदुक्तप्रकारेण भूतानां स्वरूपेण लयोऽस्तु। तस्य निर्णेष्यमाणत्वात्। उपासकस्य कर्मिणश्च जन्मान्तरसिद्धये वृत्तिलय एवाभ्युपगन्तव्य. ॥ ५ ॥

(षष्ठे ज्ञानिन प्राणानां देहादनुत्क्रान्त्यधिकरणे सूत्राणि)

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥ स्पष्टो ह्येकेषाम्॥१३॥

स्मर्यते ॥ १४ ॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

किं जीवादथवा देहप्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते।
जीवान्निवारणं युक्तं जीवेद्देहोऽन्यथा सदा ॥ ११ ॥
तप्ताश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः।
उच्छूयत्येव देहोऽन्ते देहात्सा विनिवार्यते ॥ १२ ॥

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृह० ४।४।६) इति तत्त्वविदः प्राणानामुत्क्रान्तिर्निषिध्यते। तस्य निषेधस्यापादानं जीवः, न तु देहः। अन्यथा देहादनुत्क्रान्तौ मरणाभाव प्रसज्येत।

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (तेजका पर देवता-परमात्मामें लय होता है) यहाँ—इस श्रुतिसे तेज प्रभृति भूतोंका परमात्मामें स्वरूपसे लय युक्त है, क्योंकि परमात्मा भूतोंका उपादान है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आत्मतत्त्व ज्ञानीके भूतोंका लय तुम्हारे कथनानुसार स्वरूपसे ही हो, क्योंकि उसका ऐसा ही निर्णय होगा। परन्तु उपासक और कर्मकी जन्मान्तर सिद्धिके लिए भूतोंका वृत्तिलय ही मानना चाहिए।

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—क्या प्राणोत्क्रान्तिका निषेध जीवसे किया जाता है अथवा देहसे ?

पूर्वपक्ष—जीवसे प्राणोत्क्रान्तिका निषेध युक्त है, अन्यथा सर्वदा शरीर जीवित रहेगा।

सिद्धान्त—उष्ण पाषाणके ऊपर जैसे प्रक्षिप्त जलबिन्दु विलीन हो जाता है, ठीक वैसे ही प्राणोंका देहमें विलय कहा गया है। मरनेपर देह फूल जाता है, अतः प्राणोत्क्रान्तिका देहसे ही निवारण किया जाता है, जीवसे नहीं।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (तत्त्ववित्के प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार तत्त्ववित्के प्राणोंकी उत्क्रान्तिका निषेध किया जाता है, उस निषेधका अपादान जीव है,

इति प्राप्ते ब्रूमः—तप्ताश्मनि प्रक्षिप्तं जलं न यथाऽन्यत्र गच्छति, नापि तत्र दृश्यते, किंतु स्वरूपेण लीयते। तद्वत्तत्त्वविदः प्राणा देहादनुत्क्रान्ता अपि न देहेऽवतिष्ठन्ते, किंतु विलीयन्ते। अतो जीवनासंभवात् 'मृतो देह.' इति व्यवहारः। अनुत्क्रान्ताना प्राणाना देहावस्थानाभावे देहस्योच्छूनत्वमेव लिङ्गम्। नन्वियत: प्रयासाद्वरं देहादुत्क्रान्तिरस्तु। प्रतिषेधस्तु जीवापादानको भविष्यति। मैवम्। देहादुत्क्रान्तस्य जीवेन सहावस्थितेषु प्राणेषु देहान्तरग्रहणस्याऽऽवश्यकत्वान्मुक्तिरेव न स्यात्। तस्मादुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह एवापादानं न जीवः॥ ६॥

(सप्तमे तत्त्वविद्प्राणानां परमात्मन्येव लयाधिकरणे सूत्रम्)

तानि परे तथा ह्याह॥ १५॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

ज्ञस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीना· परेऽथवा।
गताः कला इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः॥ १३॥
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्दृष्ट्या लयः परे।
अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम्॥ १४॥

[अर्थात् जीवसे प्राण उत्क्रमण नहीं करते] न कि देह। अन्यथा देहसे प्राणोंकी उत्क्रान्ति न होनेसे मरणाभाव प्रसक्त होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—तप्त पत्थर पर प्रक्षिप्त जल जैसे न अन्यत्र जाता है और न उसमें ही दिखाई देता है, किन्तु स्वरूपमें ही लीन हो जाता है, वैसे ही तत्त्ववित्के प्राण देहसे अनुत्क्रान्त होते भी न देहमें ही अवस्थित हैं, किन्तु विलीन ही हो जाते हैं। इससे जीवनका संभव न होनेसे 'देह मर गया' ऐसा व्यवहार होता है। अनुत्क्रान्त प्राणोंकी देहमें अवस्थिति है, इसमें देहका उच्छूनत्व ही लिङ्ग है। परन्तु इतने प्रयाससे तो देहसे उत्क्रान्ति मानना श्रेष्ठ है, प्रतिषेध तो जीवापादानक हो जायगा? ऐसा युक्त नहीं है क्योंकि देहसे उत्क्रान्त जीवके साथ प्राणोंके अवस्थित होनेपर अन्य देहका ग्रहण आवश्यक है, इससे मुक्ति हो नहीं होगी। इससे प्राणोंकी उत्क्रान्तिके प्रतिषेधका देह ही अपादान है जीव नहीं॥ ६॥

सप्तम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—तत्त्वज्ञानीके वाक् आदि इन्द्रियाँ अपने अपने कारणमें लीन होती हैं अथवा परब्रह्ममें?

पूर्वपक्ष—'गताः कलाः पञ्चदश' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञानीकी इन्द्रियोंका अपने अपने कारणमें लय होता है, परब्रह्ममें नहीं।

सिद्धान्त—जैसे नदियोंका समुद्रमें लय होता है, वैसे कलाओंका परमात्मामें

तत्वज्ञानिनो वागादयः प्राणा विलीयमानाः प्रतिस्विस्वेष्वग्न्याद्यधिकरणेषु विलीयन्ते, न तु परमात्मनि। 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मुण्ड० ३।२।७) इति कलाशब्दवाच्यानां प्राणादीनां प्रतिष्ठाशब्दवाच्यस्वस्वकारणप्राप्तिप्रतिपादकत्वात्। 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्' इत्यादिश्रुतेः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वविदो दृष्टया परमात्मन्येव लय इति श्रुत्यन्तरात्प्रतीयते। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।८) इति श्रुतौ नद्यविलयदृष्टान्त उपन्यस्यते। अथ दार्ष्टान्तिके परमात्मनि लय इत्ययमर्थो न विशदः, तर्हि श्रुत्यन्तरे विशदो गम्यते—'यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति। भिद्यते तासां नामरूपे 'समुद्र' इत्येव प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति।

लय होता है उसी प्रकारकी भाष्योक्तिसे विद्वानोंकी दृष्टिसे इन्द्रियोंका लय परमात्मामें ही होता है। 'गताः कलाः' इत्यादि शास्त्र तो अविद्वानोंकी दृष्टिसे उदाहृत है।

तत्त्वज्ञानीकी विलीन होती हुई वाग आदि इन्द्रियाँ अपने अपने अग्नि आदि

अधिकरणोंमें विलीन होती हैं परमात्मामें नहीं। क्योंकि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मोक्षकालमें देहारम्भक प्राण आदि पन्द्रह कलाएँ अपने अपने आश्रयोंमें स्थित हो जाती हैं) इसमें कलाशब्द वाच्य प्राण आदिके प्रतिष्ठा शब्द वाच्य अपने अपने कारणकी प्राप्तिका प्रतिपादक है। यत्रास्य० (जिस समय इस पुरुषकी वाक् अग्निको प्राप्त होती है प्राण वायुको और चक्षु आदि यको प्राप्त होती है) इत्यादि श्रुति है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—तत्त्ववित्की दृष्टिसे वाग आदि इन्द्रियोंका परमात्मामें ही लय होता है यह अन्य श्रुतिसे निश्चय होता है। यथा नद्य० (जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं वैसे ही विद्वान् नाम रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है) इस श्रुतिमें नदी समुद्रका दृष्टान्त कहा गया है। यदि दार्ष्टान्तिक परमात्मामें लय इस प्रकार यह अर्थ स्पष्ट नहीं है तो अन्य श्रुतिमें स्पष्ट ज्ञात होता है— यथेमा नद्य० (जैसे वेगसे बहती हुई समुद्रायण ये नदियाँ समुद्रको प्राप्तकर लय हो जाती हैं उनके नाम और रूपका लय हो जाता है, समुद्र है ऐसा कहा जाता है इस प्रकार इस तत्त्ववित्की पुरुषाश्रय षोडश-कलाएँ पुरुषको प्राप्तकर लय हो जाती हैं उनके नाम

भिद्येते तासां नामरूपे 'पुरुषः' इत्येवं प्रोच्यते (प्र० ६।५) इति। भिद्येते विलियेते। सेयं श्रुतिस्तत्त्वविद्दृष्टिविषया। 'गताः कलाः' इति शास्त्रं तु तटस्थपुरुषप्रतीतिविषयम्। म्रियमाणे तत्त्वविदि समीपवर्तिनः पुरुषाः स्वस्वदृष्टान्तेन तदीयवागादीनामप्यग्न्यादिषु लयं मन्यन्ते। अतः श्रुत्योर्न विरोधः। तस्मात्परमात्मनि तत्त्वविदः प्राणानां लयः ॥ ७ ॥

(अष्टमे तत्त्वविद्वागादिलयस्य निःशेषत्वाधिकरणे सूत्रम्)

अविभागो लोकवत् ॥ १६ ॥

अष्टममधिकरणमारचयति—

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाथवाऽऽत्मनि।
शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥ १५ ॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव तल्लयः।
अज्ञे जन्मान्तरार्थं तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरण उक्तो लयो न निःशेषः, किंतु सावशेषो भवितुमर्हति। वागादिलयत्वात्, अज्ञानिवागादिलयवत्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'भिद्येते तासां नामरूपे' इत्यत्र जीवस्य याः षोडशकलाः संसारहेतवः, तासां कलानां नामरूपविभेदः श्रूयते। कलाश्च वाक्योपक्रमेऽनु-

---

रूपका विलय हो जाता है 'पुरुष' ऐसा ही कहा जाता है) भिद्येते-विलय हो जाते हैं। यह श्रुति तत्त्वविद् दृष्टि विषयक है। 'गताः कलाः' यह शास्त्र तो तटस्थ-पुरुष प्रतीति विषयक है। म्रियमाण तत्त्वविद्के समीपवर्ती पुरुष अपने अपने दृष्टान्तसे उनके वाग् आदि इन्द्रियोंका भी अग्नि आदिमें लय मानते हैं। अतः दोनों श्रुतियोंका विरोध नहीं है। इससे तत्त्वविद्की इन्द्रियोंका परमात्मामें ही लय होता है ॥ ७ ॥

अष्टम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—आत्मामें वागादि इन्द्रियोंका लय शक्ति विशेषसे होता है अथवा निरवशेष ?

पूर्वपक्ष—शक्ति विशेष युक्त ही लय है अर्थात् उनका शेष रहता है, क्योंकि अज्ञानियों में ऐसा देखनेमें आता है।

सिद्धान्त—श्रुतिमें नाम रूपका विलय कहा गया है, इसलिए निःशेष ही प्राणोंका लय होता है। परन्तु अज्ञानी पुरुषोंके जन्मान्तरके लिए शक्ति शेषत्व अभीष्ट है।

पूर्व अधिकरणमें उक्त लय निःशेष नहीं है, किन्तु सविशेष होना चाहिए, वागादिका लय होनेसे, अज्ञानीके वाग् आदि लयके समान।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'भिद्येते तासां नामरूपे' इस श्रुतिमें जीवकी जो संसार हेतुभूत कलाएँ हैं उन कलाओंके नाम और रूपका विभेद-

मान्ताः—'स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्। अन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाः, लोकेषु च नाम च' (प्र० ६।४) इति। यदि प्राणादीनां नामान्तानां नामरूपे शक्त्यवशेषेण लीयेते, तदा नामरूपविभेदश्रुतिरुपरुध्येत। शक्त्यात्मना नामरूपयोः सूक्ष्मयोरवस्थानात्। अज्ञानिनस्तु जन्मान्तरसिद्धये शक्त्यवशेषत्वमिष्यते। तस्मात्तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः॥ ८॥

(नवम उपासकोत्क्रान्तेर्विशेषाधिकरणे सूत्रम्)

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-
गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥ १७॥

नवमाधिकरणमारचयति—

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः।
हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात्॥ १७॥
मूर्धन्ययैव नाड्याऽसौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात्।
विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यनिर्गमात्॥ १८॥

लय सुना जाता है। कलाओंका वाक्योपक्रममें 'स प्राणमसृजत' (उस अन्तर्यामी पुरुषने प्राण-हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया। उस प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय—पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय मन, व्रीहि, यव आदि अन्न, अन्नसे वीर्य-सामर्थ्य तप, कर्मके साधन भूत ऋक्, यजु आदि मन्त्र, अग्निहोत्र आदि कर्म, कर्मोंके फलरूप लोक, उन लोकोंमें रहनेवालेके अश्वरथ, आदि नाम, उनकी रचना की) ऐसा अनुक्रम है। यदि नाम पर्यन्त प्राण आदिके नाम और रूप शक्ति अवशेषसे लीन हों, तो नाम और रूपकी प्रलय प्रतिपादक श्रुति बाधित होगी, क्योंकि शक्तिरूपसे सूक्ष्म नाम, रूप अवस्थित है। जन्मान्तर सिद्धिके लिए अज्ञानको तो शक्ति अवशेषता अभिप्रेत है। इससे तत्त्ववित्के वाग् आदिका निःशेष रूपसे ही परमात्मामें लय होता है॥८॥

नवम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उपासककी उत्क्रान्ति अन्य जनोंकी उत्क्रान्तिके समान है अथवा विशेष है?

पूर्वपक्ष—हृदय प्रद्योतन-नाडी मुखज्वलनरूप साम्य उक्तिसे अन्योंकी उत्क्रान्तिसे उपासककी उत्क्रान्ति विशेष नहीं है।

सिद्धान्त—उपासक मूर्धन्य नाडीसे ही उत्क्रमण करता है, क्योंकि उसने मूर्धन्य नाडीका चिन्तन किया है, इससे और सगुण ब्रह्मविद्याके सामर्थ्यसे भी अन्योंके उत्क्रमणके देखनेसे उपासककी उत्क्रान्तिमें विशेषता है।

उपासकस्य येयमुत्क्रान्तिः सेयमितरोत्क्रान्त्या मार्गोपक्रमपर्यन्तं समेत्युक्तम्। अथ मार्गोपक्रमेऽपि समैव भवितुमर्हति। हृत्प्रद्योतनादेः समत्वश्रवणात्। तथा हि—"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" (बृह० ४।४।२) इति श्रूयते। अस्यामर्थः—'वाङ्मनसि संपद्यते' इति क्रमेण सजीवं लिङ्गशरीरं शक्त्यवशेषं परमात्मनि यदा लीयते, तदा पूर्वजन्म समाप्तं भवति। अथ जन्मान्तराय तल्लिङ्गं पुनर्हृदये प्रादुर्भवति। तस्मिन्नवसरे हृदयाग्रेऽवस्थितस्य लिङ्गस्य गन्तव्यभाविजन्मालोचकात्मकोऽन्त्यप्रत्ययत्वेन लोके प्रसिद्धः कश्चित्प्रद्योतो भवति। तेन युक्तः सन्नाडीभ्यो निर्गच्छतीति। एतच्च सर्वेषां समानम्। तस्मान्नोपासकस्येतरेभ्यो विशेषः।

इति प्राप्ते ब्रूमः—मूर्धन्यैव नाड्योपासको निर्गच्छति। इतराभ्य एव नाडीभ्य इतरे। कुतः। उपासकेन मूर्धन्यनाड्याश्चिन्तितत्वात्। सगुणब्रह्मविद्यासामर्थ्याच्च। श्रुत्यन्तरे चायमर्थः स्पष्टमेव गम्यते—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ (छा० ८।६।६)

उपासककी जो यह उत्क्रान्ति है वह मार्गके उपक्रमतक तो अन्य लोगोंकी उत्क्रान्तिके समान है, ऐसा पहले कहा गया है। मार्गके उपक्रममें भी समान ही होनी चाहिए, क्योंकि हृदय प्रद्योतन आदिका समान श्रवण है। जैसेकि 'तस्य हैतस्य' (उस इस हृदयका अग्रभाग प्रकाशित होता है। उसी प्रकाशसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य भागसे बाहर निकलता है) ऐसी श्रुति है। इसका यह अर्थ है—'वाणी मनमें लीन होती है' इस क्रमसे शक्ति अवशेष जीव सहित लिङ्ग शरीर जब परमात्मामें लीन होता है तब पूर्व जन्म समाप्त होता है। अनन्तर जन्मान्तरके लिए वह लिङ्ग शरीर पुनः हृदयमें प्रादुर्भूत होता है। उस अवसरपर हृदयके अग्रभागमें अवस्थित लिङ्ग शरीरको गन्तव्य भाविजन्मका आलोचनात्मक जो अन्त्य प्रत्ययरूपसे लोकमें प्रसिद्ध है कोई प्रकाशित होता है, उससे युक्त हुआ यह आत्मा नाडियोंसे निकल जाता है। यह तो सब लोगोंका समान है। इससे उपासककी उत्क्रान्तिमें अन्यकी उत्क्रान्तिसे विशेषता नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपासक मूर्धन्य नाडीसे ही निर्गमन करता [redacted] और अन्य, अन्य नाडियोंसे ही, क्योंकि उपासकने मूर्धन्य नाडीका चिन्तन किया गया है और सगुण ब्रह्मविद्याकी सामर्थ्य है। 'शतं चैका०' (हृदयकी सौ एक मुख्य नाड़ियां हैं; उनमें एक मूर्धाकी ओर निकल गई है, उसके द्वारा ऊपरकी ओर

इति । 'अन्या नाड्य उत्क्रमणायोपयुज्यन्ते, नत्वमृतत्वप्राप्तये' इत्यर्थः । तस्मादस्त्युपासकस्य विशेषः ॥ ९ ॥

(दशमे रात्रिमृतस्यापि रश्म्यनुसारित्वाधिकरणे सूत्रे)

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

दशमाधिकरणमारचयति—

अहन्येव मृतो रश्मीन्याति निश्यपि वा निशि ।
सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥ १९ ॥
यावद्देहं रश्मिनाड्योर्योगो ग्रीष्मक्षपास्वपि ।
देहदाहाच्छ्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ ॥ २० ॥

'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्य रश्मिसंबन्धः श्रूयते । स चाहन्येव मृतस्य संभवति, न तु रात्रौ, रश्म्यभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—रश्मिनाड्योः संबन्धो यावद्देहभावी । अत एव ग्रीष्म-

---

जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है, शेष नाड़ियाँ नानागतिको देनेवाली केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं) इस अन्य श्रुतिमें यह अर्थ स्पष्ट ही ज्ञात होता है । 'अन्य नाड़ियाँ उत्क्रमणके लिए उपयोगी होती हैं परन्तु वे मोक्ष प्राप्तिके लिए नहीं हैं' । ऐसा अर्थ है । उससे उपासककी उत्क्रान्तिमें अन्यकी अपेक्षा विशेष है । ९ ।

दशम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—दिनमें ही मृत पुरुष रश्मियोंको प्राप्त होता है अथवा रात्रिमें मृत भी ?

पूर्वपक्ष—रात्रिमें सूर्यकी रश्मियोंके अभाव होनेसे दिनमें ही मृतक रश्मियोंको प्राप्त होता है ।

[*सिद्धान्त—रश्मि और नाड़ीका सम्बन्ध यावद् देह भावी है, ग्रीष्म ऋतुकी रात्रियोंमें भी देह संतापका अनुभव होता है, श्रुति भी रश्मि और नाड़ीका अवियोग दिखलाती है । इससे मृतक व्यक्ति रात्रिमें भी रश्मियोंको प्राप्त होता है ।*]

'अथैतैरेव०' (उपासक इन्हीं रश्मियोंसे ऊपरको उत्क्रमण करता है) इससे मूर्धन्य नाड़ीसे निकले हुएका रश्मि सम्बन्ध सुना जाता है । वह तो दिनमें ही मृतका संभव है, रात्रिमें नहीं, क्योंकि रात्रिमें रश्मियाँ नहीं हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—रश्मि और नाड़ीका सम्बन्ध

निशासु देहदाह उपलभ्यते। ऋत्वन्तरेषु तु प्रतिषिद्धत्वादनुपलम्भः। श्रुतिश्च रश्मिनाड्योरवियोगं दर्शयति—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता.' (छा० ८।६।२) इति। तस्मान्निश्यपि मृतो रश्मीन्याति ॥ १० ॥

(एकादश मयनाधिकरणे तत्त्वविदो दक्षिणायनेऽपि विद्याफलाधिकरणे सूत्रे)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥ योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

एकादशाधिकरणमारचयति—

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा।
नैत्युत्तरायणाद्युक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥ २१ ॥
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात्।
फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासक. ॥ २२ ॥

*दक्षिणायने मृतस्योपासकस्य न विद्याफलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः संभवति।

तो यावद् देह भावी है, अतएव ग्रीष्म रात्रियोंमें भी देहमें गर्मी उपलब्ध होती है। अन्य ऋतुओंमें भी शीत आदिसे प्रतिहत होनेसे प्रतीत नहीं होती। श्रुति भी रश्मि और नाड़ीका अवियोग दिखलाती है-'अमुष्मादादित्यात्०' (वे रश्मियाँ निरन्तर उस आदित्यमण्डलसे फैलती हैं और इन नाड़ियोंमें प्रवेश करती हैं और इन नाड़ियोंसे फैलती हैं वे उस आदित्य मण्डलमें प्रवेश करती हैं) इससे निश्चित हुआ कि रात्रिमें भी मृत रश्मियोंको प्राप्त होता है ॥ १०॥

एकादश अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—दक्षिणायनमें मृतक उपासक उपासनाफल-ब्रह्म प्राप्ति कर सकता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—श्रुति और स्मृतिमें उत्तरायण आदिके कथनसे और भीष्म पितामह द्वारा उत्तरायणकी प्रतीक्षा होनेसे दक्षिणायनमें मरकर ब्रह्म प्राप्ति नहीं कर सकता है।

सिद्धान्त—उत्तरायण शब्दसे आतिवाहिक देवता कहे गये हैं। पिताकी प्रसन्नतासे प्राप्त स्वेच्छा मरणरूप वरदानकी ख्यातिके लिए भीष्म पितामहने उत्तरायणकी प्रतीक्षा की और विद्याफल ब्रह्म प्राप्ति अवश्यंभावी-अव्यभिचरित होनेसे उपासक विद्याके फल ब्रह्मको प्राप्त होता है।

दक्षिणायनमें मृत उपासकको विद्याका फल ब्रह्मलोक प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि

वाक्यशेषे पञ्चाग्निविद्याविदो विद्यान्तरोपासनाश्चोद्दिश्यार्चिरादिमार्गस्यैव पठितत्वात्—"य इत्थं विदुः, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति" (बृह० ६।२।१५) इति। श्रुत्यन्तरोक्तानां वाय्वादीनां गुणोपसंहारन्यायेनार्चिरादिमार्गप्रवेशे सति तत्पर्वत्वसंभवात्। तस्मादर्चिरादिमार्ग एक एव ॥ १ ॥

(द्वितीये वायोः संनिवेशाधिकरणे सूत्रम्)

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

संनिवेशयितुं वायुरन्नाशक्योऽथ शक्यते।
न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥ ३ ॥
वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति।
श्रुतेर्वायुप्रवेशोऽर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥ ४ ॥

"तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः, संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषोऽमानवः, स एतान्ब्रह्म गमयति" (छा०

अर्चिरादि एक ही मार्ग है। क्योंकि पंचाग्निविद्याके वाक्यशेषमें पंचाग्निविद्यावेत्ताओं और अन्य विद्याके उपासकोंको उद्देश्यकर अर्चिरादि मार्ग ही पठित है। 'य इत्थं विदुः' (जो ऐसा जानते हैं) जो ये अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर तपकी उपासना करते हैं, वे अर्चिको प्राप्त होते हैं) अन्य श्रुतिमें उक्त वायु आदि मार्गोंका गुणोपसंहारन्यायसे अर्चिरादि मार्गमें प्रवेश होनेपर तत्पूर्वत्व हो सकता है। इसलिए अर्चिरादि मार्ग एक ही है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अर्चिरादि मार्गमें वायुका संनिवेश हो सकता है अथवा नहीं हो सकता ?

पूर्वपक्ष—नहीं हो सकता, क्योंकि वायु लोकमें श्रौत क्रमका अभाव है।

सिद्धान्त—अर्चिरादि मार्गमें संनिवेश करना चाहिए, क्योंकि 'वायुके छिद्रसे निकलकर वह आदित्यलोकमें आता है, इस अर्थकी बोधिका श्रुति है, इससे आदित्य लोकके नीचे वायुका और वायु लोकके नीचे देवलोकका भी समावेश है।

'तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति०' (वे अर्चिको प्राप्त करते हैं, अर्चिसे अहको, अहसे आपूर्यमाणपक्ष-शुक्लपक्षको, आपूर्यमाणपक्षसे जिन छः मासोंमें सूर्य उत्तरमें जाता है उन छः मासोंको, मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको चन्द्रमासे विद्युत्को, वहाँ अमानव पुरुष है, वह अमानव पुरुष इन उपासकोंको ब्रह्मलोकमें

५।१०।१-२) इति श्रूयमाणेऽर्चिरादिमार्गे शाखान्तरे श्रुतो वायुः केनापि संनिवेशेनान्तर्भावयितुमशक्यः। 'अस्योपरि वायुः' इति क्रमस्याश्रुतत्वात्। कल्पकाभावाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—श्रुत्यन्तरं तत्कल्पकम्। तथा हि—"स वायुमागच्छति तस्मै स विजिहीते यथा रथचक्रस्य खम्। तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति" (बृह० ५।१०।१) इति। 'इतो निर्गत्योपासको यदा वायुमागच्छति, तदा तद्वायुमण्डलं छिद्रितं भवति। तेन रथचक्रच्छिद्रप्रमाणेन वायुच्छिद्रेण वायुमण्डलमुल्लङ्घ्याऽऽदित्यमण्डलं प्राप्नोति' इत्यर्थः। एवं च वायोरादित्यात्पूर्वत्वप्रतीते. क्रमविशेषोऽवगन्तुं शक्यते। "मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सराद्वायुम्, वायोरादित्यम्" इत्येवं संनिवेशः कर्तव्यः। बृहदारण्यके तु—मासानन्तरं संवत्सरं परित्यज्य तस्य स्थाने देवलोकः पठित। स च संवत्सरानन्तरं वायोरर्वाङ्निवेशयितव्यः। माससंवत्सरयोः संबन्धित्वेन प्रसिद्धयोरानन्तर्यस्यानिवारणीयत्वात्। तदेवं संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवेशयितव्यौ ॥ २ ॥

पहुँचाता है) इस प्रकार श्रूयमाण अर्चिरादिमार्गमें अन्य शाखामें श्रुतवायुका किसी भी संनिवेशसे अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके अनन्तर वायु है, ऐसा क्रम श्रुत नहीं है और कल्पक हेतुका भी अभाव है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अन्य श्रुति ही इस अर्थका कल्पक है। जैसे कि 'स वायुमागच्छति०' (वह वायुको प्राप्त होता है, वहां वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त हो जाता है—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहिएका छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढता है वह सूर्यलोकमें पहुंच जाता है) 'इससे निकलकर उपासक जब वायुमें आता है, तब वायु मण्डल सच्छिद्र हो जाता है, वह रथ चक्र छिद्रके समान वायु छिद्रसे वायुका उल्लङ्घनकर आदित्यमण्डलको प्राप्त होता है' यह श्रुत्यर्थ है। इस प्रकार वायुकी आदित्यसे पूर्व प्रतीति होनेसे क्रम विशेष जाना जा सकता है—'मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे वायुको, वायुसे आदित्यको प्राप्त होता है। इस प्रकार संनिवेश करना चाहिए। बृहदारण्यकमें तो मासके अनन्तर संवत्सरका परित्यागकर उसके स्थानमें देवलोक पठित है। उसका संवत्सरके अनन्तर और वायुके पूर्वमें संनिवेश करना चाहिए, क्योंकि सम्बन्धिरूपसे प्रसिद्ध मास और संवत्सरका आनन्तर्य अनिवारणीय है। इससे संवत्सर और आदित्यके मध्यमें देवलोक और वायुलोकका संनिवेश करना चाहिए ॥ २ ॥

(तृतीये वरुणादिलोकानां व्यवस्थाधिकरणे सूत्रम्)

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

वरुणादेः संनिवेशो नास्ति तत्रोत विद्यते ।
नास्ति वायोरिवैतस्य व्यावस्थाश्रुत्यभावतः ॥ ५ ॥
विद्युत्संबन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः ।
वरुणो विद्युतोऽस्यूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥ ६ ॥

कौषीतकिनः—पठन्ति—"स वरुणलोकम्, स इन्द्रलोकम्, स प्रजापतिलोकम्" इति । ते वरुणादयस्त्रयो लोका अर्चिरादिमार्गे निवेशयितुमशक्याः । वायोरिव व्यवस्थापकाभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—विद्युल्लोकस्योपरि वरुणलोकः संबन्धवशाद्व्यवस्थाप्यते । 'विद्युत्पूर्वकवृष्टिगतनीरस्य वरुणोऽधिपतिः' इति विद्युद्वरुणयोः संबन्धः इन्द्रप्रजापत्योस्तु स्थानान्तरासंभवेऽपि 'आगन्तुकानामन्ते संनिवेशः' इति न्यायेन वरुणलोकस्योपरि संनिवेशः वरुणादीनां संनिवेशादर्चिरादिमार्गो व्यवस्थितः ॥३॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—अर्चिरादि मार्गमें वरुणादिका संनिवेश है अथवा नहीं है।

पूर्वपक्ष—वरुण आदिका संनिवेश नहीं है, क्योंकि वायुके समान इसकी व्यवस्थापिका श्रुति नहीं है ।

सिद्धान्त—वरुणका अर्चिरादिमार्गमें संनिवेश है, क्योंकि वरुण विद्युत्सम्बन्धी वृष्टिके जलका अधिपति है, अतः विद्युत्के ऊपर वरुण है उसके ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं। ऐसा क्रम है।

कौषीतकी शाखावाले पढते हैं—'स वरुणलोकम्०' (वह वरुणलोक वह इन्द्रलोक और वह प्रजापति लोकको जाता है) ये वरुण आदि तीनों लोक अर्चिरादि मार्गमें संनिविष्ट नहीं किये जा सकते, क्योंकि वायुके समान यहाँ कोई व्यवस्थापक नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—विद्युत्लोकके ऊपर वरुण लोककी सम्बन्धसे व्यवस्था की जाती है। विद्युत्पूर्वक वृष्टिगत जलका वरुण अधिपति है, इस प्रकार विद्युत् और वरुणका सम्बन्ध है। इन्द्र और प्रजापतिका अन्य स्थान नहीं है, तो भी 'आगन्तुकानामन्ते संनिवेशः' (आगन्तुकोंका अन्तमें समावेश होना चाहिए) इस न्यायसे वरुणलोकके ऊपर इन्द्र और प्रजापति लोकोंका सन्निवेश है। इस प्रकार वरुण आदिके संनिवेश होनेसे अर्चिरादि मार्ग सुव्यवस्थित है ॥ ३ ॥

(चतुर्थं अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वाधिकरणे सूत्राणि)

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥ उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेतारो वार्ऽर्चिरादयः ।
आद्यो स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः ॥ ७ ॥
अन्त्ये गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेदृशः ।
निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान्प्रति ॥ ८ ॥

य एतेऽर्चिरादयः श्रुतास्ते मार्गचिह्नानि भवितुमर्हन्ति । लौकिकमार्गचिह्नसारूप्येण निर्दिश्यमानत्वात् । लोका हि मार्गज्ञानायैवं निर्दिशन्ति—ग्रामान्निर्गत्य नदीं व्रज, ततः पर्वतम्, ततो घोषमिति तद्वदत्रापि "अर्चिषोऽहः । अह्न आपूर्यमाणपक्षम्" इति निर्दिश्यते । तस्मान्मार्गचिह्नानि । यद्वा ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्विश्रामस्थानभोगभूमयोऽर्चिरादयः । कुतः । वायुलोकं वरुणलोकमिति प्रयुक्तस्य लोकशब्दस्य भोगभूमौ प्रसिद्धत्वात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ५।१०।२)

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—*क्या अर्चिरादि मार्गके चिह्न हैं, या भोग-भूमि हैं, अथवा नेता हैं ?*

पूर्वपक्ष—अर्चिरादि मार्गके चिह्न विशेष हैं अथवा भोग भूमि हैं, क्योंकि मार्गके चिह्नका सादृश्य है और लोक शब्दका प्रयोग है ।

सिद्धान्त—श्रुतिके अन्तमें 'गमयति' (ले जाता है) इस प्रकारके कथनसे अर्चिरादि नेता हैं, उनमें इस प्रकारका निर्देश भी हो सकता है, एवं लोक शब्दका प्रयोग तन्निवासी जनोंके आधारपर किया गया है ।

श्रुतिमें प्रतिपादित जो ये अर्चिरादि हैं, वे मार्गके चिह्न होने चाहिए, क्योंकि लौकिक मार्ग चिह्नके सादृश्यसे निर्दिश्यमान हैं, लोग मार्ग जानके लिए ही निर्देश करते हैं—'ग्रामसे निकलकर नदीको जाओ, नदीसे पर्वतको और पर्वतसे पर्णकुटिको जाओ' ठीक इसी प्रकार यहां भी 'अर्चिसे अहको, अहसे शुक्लपक्षको' ऐसा निर्देश किया जाता है । इससे अर्चिरादि मार्ग-चिह्न हैं । अथवा ब्रह्मलोक जानेवालोंके लिए अर्चिरादि विश्राम स्थान भोगभूमि हैं । क्योंकि 'वायुलोक, वरुणलोक' इस प्रकार प्रयुक्त लोक शब्द भोग भूमिमें प्रसिद्ध है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तत्पुरुषोऽमानवः०' (वह

इत्यन्ते श्रूयमाणस्यामानवस्य विद्युत्पुरुषस्य नेतृत्वावगमात्, तत्साहचर्येणार्चिरादयोऽप्यातिवाहिकदेवता इत्यवगम्यते। यत्तु निर्देशसाम्यमुक्तं तदातिवाहिकदेवतास्वपि समानम्। 'गच्छ त्वमितो बलवर्माणम्, ततो जयगुप्तम्, ततो देवदत्तम्' इत्यादिनिर्देशदर्शनात्। लोकशब्दस्तूपासकानां तत्र भोगाभावेऽप्यातिवाहिकदेवानां भोगमपेक्ष्योपपद्यते। तस्मादातिवाहिका अर्चिरादयः ॥४॥

(पञ्चमे कार्यब्रह्मण एवोत्तरमार्गगम्यत्वाधिकरणे सूत्राणि)

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥ विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥ सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ६ ॥ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥ स्मृतेश्च ॥ ११ ॥ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥ दर्शनाच्च ॥ १३ ॥ न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

परं ब्रह्माथ वा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते।
मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥ ६ ॥
कार्यं स्याद्गतियोग्यत्वात्परस्मिंस्तदसंभवात्।
सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत् ॥ १० ॥

विद्युत्पुरुष अमानव है उपासकोंको ब्रह्मलोकमें पहुँचाता है) इस श्रुतिके अन्तमें श्रूयमाण अमानव विद्युत्पुरुष नेता अवगत होता है। उसके साहचर्यसे अर्चिरादि भी आतिवाहिक देवता हैं, ऐसा अवगत होता है। और जो निर्देशसाम्य कहा गया है, वह आतिवाहिक देवताओंमें भी समान है। 'यहाँसे तुम बलवर्माके पास जाओ, उससे जयगुप्तके पास, उससे देवदत्तके पास जाओ' इत्यादि निर्देश देखा जाता है। लोक शब्द तो उपासकोंमें वहाँपर भोगके अभावमें भी आतिवाहिक देवोंके भोगकी अपेक्षा कर उपपन्न होता है। इससे अर्चिरादि आतिवाहिक हैं ॥ ४ ॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—उत्तरमार्गसे क्या परब्रह्मकी प्राप्ति होती है अथवा कार्यब्रह्म की ?

पूर्वपक्ष—परब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है, क्योंकि ब्रह्म शब्दका मुख्यार्थ परब्रह्म है। और 'अमृतत्वमेति' इस श्रुति वचनसे भी परब्रह्म ही प्राप्त होता है।

सिद्धान्त—कार्य ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वह गतिके योग्य है और परब्रह्ममें गतिका संभव नहीं है। ब्रह्म शब्दकी उक्ति तो सान्निध्यसे कही गई है और क्रमशः अमृतत्व प्राप्त होगा।

"स एतान्ब्रह्म गमयति" इति श्रूयमाणं यदुत्तरमार्गप्राप्यं वस्तु, तत्परं ब्रह्म भवितुमर्हति। ब्रह्मशब्दस्य तत्र मुख्यत्वात्। 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (कठ० ६।१६) इत्यमृतत्वकथनाच्च।

इति प्राप्ते ब्रूमः—सत्यलोकाख्यं कार्यं ब्रह्म, उपासकव्यतिरिक्तत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च गतिपूर्वकप्राप्तियोग्यम्। न तु तथा परं ब्रह्म, तस्य सर्वगतत्वात्। उपासकस्वरूपत्वाच्च। ब्रह्मशब्दस्तु मुख्यार्थासंभवेन सामीप्यसंबन्धात्सत्यलोकमाचष्टे। समीपो हि सत्यलोकः परब्रह्मणः। तल्लोकवासिनां तत्त्वज्ञानेऽवश्यंभाविनि सति पुनर्जन्मव्यवधानमन्तरेण मोक्ष्यमाणत्वात्। अत एव स्मृतिराह—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे प्राप्ते च प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति॥

एवं च सत्यमृतत्वश्रुतिः क्रममुक्त्यभिप्राया। तस्मादुत्तरमार्गेण प्राप्यं कार्यं ब्रह्म॥ ५॥

(षष्ठे प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकगतिनिराकरणाधिकरणे सूत्रे)

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च॥ १५॥ विशेषं च दर्शयति॥ १६॥

षष्ठाधिकरणमारचयति—

'स एतान्ब्रह्म गमयति' इस श्रुति वाक्यसे श्रूयमाण उत्तरमार्गसे प्राप्य जो वस्तु है, वह परब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मशब्द उसमें मुख्य है। 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति'० (उस मूर्धन्य नाडीसे ऊर्ध्वको जाकर अमृतत्वको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे अमृतत्वका कथन है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सत्यलोक संज्ञक कार्य ब्रह्म यह उपासकसे भिन्न और परिच्छिन्न होनेसे गति पूर्वक प्राप्तिके योग्य है, परन्तु परब्रह्म वैसा नहीं है, क्योंकि वह सर्वगत है और उपासकका स्वरूप है। ब्रह्म शब्द तो मुख्यार्थक न होनेसे सामीप्य सम्बन्ध-संनिधि प्रमाणसे सत्यलोकको कहता है, सत्यलोक परब्रह्मके समीप है। तत्लोक वासियोंको तत्त्वज्ञान अवश्यंभावी होनेपर पुनर्जन्मके व्यवधानसे रहित वे मोक्ष प्राप्त करनेवाले होते हैं। अतएव 'ब्रह्मणा सह०' (महाप्रलय होनेपर हिरण्यगर्भके अन्तमें अर्थात् समष्टि लिङ्ग शरीरका अवसान होनेपर ब्रह्मलोक शुद्ध-बुद्धिवाले सभी मुख्यान ब्रह्माके साथ परपदको-परब्रह्म स्वरूपको प्राप्त होते हैं) ऐसा स्मृति कहती है। ऐसा होनेपर अमृतत्व प्रतिपादिका श्रुति क्रममुक्तिके अभिप्रायसे है। इससे उत्तर मार्गसे प्राप्य कार्यब्रह्म ही है॥ ५॥

षष्ठ अधिकरणकी रचना करते हैं—

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नयति वा न वा ।
अविशेषश्रुतेरेतान्ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥ ११ ॥
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् ।
न तान्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥ १२ ॥

"स एतान् ब्रह्म गमयति" इति श्रूयमाणोऽमानवः पुरुषो ब्रह्मोपासकवत्प्रतीकोपासकानपि सत्यलोकं प्रापयति । अविशेषश्रवणात् ।

इति प्राप्ते ब्रूम —"तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतौ ब्रह्मभावनारूपः क्रतुर्ब्रह्मप्राप्तिहेतुरित्यवगम्यते । न हि प्रतीकोपासकानां ब्रह्मक्रतुरस्ति, येन ते सत्यलोकं गच्छेयुः । किंच यथाप्रतीकमर्वाचीनानि फलानि तेषु श्रूयन्ते—"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" । नामब्रह्मोपासितुः शब्दशास्त्रादिलक्षणे नामविशेषे स्वातन्त्र्यं भवति' इत्यर्थः । कथं तर्हि पञ्चाग्निविदां प्रतीकोपासकानां सत्यलोकप्राप्तिः । वचनबलादिति ब्रूमः । तस्मात्प्रायशो न प्रतीकोपासकान्सत्यलोकं प्रापयति ॥ ६ ॥

सन्देह—अमानव पुरुष प्रतीकके उपासकोंको ब्रह्मलोकमें ले जाता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें विशेषका कथन न होनेसे ब्रह्मोपासकके समान प्रतीकोपासकको भी अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें ले जाता है ।

सिद्धान्त—ब्रह्मक्रतुका अभाव होनेसे और प्रतीक योग्य फलकी श्रुति होनेसे प्रतीकोपासकोंको अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें नहीं ले जाता, परन्तु पंचाग्निके उपासकोंको तो ले जाता है, क्योंकि उसकी श्रुति है ।

'स एतान्ब्रह्म गमयति०' इसमें श्रूयमाण अमानव पुरुष ब्रह्मोपासकोंके समान प्रतीकोपासकोंको भी सत्यलोकको प्राप्त कराता है, क्योंकि विशेष श्रुति नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तं यथा०' (उस परमात्माकी जिस-जिस प्रकारसे उपासना करता है वही होता है) इस श्रुतिमें ब्रह्मभावनारूप क्रतु ब्रह्मप्राप्तिका हेतु है, ऐसा अवगत होता है । प्रतीकोपासकोंमें ब्रह्मक्रतु नहीं है जिससे वे सत्यलोकको प्राप्त करें) किञ्च प्रतीकके अनुसार अर्वाचीन फल उनमें सुने जाते हैं—'यावन्नाम्नो०' (जहाँतक नामकी गति होती है वहाँ तक नाम ब्रह्म उपासककी यथेच्छगति हो जाती है) 'नाम ब्रह्म उपासक शब्दशास्त्र आदिरूप नाम विशेषमें स्वतन्त्र होता है' यह अर्थ है । तो फिर पञ्चाग्निवित् प्रतीकोपासकोंको सत्यलोककी प्राप्ति कैसे होती है ? वचन-बल-श्रुतिबलसे, ऐसा हम कहते हैं । इससे अमानवपुरुष प्रतीकोपासकोंको सत्यलोकको प्राप्त नहीं कराता है ॥ ६ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासकिन्यायमालायां
चतुर्थाध्यायस्य तृतीय पादः ॥ ३ ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	६	१८५
सूत्राणि	१६	५३४

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः

(अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्)

[इस पादमें ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मलोककी स्थितिका निरूपण है]

(प्रथमे मुक्तेर्नवीनत्वनिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

संपद्याऽऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥ मुक्तः प्रतिज्ञानात्
॥ २ ॥ आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणमारचयति—

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् ।
आभिनिष्पत्तिवचनात्फलत्वादपि नूतनम् ॥ १ ॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् ।
आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥ २ ॥

इति श्री भारतीतीर्थमुनि प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके चतुर्थाध्यायके तृतीय पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्यायके चतुर्थपादके प्रथम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—मुक्तिका स्वरूप स्वर्गके समान नूतन है अथवा पुरातन ?

पूर्वपक्ष—मुक्तिका स्वरूप नूतन है, क्योंकि 'अभिनिष्पत्ति' वचन है और मुक्तिमें फलत्व भी है।

सिद्धान्ती—'स्वेन रूपेण' इस श्रुति वाक्यमें 'स्व' शब्दके होनेसे मुक्ति-स्वरूप पुरातन ही ज्ञात होता है। अभिनिष्पत्तिका आविर्भाव अर्थ है। और अज्ञानके नाशसे फल व्यवहार भी मुक्तिमें है।

"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१०।३) इति श्रूयते। अस्यायमर्थः—'सम्यक्प्रसीदत्युपाध्युपशान्तौ' इति संप्रसादो जीवः। स च शरीरत्रयाभिमानं परित्यज्य परं ब्रह्म प्राप्य मुक्तिरूपेणावतिष्ठत इति। तत्रैतन्मुक्तिरूपं न जीवस्य पूर्वसिद्धम्, किंतु स्वर्गवदागन्तुकम्। कुतः। 'अभिनिष्पद्य' इत्युत्पादत्वश्रवणात्। पूर्वसिद्धत्वे संसारदशायामपि सद्भावेन फलत्वं न स्यात्। तस्मात्स्वर्गवदिदं नूतनं मुक्तिरूपम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति स्वशब्देन विशेषितत्वात्पूर्वमपि विद्यत एवेदं मुक्तिरूपम्। न चात्र स्वशब्दः स्वकीयमभिधत्ते विशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। यद्रूपं मुक्तावुपादत्ते तत्तत्स्वकीयमेवेति कस्य व्यावृत्तये विशेष्येत। आत्मवाचित्वे तु स्वशब्दस्य स्वकीयत्वव्यावृत्तिः प्रयोजनम्। न चाभिनिष्पत्तिरुत्पत्तिः, पूर्वसिद्धस्योत्पत्तेरसंभवात्। किं तर्हि, तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मत्वाविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः। न चैवं सति 'उपसंपद्य, अभिनिष्पद्यते' इत्यनयोः पुनरुक्तिरिति शङ्कनीयम्। उपसंपत्तिशब्देन तत्पदार्थशोधनस्य विवक्षितत्वात्।

'एष संप्रसादो०' (यह संप्रसाद-जीव इस शरीरसे समुत्थानकर-देहात्मभाव त्यागकर ज्योति-स्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार कर स्व-आत्मरूपसे आविर्भूत होता है) ऐसी श्रुति है। इसका यह अर्थ है—'उपाधिके शान्त होनेपर जो भली-भांति प्रसन्न होता है,' वह संप्रसाद जीव है। वह तीनों शरीरोंके अभिमानका परित्यागकर मुक्तिरूपसे अवस्थित रहता है। यहाँ मुक्तिरूप जीवका पूर्व सिद्ध नहीं है किन्तु स्वर्गके समान आगन्तुक है। क्योंकि 'अभिनिष्पद्यते' इस प्रकार उत्पाद्य श्रवण होता है। यदि पूर्वसिद्ध हो तो संसारदशामें भी उसकी सत्ता होनेसे फलत्व नहीं होगा, इसस स्वर्गके समान मुक्तिस्वरूप नूतन है।

सिद्धान्ती—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'० (अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है) इसमें स्वशब्दसे विशेषित होनेसे पूर्व भी यह मुक्तिरूप ही है यहाँ स्वशब्द स्वकीय वस्तुका अभिधान नहीं करता, क्योंकि ऐसा माना जाय तो विशेषण-व्यर्थ प्रसङ्ग होगा। जिस जिस रूपका मुक्तिमें ग्रहण किया जाता है, वह वह स्वकीय ही है तो किसकी व्यावृत्तिके लिए यह विशेषित है। स्वशब्द आत्मवाची हो तो स्वकीयत्वकी व्यावृत्ति प्रयोजन है। और अभिनिष्पत्ति शब्दसे उत्पत्ति विवक्षित नहीं है, क्योंकि पूर्व सिद्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु तत्त्वज्ञानसे ब्रह्मत्वका आविर्भाव ही अभिनिष्पत्ति है। परन्तु ऐसा होनेपर 'उपसंपद्य' 'अभिनिष्पद्यते' इन दोनों शब्दोंकी पुनरुक्तिकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'उपसंपत्ति' शब्दसे 'तत्' पदार्थका शोधन विवक्षित है और

अभिनिष्पत्तिस्तु वाक्यार्थावबोधः। न च पूर्वसिद्धत्वे मुक्तिरूपस्य फलत्वविरोधः। निवृत्ताज्ञानत्वाकारेण पूर्वसिद्धत्वाभावात्। तस्मात्पुरातनं वस्त्वेव मुक्तिरूपम् ॥ १ ॥

(द्वितीये मुक्तेर्ब्रह्माभिन्नत्वानिराकरणाधिकरणे सूत्रम्)

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

मुक्तरूपाद्ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वा, विभिद्यते ।
संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ॥ ३ ॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति ।
ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपचारत. ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे निर्णीतं यदेतन्मुक्तस्वरूपं, तत्परस्माद्ब्रह्मणो भिन्नं भवितुमर्हति। कुतः। कर्मकर्तृभेदव्यपदेशात्। 'एष संप्रसादः परं ज्योतिरुपसंपद्य' इत्यत्र संप्रसादशब्दोदितो जीव उपसंपत्तौ कर्तृत्वेन व्यपदिश्यते। ज्योतिःशब्दवाच्यं च ब्रह्म कर्मत्वेन। तस्मान्मुक्तस्य जीवस्य स्वरूपं ब्रह्मणो भिन्नम्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'ज्योतिरुपसंपद्य' इति वाक्यं तत्पदार्थशुद्धिविषयमुक्तम्।

अभिनिष्पत्ति तो वाक्यार्थका अवबोध है। मुक्तिरूपके पूर्व सिद्ध होनेपर भी फलत्वका विरोध नहीं है, क्योंकि निवृत्त अज्ञानत्व रूप आकारके होनेसे पूर्व सिद्धत्व नहीं है अर्थात् अज्ञानसे पूर्वसिद्ध प्रतीत नहीं होता, इससे मुक्तिरूप पुरातन वस्तु ही है ॥ १ ॥

द्वितीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्म मुक्तके स्वरूपसे भिन्न है,अथवा अभिन्न ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म मुक्तके स्वरूपसे भिन्न है, क्योंकि 'सम्पद्य ज्योतिः' इस प्रकार कर्म-कर्तृके भेदसे कथन है।

सिद्धान्त—अभिनिष्पन्न रूपवालेका 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्यसे ब्रह्मभाव कहा गया है, इसलिए मुक्तके स्वरूपसे ब्रह्म अभिन्न है और वह भेदोक्ति तो उपचारसे है।

पूर्व अधिकरणमें जो यह मुक्ति स्वरूप निर्णीत किया गया है, वह परब्रह्मसे भिन्न होना चाहिए, किससे ? इसमें कि कर्म-कर्तृ भेदका व्यपदेश है। जैसेकि 'एष संप्रसादः परं ज्योतिरुपसंप' (यह संप्रसाद-जीव परं ज्योतिः स्वरूपको प्राप्तकर) यहाँपर संप्रसाद शब्दसे उक्त जीव ब्रह्म प्राप्तिमें कर्तृरूपसे व्यपदिष्ट है और ज्योतिः शब्द वाच्य ब्रह्म कर्मरूपसे व्यपदिष्ट है, इससे मुक्त जीवका स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'ज्योतिरुपसंप' यह.

अतस्तदानी भेदोऽस्तु नाम। तत उपरि "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वाक्यं वाक्यार्थदशापन्नं मुक्तिस्वरूपं प्रतिपादयति। न च तस्य ब्रह्मणा भेदोऽस्ति। 'स उत्तमः पुरुष.' इति वाक्ये तच्छब्देनाभिनिष्पन्नमुक्तस्वरूप परामृश्य तस्योत्तमपुरुषशब्दवाच्यब्रह्मस्वरूपत्वाभिधानात्। तस्मान्मुक्तस्वरूपं ब्रह्माभिन्नम् ॥२॥

(तृतीये सविशेषत्वादिव्यवस्थानिराकरणाधिकरणे सूत्राणि)

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्य ॥ ५ ॥ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वदित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषते।
विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥ ५ ॥
मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्व्यवस्यासंभवे सति।
अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥ ६ ॥

मुक्तस्य स्वरूपभूतं ब्रह्म श्रुतिषु द्विधा प्रतिपाद्यते-क्वचित्सविशेषम्। क्वचिन्निर्विशेषम्। तथा हि—"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको

वाक्य तत्पदार्थके शुद्धि-विषयक कहा गया है, अतः उस अवस्थामे भेद भले ही हो। परन्तु उसके ऊपर 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' यह वाक्य वाक्यार्थ दशापन्न मुक्ति स्वरूपका प्रतिपादन करता है। उसका ब्रह्मसे भेद नहीं है, क्योकि 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्यमे 'तत्' शब्दसे अभिनिष्पन्नरूप मुक्तस्वरूपका परामर्शकर उसका उत्तम शब्द वाच्य ब्रह्म स्वरूपत्वसे अभिधान किया गया है। इससे मुक्तका स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न है ॥ २ ॥

तृतीय अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—सविशेष-सगुण और निर्विशेष—निर्गुण ब्रह्म दोनो एक कालमे ही मुक्त पुरुषको प्राप्त होते हैं अथवा क्रम से ?

पूर्वपक्ष—सविशेषत्व और निर्विशेषत्वका विरोध होनेसे श्रुत्युक्त उन सविशेषत्व और निर्विशेषत्वकी कालभेदसे व्यवस्था होनी चाहिए अर्थात् क्रमसे प्राप्त होते हैं।

सिद्धान्त—एक कालमें ही ब्रह्ममें सगुण और निर्गुणरूप रहते हैं। अतः मुक्त और अमुक्तकी दृष्टिके भेदसे व्यवस्था हो सकती है, इसलिए यौगपद्य अविरुद्ध है क्रम कल्पना भी श्रुति सम्मत है।

मुक्तका स्वरूप भूत ब्रह्म श्रुतियोंमें दो प्रकारसे प्रतिपादित है—कहींपर सविशेष-सगुण और कहींपर निर्विशेष निर्गुण। जैसे कि 'य आत्माऽपहतपाप्मा'० (जो आत्मा

विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः'' (छा० ८।७।१) इति सविशेषत्व-श्रुतिः। ''स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव। एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'' (बृह० ४।५।१३) इति निर्विशेषत्वश्रुतिः। ते एते सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे मुक्तिदशायां ब्रह्मणो न युगपत्संभवतः। परस्परविरुद्धत्वात्। अतः कालभेदेनोभे व्यवस्थापनीये।

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रतिपत्तृभेदाद्युगपदेव सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे उपपद्येते। मुक्तप्रतिपत्त्या निर्विशेषत्वमेव। बद्धप्रतिपत्त्या तु सविशेषं मुक्तस्वरूपं ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं सज्जगत्कारणत्वेनावभासते। न हि मुक्ताः पुरुषाः कदाचिदपि 'सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादिगुणयुक्ता वयम्' इति प्रतिपद्यन्ते। तत्प्रतिपत्तिहेतुभूताया अविद्याया विनाशितत्वात्। बद्धस्वरूपास्त्वविद्यायुक्ताः सन्तो निर्विशेषमेव ब्रह्म 'सर्वज्ञत्वादिविशिष्टम्' इति कल्पयन्ति। अतः प्रतिपत्तृभेदाद्व्यवस्थासिद्धौ किमनेन कालभेदकल्पनेन। तस्मात्—युगपदेव सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे ॥ ३ ॥

(चतुर्थे परलोकगोपासकस्य भोग्यवस्तुसृष्टौ संकल्पहेतुताधिकरणे सूत्रे)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥ अत एव चानन्याधिपतिः ॥९॥

पापरहित, जरारहित, मरणरहित, शोकरहित, बुभुक्षा शून्य, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है)। यह सविशेष श्रुति है 'स यथा'० (सैन्धवघन-नमकका डला अन्तर रहित, बाहर रहित सम्पूर्ण रसघन ही है। एवं 'अरेऽयमात्मा०' (हे मैत्रेयी ! यह आत्मा अन्तर बाह्य रहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) यह निर्विशेषत्व प्रतिपादक श्रुति है। ये सविशेषत्व और निर्विशेषत्व मुक्तिदशामें युगपद् ब्रह्ममें नहीं हो सकते हैं, क्योंकि परस्पर विरुद्ध हैं। अतः कालभेदसे-क्रमसे उन दोनोंकी व्यवस्था करनी चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रतिपत्ता-प्रमाता-ज्ञाताके भेदसे युगपद् ही सविशेषत्व और निर्विशेषत्व उपपन्न होते हैं। मुक्तको प्रतिपत्तिसे निर्विशेषत्व और बद्धको प्रतिपत्तिसे सविशेष मुक्त-स्वरूप ब्रह्म सर्वज्ञत्व गुण विशिष्ट जगत्कारणरूपसे प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष किसी अवस्थामें भी 'सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पत्वादि गुणयुक्त हम हैं, ऐसा नहीं जानते। क्योंकि उस प्रतिपत्तिके हेतुभूत अविद्याका विनाश हो गया है। बद्ध-स्वरूप तो अविद्यासे युक्त होते हुए निर्विशेष ब्रह्म ही 'सर्वज्ञत्व आदि गुण विशिष्ट हैं' ऐसी कल्पना करते हैं। अतः प्रतिपत्ताके भेदसे व्यवस्था सिद्ध होनेपर इस काल भेदकी कल्पनासे क्या प्रयोजन है। इसलिए युगपद् ही सविशेषत्व और निर्विशेषत्वको उपपत्ति है ॥ ३ ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा।
आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥ ७ ॥
संकल्पादेव पितर इति श्रुत्याऽवधारणात्।
संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यं चानुचिन्तनात् ॥ ८ ॥

पूर्वाधिकरणत्रयेण विदेहमुक्तौ विचारितायां ब्रह्मलोकलक्षणायां मुक्ते रवशिष्टत्वात्तद्विचार आ पादसमाप्तेः प्रवर्तते। तत्रार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोग्यवस्तूनां सृष्टौ बाह्यहेतुरपेक्षितः। न तु मानससंकल्पमात्रं तद्धेतुः। तथात्वे सत्याशामोदकसमत्वेन पुष्कलभोगाभावप्रसङ्गात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—'स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिना पितृमातृभ्रातृगन्धमाल्यादिभोग्यसृष्टौ संकल्पस्य साधनत्वमभिधायैवकारेण बाह्यहेतुं निराचष्टे। न च संकल्पकार्याणामाशामोदकसमानत्वं शङ्कनीयम्। उपार्जितमोदकसमानत्वस्यापि संकल्प-

---

चतुर्थ अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मलोककी भोग्य सृष्टिमें बाह्य वस्तु हेतु है अथवा केवल संकल्प ही हेतु है ?

पूर्वपक्ष—उक्त सृष्टिमें बाह्य वस्तु हेतु है, क्योंकि लोकमें भोग्य पदार्थकी उत्पत्तिमें बाह्य वस्तु हेतु देखनेमें आती है। यदि केवल संकल्प ही कारण माना जाय तो आशामोदकका साम्य प्राप्त होगा।

सिद्धान्त—'संकल्पादेव पितरः' इत्यादि श्रुतिसे अवधारण होनेसे प्रतीत होता है कि केवल संकल्प ही हेतु है, आशामोदककी विषमता तो अनुचिन्तनसे ही हो सकती है।

पूर्व तीन अधिकरणोंसे विदेहमुक्तिका विचार किया गया है, अब ब्रह्मलोकरूप मुक्ति अवशिष्ट होनेसे पादसमाप्ति पर्यन्त उसका विचार किया जाता है। यहाँपर अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त उपासकको भोग्य वस्तुओंकी सृष्टिमें बाह्य वस्तु अपेक्षित है, मानस संकल्पमात्र उसका हेतु नहीं है। यदि मानस संकल्पमात्र हेतु माना जाय तो आशामोदक साम्यसे पुष्कल भोगका अभाव प्रसङ्ग होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'स यदि पितृलोककामो०' (वह उपासक यदि पितृलोककी इच्छावाला होता है तो उसके संकल्पमात्रसे ही पितर उपस्थित होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे पिता, माता, भ्राता गन्धमाल्यादि भोग्य सृष्टिमें संकल्पको साधन कहकर एवकारसे ही बाह्य हेतुका निराकरण किया जाता है। संकल्प

यितुं शक्यत्वात्। संकल्पशक्तेरुपासनाप्रसादेन निरंकुशत्वात्। तस्मात्संकल्प एव भोग्यसृष्टौ हेतुः ॥ ४ ॥

(पञ्चमे देहभावाभावयोरैच्छिकताधिकरणे सूत्राणि)

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ तन्वभावे संध्यवदुपपत्ते ॥ १३ ॥ भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

पञ्चमाधिकरणमारचति—

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तनोर्यतः।
विरुद्धौ तेन पुंभेदादुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ॥ ९ ॥
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः।
अविरोधात्स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ॥ १० ॥

'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१२।५,६) इति मानसं भोगमुपपादयन्ती श्रुतिर्बाह्यदेहस्य सेन्द्रियस्याभावमाह। 'स एकधा भवति

कामोमें आशामोदकके साम्यकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपार्जित मोदकोंकी समानताकी भी कल्पना की जा सकती है, कारण कि उपासनाके प्रसादसे संकल्प शक्ति निरंकुश होती है। इससे केवल संकल्प ही भोग्यवस्तुकी सृष्टिमें हेतु है ॥ ४ ॥

पंचम अधिकरणकी रचना करते हैं—

सन्देह—ब्रह्मलोकमें शरीरके भाव और अभाव श्रुति प्रतिपादित हैं, उनकी पुरुष भेदसे व्यवस्था है अथवा ऐच्छिक है अर्थात् पुरुषकी इच्छासे शरीरका सत्त्व और असत्त्व हैं?

पूर्वपक्ष—एक पुरुषमें शरीरका सद्भाव और असद्भाव विरुद्ध हैं, अतः पुरुष भेदसे दोनोंकी व्यवस्था होनी चाहिए।

सिद्धान्त—एक पुरुषमें भी समय भेदसे दोनों ऐच्छिक हो सकते हैं। स्वप्न और जाग्रत्के भोगके समान विरोध न होनेसे दोनों प्रकारकी व्यवस्था युक्त है।

'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते०' (यह पुरुष ब्रह्मलोकमें मनसे ही भोगोंको देखता हुआ रमण करता है) 'य एते ब्रह्मलोके' (ये जो ब्रह्मलोकमें संकल्पमय भोग हैं) इस प्रकार मानस भोगका उपपादन करती हुई श्रुति इन्द्रिय सहित बाह्य देहका अभाव कहती है। 'स एकधा भवति०' (वह सृष्टिके पूर्व एक रूप होता है और सृष्टिकालमें अनेक

सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम्।
स्वाराज्यमीशो भोगाय ददौ मुक्तिं च विद्यया ॥ १४ ॥

ब्रह्मलोकं प्राप्तानामुपासकानां यथा भोगयोग्यदेहेन्द्रियस्रष्टृत्वमस्ति, तथा वियदादिजगत्स्रष्टृत्वमस्ति। 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इति श्रुत्या निरवग्रहैश्वर्यावगमात्।

इति प्राप्ते ब्रूमः—वियदादिजगत्सृष्टिप्रतिपादकेषु प्रकरणेषु सर्वत्र परमात्मैव स्रष्टृत्वेनावगम्यते। न क्वापि योगिनस्तथाऽवगम्यन्ते। अतो न तेषां जगत्स्रष्टृत्वम्। अन्यथाऽनेकेश्वरत्वे सति कश्चित्सिसृक्षति, कश्चित्संजिहीर्षतीति जगद्व्यवस्था न सिध्येत्। कथं तर्हि स्वाराज्यश्रुतिः। ईश्वराधीनस्वाराज्याभिप्रायेण' इति ब्रूमः। ईश्वरो ह्युपासनया तोषितस्तेषां भोगमात्रसिद्धये स्वाराज्यं ददौ। मुक्तिं च तत्त्वविद्योत्पादनेन दत्तवान्। तस्माज्जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभावेऽपि भोगमोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यमस्ति ॥ ७ ॥

पूर्वपक्ष—वे जगत्‌के स्रष्टा हैं, क्योंकि 'स्वाराज्यमाप्नोति' इस श्रुतिसे योगियोंमें निरवधिक-अवधि रहित ऐश्वर्य प्रतीत होता है।

सिद्धान्त—सृष्टिके प्रकरणमें अपठित होनेसे योगी जगत्‌के स्रष्टा नहीं है। परमात्माने योगियोंको भोगके लिए स्वाराज्य और विद्यासे मुक्ति दी है, अतः योगी जगत्‌के स्रष्टा नहीं हैं।

ब्रह्मलोक प्राप्त उपासक जैसे भोगके योग्य देहेन्द्रियके स्रष्टा हैं, वैसे आकाश आदि जगत्‌के स्रष्टा भी हैं, क्योंकि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इस श्रुतिसे उनका निरङ्कुश ऐश्वर्य अवगत होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आकाश आदि जगत्‌की सृष्टि प्रतिपादक प्रकरणोंमें सर्वत्र परमात्मा ही स्रष्टारूपसे अवगत होता है, वैसे कहीं-पर भी योगी स्रष्टारूपसे अवगत नहीं होते। अतः वे जगत्‌के स्रष्टा नहीं हैं, अन्यथा अनेक ईश्वर होनेसे कोई सृष्टि रचनाकी इच्छा करेगा तो कोई उसके संहारकी इच्छा करेगा, इससे जगत्‌की व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी। तो पुनः स्वाराज्य प्रतिपादिका श्रुतिकी क्या गति होगी? ईश्वराधीन स्वाराज्यके अभिप्रायसे यह श्रुति है, ऐसा हम कहते हैं। ईश्वरने उपासनासे प्रसन्न होकर भोगमात्र सिद्धिके लिए उनको स्वाराज्य दिया और तत्त्वविद्याके उत्पादनसे मुक्ति दी। इससे योगियोंका यद्यपि जगत्‌की सृष्टिमें स्वातन्त्र्य नहीं है तो भी भोग और मोक्षमें उनको स्वातन्त्र्य है ही ॥ ७ ॥

इति श्रीभारतीतीर्थमुनिप्रणीतायां वैयासिकन्यायमालायां
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायमध्यायो ग्रन्थश्च ॥

	अत्र पादे	आदितः
अधिकरणानि	७	१९२
सूत्राणि	२२	५५६



जिज्ञासुजनतोषाय तथा विद्यावतां मुदे।
भारतीतीर्थरचनां सत्यानन्दः सरस्वती ॥ १ ॥
वैयासिकन्यायमालां व्याकरोद्राष्ट्रभाषया।
अनया व्याख्यया भगवान्विश्वनाथः प्रसीदतु ॥ २ ॥
अङ्काग्निशून्यनेत्राब्दे वैक्रमे मासि फाल्गुने।
शिवरात्रिदिने भव्ये सम्पूर्णोऽऽविमुक्तके ॥ ३ ॥

श्री भारतीतीर्थमुनि-प्रणीत वैयासिकन्यायमालाके चतुर्थाध्यायके चतुर्थ-पादका 'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' कृत भाषानुवाद समाप्त ॥४॥

चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

(समाप्तश्चायं ग्रन्थः)

